इस प्रबन्ध में जो नवीन दृष्टि प्रस्तुत की गयी है, उसकी प्रेरणा मुझे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी से प्राप्त हुई है। उनके निर्देशन का आश्रय पाकर ही यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका है। यह विषय भी उन्हीं का दिया हुआ है, और मेरी समस्त शंकाओं और कठिनाइयों का निराकरण भी उन्हीं के सूक्ष्म समाधान से हुआ है। जब कभी कोई कठिनाई आई है, उसको आचार्य जी ने बड़े स्नेह और प्रोत्साहन देते हुए दूर किया है। अतः उनके प्रति पुनः आभारज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

मैं अपने प्रारम्भिक गुरु प० शिवानन्द तिवारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना इसलिए आवश्यक समझता हू कि उनसे आरम्भ काल से आज तक निरन्तर स्नेह और प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा है। अन्य बन्धुओं में डा० राममूर्ति त्रिपाठी और डा० शिवकुमार मिश्र, जिनका सद्भाव और सहयोग भी इस प्रबन्ध से सम्बद्ध है, के प्रति अपना हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हू। मैं आदित्य विक्रम बिड़ला को, जो बार-बार यह जिज्ञासा व्यक्त कर कि आप अपना प्रबन्ध कब प्रस्तुत कर रहे हैं, शीघ्रता की प्रेरणा देते रहे, धन्यवाद देना उचित मानता हू। इस प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जिन स्वजनों से मुझे सहयोग मिला है, उनका भी मैं अपने को ऋणी समझता हू।

—रामसेवक पाण्डेय,

विषय-क्रम

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम् अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम् अध्याय

१ पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-परम्परा

पश्चिमी नाट्य-विकास में स्वच्छन्दतावादी नाटक का विशेष स्वरूप

पाश्चात्य नाट्य-परम्परा का उद्भव और विकास सर्व प्रथम यूनान से आरम्भ होता है, जिसका सम्बन्ध वहाँ के राष्ट्रीय जीवन की भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं से है। वसन्त के आगमन पर जब प्रकृति में नवजीवन का संचार होता था, ऐसे ही अवसर पर यूनान निवासी उल्लास पूर्वक तन्मयता के साथ इस दैवी शक्ति के प्रतीक 'डायोनिसस' को सन्तुष्ट करने के लिए समूह गायन, नृत्य तथा थोड़ा अनुकरण करते थे। 'एस्किलस और उनके उत्तराधिकारियों के दुखान्त नाटक 'डिथिरैम्ब' से जो एक समूह गायन था, उत्पन्न हुए।"[1] सर्व प्रथम एक प्रमुख गायक उस समूह के समीप आकर देवता की प्रशंसा के गीत गाता तथा नृत्य द्वारा अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता था। "पहले यह उत्सव प्रमुखतः वर्णन-प्रधान होता था जिससे देवता से सम्बद्ध कोई परम्परागत कथा कही जाती थी।"[2] उत्सव समारोह का Chorus (समूह गायन) ही परिवर्तित और विकसित होकर नाटक का रूप धारण करता है। "ईसा से छठी शताब्दी पूर्व समूह गायन के प्रमुख को छोड़कर एक अन्य पात्र के समावेश द्वारा उसमें निश्चयात्मक स्थिति लाने का श्रेय थेस्पिस को है।"[3]

1. Allardyce Nicoll World Drama, Page 26
2. Ibid, page 26
3. Then came the truly decisive step, traditionally attributed to Thespis (Sixth Century B C) when an actor (as distinct from Choral leader) was introduced World Drama By Nicoll, page 26

इस प्रकार किंचित परिवर्तित रूप को सुव्यवस्थित करने के लिये यूनानी नाट्य साहित्य को एस्चिलस सोफोक्लीज तथा इरोपीडीज के सशक्त व्यक्तित्व प्राप्त होते है। एस्चिलस ने एक और पात्र का समावेश किया। उसके नाटक 'The suppliants को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने दूसरे पात्र का कुछ भी उपयोग नही किया है। ऐसे नाटक मे कार्य की सम्भावना कम ही रहती है।[1] अरस्तू के काव्य शास्त्र के अनुसार महाकाव्य की अपेक्षा दुखान्त नाटको का प्रभाव अधिक तीव्र होता है क्योकि महाकाव्य म कथा का विस्तार होता है और दुखान्त नाटकों मे कथानक अधिक सग्रथित होकर प्रभाव को तीव्रता लाने मे समर्थ होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि उसने नाट्य में काव्यात्मक तत्व का होना अनिवार्य माना है। रिचमान्ड लैटीमोरने (Richmond Lattimore) ने इसे सगीतात्मक दुखान्त (Lyric Tragedy) स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ कि सभी आलोचक एस्चिलस के नाटको मे महाकाव्यत्व को स्वीकार करेंगे।[2]

सोफोक्लीज (४९५ ४०६ बी० सी०) मे एस्चिलस की अपेक्षा अधिक सरसता तथा कलात्मकता थी पर उसमे वह (Rugged grandeur) नीरस गरिमा और गाम्भीर्य नही था[3]। वह नाटक को पहले की अपेक्षा मानव जीवन तथा उसकी इच्छाशक्ति के अधिक समीप लाना चाहता था। यह उसकी प्रतिभा की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। एस्चिलस के नाटको मे बाहरी शक्ति मानव जीवन का सचालन करती थी पर सोफोक्लीज ने मानव शक्ति से उस बाह्य शक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया वह मानव की इच्छा प्रवृत्ति और भावना का अग बनकर आयी।[4] सोफोक्लीज ने अपने नाटक का विषय कभी पौराणिक नही रखा तथा उसके किसी नाटक का पात्र ईश्वर नही है।[5] उसने अपने नाटक का विषय ससार की रगभूमि से चुना। जिस प्रकार मनुष्य दैनिक जीवन म प्रताडित होता है उसका उसी रूप म चित्रण किया है। एस्चिलस के समान उसमे धार्मिक दृष्टिकोण तथा दैवी शक्ति का प्राधान्य न रहकर मानवीय जीवन की प्रमुखता है। अरस्तू के अनुसार एडिपस (Aedipus) मे कथानक पूर्ण तथा बहुत ही सुगठित है। शिल्प की दृष्टि से भी इसने यूनानी दुखान्त नाटको को विकसित किया तथा उन्हे कलात्मकता प्रदान की।[6] उसने एक और तृतीय पात्र का समावेश किया तथा

1 The spirit of tragedy By Herbert J Mullu page 64
2 The Sp rit of Tragedy page 67
3 Nicoll The Theory of Drama page 11
4 Vaughan Types of Tragic Drama page 41
5 Ibid page 42
6 Eleanor F Jomdain The Drama in Europe in Theory and in Practice page 5

कोरस की संख्या १२ बारह से पन्द्रह किया और दृश्यो के प्रभावपूर्ण प्रदर्शन की व्यवस्था की।' एस्चिलस ने भी पृष्ठभूमि का उपयोग किया था, परन्तु दृश्यों का प्रभावोत्पादक प्रदर्शन सोफोक्लीज ने ही पहले पहल किया। पात्रों की सख्या पहले दो थी, इसने उसे तीन करके संवादो में विविधता तथा मनोरंजकता का योग किया।

कथानक मे सोफोक्लीज ने पूर्व नाटककारों की अपेक्षा नवीनता का समावेश किया। 'एस्चिलस के कुछ नाटको मे कथानक बहुत कम अथवा नही के बराबर है, इसके विपरीत सोफोक्लीज ने सश्लिष्ट कथानक (Complexity) को स्थान दिया[1]।' एस्चिलस को अपने पूर्ववर्ती नाटककारो की भांति कवि, निर्देशक तथा सबकी व्यवस्था करनी पड़ती थी। सोफोक्लीज के समय कार्यो का विभाजन हो चुका था, कवि, अभिनेता तथा गायक सब अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी थे। 'अब तक नाटक तीन खण्डो मे प्रदर्शित होते थे, प्रत्येक भाग एक दूसरे पर आश्रित रहना था। इसने इस प्रणाली के स्थान पर विभिन्न, किन्तु अपने में पूर्ण नाटको को स्थान दिया, जिनके आदि, मध्य और अन्त सब भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र होते थे।'[2]

यूनानी नाटकों के विकास क्रम मे यूरोपिडिज (४८०–४०६ बी० सी०) ने क्रान्तिकारी योग दिया। इनका विश्वास था कि कला का सतत् विकास होता है, उसमें कालक्रम से परिवर्तन आते हैं। 'परिस्थितियो के अनुकूल अन्य वस्तुओ के समान कला मे भी परिवर्तन आवश्यक है।'[3] उनका विचार था कि यदि यूनानी दुखान्त नाटको की जीवन-शक्ति को जीवित रखना है तथा उसकी जीवित-मृत्यु से रक्षा करनी है तो नाटको के रूप-विधान तथा उसकी आत्मा मे परिवर्तन एक आवश्यकता है क्योकि प्राचीन रूढियो को जीवित रखने की चेष्टा करने पर भी एक दिन उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

'यह सर्वसम्मत धारणा है कि यूरोपिडिज आधुनिकतम कवि थे। वास्तविक जीवन से सम्बद्ध तथा धर्म-निरपेक्ष नाटकों मे परम्परागत विषयों को उन्होंने जन-साधारण की दैनिक-भाषा मे प्रस्तुत किया।'[4]

आस्तिक होते हुए भी उन्होंने 'अपोलो' जैसे देवो की आलोचना की जिनसे तत्कालीन राजनीति के विकृत होने की सम्भावना थी। यूरोपीडिज कवि थे। उनकी नाट्य-कृतियों मे स्थायी आकर्षण है जहां मानव की समस्याओ को इस

1. Vaughan : The Types of Tragic Drama; page 50
2. Nicoll : World Drama; page 52
3. Vaughan : Types or Tragic Drama; page 61
4. Herbert J. Muller : The Spirit of Tragedy; page 103

विशिष्टता से चित्रित किया गया है कि वे, रंग मंच पर प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत की जा सकें। 'शास्त्रीय नियमों के नियन्त्रण से वे असन्तुष्ट थे, जो एस्किलस और सोफोक्लीज की परम्परा से उन्हें प्राप्त थे। दृढ़तापूर्वक उन नियमों की सीमा को विस्तृत करने के लिए वे यथाशक्ति प्रयत्नशील थे।'[1] वे पहले कलाकार थे जिसने दास प्रथा का विरोध किया। सामाजिक, राजनैतिक तथा नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर एक मौलिक कलाकार की भांति उन्होंने विचार किया। जातीय रूढ़ियों और अन्धविश्वासियों की उपेक्षा की तथा पौराणिक गाथाओं का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया। यूनान के सभी नाटककारों में यूरोपीडिज का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

यूरोपीडिज की मृत्यु के बाद ग्रीक ट्रेजिडी का इतिहास प्रायः पांच सौ वर्षों तक अन्धकारमय रहा। 'रोम' के (Seneca) ने इस परम्परा को पुनर्जीवन प्रदान किया। यद्यपि यूरोपीडिज द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही इसने भी अनुसरण किया। 'यूरोपीडिज की भांति, बल्कि उससे भी अधिक परिष्कृत रूप में सेनेका की दृष्टि भावात्मक स्थितियों तथा हृदयग्राही अलंकरण पर (Picturesque adornment) अधिक केन्द्रित रहती थी।'[2]

यूरोपीडिज और सेनेका—दोनों में स्वच्छन्दतावादी तत्त्व उपलब्ध होते हैं तथा इन दोनों ने ही, एलिजाबेथ काल के रोमेन्टिक तथा नवक्लासकीय नाटककारों को, किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। अपने नाटकों में सेनेका से प्रेरणा प्राप्त कर इस युग के नाटककारों ने भूत-प्रेत का प्रयोग दुष्ट पात्रों से प्रतिशोध लेने के लिए किया है। 'सेनेका के नाटकों से यह प्रमाणित होता है कि उसने न तो प्राचीन रोमनों के लिए और न आधुनिक युग के ही अभिनय योग्य नाटक लिखे। वह ग्रीक और मध्य युग के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कड़ी का काम करता है, तथा अपने नाटकों में उसने ऐसे तत्त्वों का सन्निवेश किया है, जिनका प्रयोग शेक्सपियर ने भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अपने सांचे में ढालकर किया है।'[3]

अरस्तू के बाद काव्य शास्त्र के निर्माण में दूसरा प्रमुख व्यक्तित्व होरेस का है, जिन्होंने ईसा पूर्व ६५ में आर्स पोयटिका की रचना की। 'इनकी शैली अरस्तू से भिन्न है तथा वक्तव्य सैद्धान्तिक है, जिसमें कहीं कहीं वस्तु-योजना पर ध्यान नहीं दिया गया है। किस प्रकार की छन्द योजना नाटकों में होनी चाहिए, इसका भी निरूपण किया गया है। नाटक में पांच अंक ही होने चाहिए तथा मंच पर उसी दृश्य का प्रदर्शन होना चाहिए जिसकी आवश्यकता है। इन्होंने अरस्तू के

1. Vanghan Types of Tragic Drama, page 63
2. Ibid, page 88
3. Eleanor F. Jourdain The Drama in Europe in Theory and Practice, page 22.

सिद्धान्तों को ही दूसरे शब्दो मे प्रतिपादित किया है।'[1] 'रोम मे नाटको का विकास सम्भवत नियमो की कठोरता के कारण ही यूनान के समान न हो सका।'[2] 'सेनेका के केवल दस दुखान्त तथा प्लाटस (Plautus) और टेरेन्स (Terence) के कुछ सुखान्त नाटक उपलब्ध होते हैं।

नाटक के इन दोनो प्रकारो म ट्रेजेडी को ही उच्च कोटि की रचना स्वीकार किया गया है। 'दोनो म स्पष्ट अन्तर यह है कि एक का सम्बन्ध श्रेष्ठ पात्रो से है और दूसरे म निम्न श्रणी क पात्रो का चित्रण होता है।'[3] दान्ते के अनुसार सुखान्त विषम परिस्थितियो मे आरम्भ होकर सुख और आनन्द म समाप्त होता है जैसा कि टेरे स के नाटकों स विदित होता है।'[4] अरस्तू के अनुसार ट्रजिडी एक ऐसे काय की, जो गम्भीर स्वत पूर्ण और विशिष्ट महत्व का हो ऐसी कलात्मक अलकरणो स युक्त भाषा म अनुकृति है, जो नाटक के विभिन्न अशो मे लय, सामजस्य और गीत के माध्यम से क्रियाशीलता के द्वारा, आख्यान क द्वारा नही प्रस्तुत हो तथा जिसस भय और करुणा के द्वारा भावो का विवेचन हो।'[5] कामेडी के विषय म अरिस्टाटल की धारणा थी कि यह साहित्यिक निर्माण की निम्न कोटि है (As a lower species of literary criticism)। यूनान म इस कोटि के नाटको का विकास नहीं हुआ था, इसलिए उन्होने अपने काव्य शास्त्र म इस पर विस्तार के साथ विचार भी नहीं किया।

मध्य युग म प्राय एक सहस्र वर्षों की लम्बी अवधि म नाट्य-साहित्य के विकास की दृष्टि स विशेष महत्वपूण नहीं है।

'परिवर्तन के चिन्ह पन्द्रहवीं शताब्दी मे दिखाई देने लगे किन्तु उसका

1 Nicoll The Theory of Drama, page 14
2 Ibid, page 14
3 Ibid, page 15
4 Ibid, page 15
5 Tragedy then, is an imitation of an action that is serious, complete and of certain magnitude, in language emballished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in several parts of the play, in the form of action, not of narrative through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions By 'Language emballished' I mean language into which rhythm, harmony, and song enter By 'the several kinds in several parts' I mean that some parts are rendered through medium of Verse alone others again with the aid of song The Poetics of Aristotle Butcher's Translation, page 23

प्रभाव सोलहवी शती तथा सत्रहवी शती के मध्य तक इटली फ्रास तथा इग्लैंड प्रभृति देशो मे स्पष्ट रूप से प्रगट हुआ।[1] ड्राइडन ने अपने निबन्ध मे नवक्लासकीय नियमो पर बहुत गम्भीरतापूर्वक पाण्डित्य पूर्ण विवेचन किया है। उनके निबन्ध का सबसे रोचक अश वह है जिसमे फासीसी और अग्रेजी नाटको की तुलना द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि कठोर नियमो के बन्धन से नाटको का समुचित विकास नही होता [2] इसी प्रकरण मे डा० जानसन का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होने शास्त्रीय नियमो पर आस्था रखते हुए भी शेक्सपियर के नाटको का सम्पादन तथा उदारतापूर्वक उनका विवेचन किया है। जानसन की नवक्लासकीय प्रवृत्ति का ज्ञान हमे उनके दो नाटको सेजानस (Sejanus) और कटिलाइन (Catiline) से होता है।

जानसन के पथ प्रदर्शन पर दूसरे नाटककारो और आलोचको ने नाटक तथा आलोचनाए लिखी। सत्रहवी शताब्दी मे फ्रास मे (Moliere) मालियर (Racine) रेसिन तथा कारनेली प्रभृति साहित्यकारो ने नवक्लासकीय विचार श्रृखला को दृढ किया इग्लैंड मे राइमर (Rymer) (सन १६४१ १७१३) ने इन विचारो का दृढ़ता से समर्थन किया किन्तु ड्राइडन ने इन नवक्लासकीय विचारो पर अपना स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया। राइमर पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने लिखा है— यह कहना कि अरिस्टाटल ने ऐसा कहा है पर्याप्त नही है क्योकि अरिस्टटल के निष्कर्ष सोफोक्लीज और यूरोपीडिज की कृतियो पर आधारित हैं और यदि वे हम लोगो को देखे होते तो शायद वे अपना मत परिवर्तित कर देते।[3]

अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे भी फ्रासीसी दुखान्त नाटकों के अनुकरण पर एडिसन ने कटो की रचना की जिसे अपने समय मे अधिक ख्याति मिली। इस प्रकार अठारहवी शताब्दी तक प्राचीन शास्त्रीय परम्परा किसी न किसी रूप मे विभिन्न देशो मे तथा भिन्न परिस्थितियो में विकसित होती रही। साथ ही नवीन भावो और विचारो का भी प्रमुखत शेक्सपियर के नाटक के प्रदर्शन तथा उनकी ओर जन-साधारण की प्रवृत्ति तथा रुचि मे वृद्धि के कारण व्यापक रूप से प्रचार होने लगा था।

प्राचीन शास्त्रीय नाटककारो का ध्यान प्रमुखत नाटक के बाह्य रूप तथा रचना सघटन पर केन्द्रित रहता था। नियमो के कठोर बन्धन के कारण शास्त्रीय

---

१ सठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ यूरोपीय नाट्य शास्त्र का विकास —डा० द्विवेदी पृष्ठ १२८

२ वही। पृष्ठ १३१

3 Nicoll The Theory of Drama page 19

नाटको म मानव के भाव तथा सवेगो के प्रसार तथा उन्मुक्त स्फुरण के लिए पूरा अवसर नहीं मिलता था, जो मौलिक साहित्य निर्माण के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व है। इस रूढिबद्धता की प्रतिक्रिया यूनानी नाट्य-साहित्य मे प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप मे उपलब्ध होती है।

प्रकृति के अनुसार कोई भी कार्य या विचार अपन मे महत्वपूर्ण होते हुये भी दूसरे तत्वो से सर्वदा निरपेक्ष नही रह सकता। उसका दूसरे कार्यों या विचारो स सम्बद्ध रहना, चाहे यह सम्बन्ध किसी भी प्रकार का हो, अनिवार्य है। प्राचीन यूनानी नाटको मे (Classical) शास्त्रीय रूढिबद्धता की प्रतिक्रिया यूरोपीडिज से ही आरम्भ होती है। केवल कथा वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा विभिन्न चरित्रो के समावेश की ओर भी उसने ध्यान दिया। 'प्राचीन वातावरण का उन्मूलन कर नाट्य साहित्य को, मानव जीवन की यथार्थताओ, सवेगो, (अपने युग के यथार्थ जीवन के समीप नही) विविध घटनाओ को तथा सम्वादो, वर्णन, काव्यात्मक प्रभाव, लय, साज सज्जा तथा दृश्यो को जीवन के समीप लाना उसका उद्देश्य था।'[1] इससे मेरा त त्पर्य यह है कि शास्त्रीय नाटकों की नीरस नियम बद्धता के विपरीत विद्रोह का स्वर उठना ईसा पूर्व ५ वी शताब्दी मे ही प्रारम्भ हो गया था। यूरोपिडिज मे स्वच्छन्दतावादी तत्व पूर्ण रूप मे विद्यमान थे —

"Euripides was, in truth, a romantic to the very core"

कोई भी नवीन विचारधारा और जीवन दर्शन का प्रादुर्भाव सहसा किसी साहित्य मे कभी नही होता। उसके बीज इधर उधर बिखरे पडे रहते हैं। अनुकूल परिस्थिति पाकर उनका विकास होता है तथायुग विशेष उस विशिष्ट विचारधारा के नाम से अभिहित होता है। स्वच्छन्दतावादी जीवन दर्शन के तत्व पाश्चात्य नाट्य साहित्य मे इधर उधर पर्याप्त मात्रा मे बिखरे पडे हैं। 'सर्व प्रथम शास्त्रीयता के विरोधी यूरिपिडिज मे ये उपकरण मिलते हैं उसके बाद निश्चयात्मक रूप मे प्लेटो के सम्वादों म भी इस प्रकार के बीज उपलब्ध होते हैं[2]।' ये विशेषतायें होमर के महाकाव्य 'आडिसी' मे शौर्य और पराक्रम पूर्ण यात्राओ मे उपलब्ध होती हैं। इस विचार धारा का सम्बन्ध यूरोप के मध्यकाल के जन जीवन से है जब जन साधारण की भावना मे जागरुकता आ चुकी थी। नव जागरण काल यद्यपि शास्त्रीय परम्परा के उत्थान के लिए हुआ फिर भी यह साहित्य मे स्वच्छन्दतावाद के विकास मे सहायक सिद्ध हुआ सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे नाट्य साहित्य मे स्वच्छ दतावाद का चरम उत्कर्ष देखा जाता है। यह महारानी

1. Vaughan Types of Tragic Drama, page 64
2. Grierson The Background of English literature, page 272

एलिजाबेथ का शासन काल है जब अंग्रेज जाति में आत्म-विश्वास और देश-प्रेम की भावना जागृत होती है। इस काल मे यूरोप मे उन्मुक्त चिन्तन तथा अध्ययन के क्षेत्र मे प्रगति होती है। यूरोप मे पेस्टोरल काव्य का विकास भी प्राय इसी समय होता है। स्वच्छन्दतावाद का श्रेष्ठतम रूप शेक्सपियर के नाटको मे उपलब्ध होता है। काव्य म इसका व्यापक आन्दोलन उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यूरोप के इगलैंड, फ्रास और जर्मनी आदि देशो मे हुआ।

प्राचीन शास्त्रीय नाटको के, जिनका सम्बन्ध ग्रीक और रोम के धार्मिक आस्था और विश्वासो से है, ई० पूर्व ५ वीं शताब्दी से पाचवी शताब्दी तक, विकास की परम्परा चलती रही। इसके पश्चात् मध्यकाल का आरम्भ होता है—इसके प्रथम पाच सौ वर्षो मे साहित्य के क्षेत्र मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। दसवी शताब्दी के करीब पाश्चात्य साहित्य मे पुनः नाटको का उद्भव हुआ तथा देशीय जीवन और प्रथाओ को अभिव्यक्त करने के लिए शास्त्रीय नियमो के बन्धन से मुक्त नाटक लिखे जाते थे। इस देशी परम्परा का क्रमश. विकास हुआ। इसमे मिस्ट्री और मिरेकिल लिखे गये, जिनका आगे चलकर मोरेलिटी नाटको मे परिवर्तन हुआ।

नव जागरण काल का आरम्भ पन्द्रहवी शताब्दी मे हुआ— इसका प्रमुख केन्द्र इटली था। हस्तलिखित लिपियो की खोज हुई तथा उनका सम्पादन तथा विवेचन हुआ। मध्ययुग मे साहित्यिक विषयो का क्षेत्र धर्म और दर्शन तक ही सीमित था। नव जागरण के बाद ज्ञान और अध्ययन की सीमा का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। 'ग्रीस और रोम के साहित्य का अध्ययन होने लगा तथा प्राचीन कला मे लोगों की अभिरुचि बढी। सौन्दर्य भावना की तीव्रता के साथ ही साथ नवीन साहित्य और कला का निर्माण हुआ। नव जागरण का आन्दोलन यूरोपीय इतिहास मे विशेष महत्व रखता है—क्योकि आगे आने वाली क्रान्तियो का उत्स इसमे मिलता है[१]।'

यह आन्दोलन इगलैंड मे इटली के बाद ही पहुचता है। सन् १५५० ई० तक यहा देशी नाटक खेले जाते थे—मिरेकिल अभी भी कही-कही अभिनीत होते थे यद्यपि उनका प्रचार कम हो गया था। मोरेलिटी नाटको मे यथार्थ का मिश्रण होने लगा था यद्यपि आज भी उनका प्रमुख उद्देश्य नैतिक तथा धार्मिक शिक्षण का प्रचार ही था। देशीय तथा क्लासिकल दोनो के सयुक्त प्रभाव से नाट्य-साहित्य का निर्माण हो रहा था। 'यह सत्य है कि सेनेका का प्रभाव व्यापक रूप से शेक्सपियर के पूर्व स्वच्छन्दतावादी नाटकों पर तथा उस पर भी वैसे ही पडा है

---

१ डा० रामअवध द्विवेदी : 'अंग्रेजी भाषा और साहित्य', पृ० ६५

जिस प्रकार शास्त्रीय नाटको पर ।'[1] सेनेका का प्रभाव गारबुडक (Garboduc) पर भी परिलक्षित होता है जिसमे अतुकान्त छन्द (Blank verse) का प्रयोग अपरिष्कृत रूप मे हुआ है । अतुकान्त छन्द का पूर्ण विकसित रूप शेक्सपियर के नाट्य-साहित्य मे उपलब्ध होता है । यद्यपि 'गारबुडक' का ऐतिहासिक महत्व ही अधिक है क्योकि प्रारम्भिक प्रयोग होने के कारण सम्वादो मे प्रयुक्त अतुकान्त छन्द (Blank verse) नीरस, लयरहित तथा प्रेरणा विहीन हैं ।[2]

स्वच्छन्दतावादी जीवन-दर्शन की विकास शृखला मे शेक्सपियर के पूर्व महत्वपूर्ण व्यक्तित्व मार्लो का है । इनके चार प्रमुख नाटक हैं । टैम्बूरलेन दी ग्रेट (Tembur Lain the Great), दी ट्रेजिकल हिस्ट्री आफ डाक्टर फास्टस (The Tragical History of Dr. Fastus), दी ज्यू आफ माल्टा (The Jew of Malta) , और एडवर्ड सेकड किग आफ इगलैंड Edward the Secor d King of England सर्व सम्मति से उच्च कोटि की कला-कृतिया स्वीकृत हैं । इनमे किग आफ इगलैंड को छोडकर शेष तीनो मे परम्परागत शास्त्रीय नियमो से भिन्न समान तत्वो का समावेश हुआ है ।[3]

मार्लो ने अपने दुखान्त नाटको मे, शास्त्रीय नियमो से भिन्न शैली का प्रयोग किया है । 'मध्यकाल मे दुखान्त नाटको का सम्बन्ध एक मात्र राजाओ से रहता था, किन्तु मार्लो ने एक नायक व्यक्ति (Individual) के रूप मे उसे स्वीकार किया । टैम्बूरलेन यद्यपि राजा है, पर नाटक के अन्त मे वह एक किसान कुल मे उत्पन्न व्यक्ति है । दी ज्यू भूमध्य सागर क्षेत्र का एक साहूकार मात्र है और डा० फास्टस जर्मनी के एक साधारण डाक्टर और रसायनी हैं । मध्यकालीन राजकीय दुखान्त नाटको के स्थान पर नव जागरण कालीन इन नाटको मे वैयक्तिक योग्यता को प्रतिष्ठित किया गया है । इनके कथानक का अन्त वैभव और समृद्धि के के स्थान पर दुख और क्लेश मे होता है । सभी नायको की मृत्यु होती है, पर नायको का विरोधी शक्तियों से युद्ध करते हुए पराजित होना ही नाटक का केन्द्रीय आकर्षण है । इन नाटकों मे मध्यकालीन प्रवृत्ति की तरह नैतिक उद्देश्य आकर्षण का केन्द्र न रहकर नायक प्रमुख स्थान पाता है । नायक की वैयक्तिक विशेषतायें तथा उसकी महत्ता के भाव दर्शकों को आनन्द प्रदान करते हैं ।'[4] इसने मानव की अजेय इच्छा शक्ति को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया, जिसे केवल मृत्यु ही पराजित कर सकती है । इन प्रवृत्तियो का पूर्ण उत्कर्ष शेक्सपियर के नाटको मे प्राप्त होता है ।

1 Vanghan : Types of Tragic Drama, Page 141
2 Theory of Drama-Nicoll Page 13.
3 Nicoll - British Drama, Page 78.
4 Nicoll : British Drama, Page 80,

संवादों में अनुकान्त छन्द का प्रयोग यद्यपि 'गारबोडक' (Gorboduck) से ही प्रारम्भ हो गया था पर उसमें काव्यात्मकता और सरसता लाने का श्रेय मार्लो को ही प्राप्त है। 'यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि मार्लो प्रथम प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं जिसने एलिजाबेथ कालीन थियेटर के लिए कवितायें लिखी।'[1]

मार्लो के उपरान्त नाट्य-साहित्य के मूर्धन्य कलाकार शेक्सपियर ने अपनी अमर-कृतियों से अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध किया। सभी आलोचक इस बात से सहमत हैं कि 'लव्स लेबर्स लास्ट' (Loves Labour's Lost) से उनका रचना-कार्य आरम्भ होता है और इसके प्रकाशन काल सन् १६०० तक ये प्राय अपने आधे नाटक लिख लेते हैं। इनमें कुछ जैसे रिचार्ड सेकण्ड, और रिचार्ड थर्ड ऐतिहासिक दुखान्त तथा हेनरी फोर्थ सुखान्त हैं।

आरम्भ काल की कृतियों में 'रोमियो और जुलियट' ही केवल प्रगीत-संयुक्त दुखान्त रचना है। टेमिंग आफ दी श्रू' उपहास युक्त सुखान्त तथा 'दी मियरी वाइव्ज आफ विण्डसर' यथार्थवादी सुखान्त नाटक हैं। 'दी जेन्टिलमैन आफ वेरोना' 'ए मिडसमर नाइटसड्रीम', 'ऐज यू लाइक इट' 'ट्वेल्थ नाइट' 'मच एडू अबाउट नथिंग' और 'मर्चेन्ट आफ वेनिस सभी सुखान्त रचनायें इसी काल की हैं।

इस काल तक शेक्सपियर के नाटकों में प्रौढ़ता आ गई थी तथा उन्होंने विभिन्न प्रभावों को आत्मसात कर अपने साँचे में ढाल लिया था। सन् १६०१ से १६०८ तक का समय दुखान्त रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। जुलियस सीजर, एन्टोनी एण्ड क्लीयोपाट्रा तथा कोरिओ लेनस, रोमन इतिहास पर आधारित हैं तथा 'टाइमन आफ एथेंस' का कथानक यूनानी इतिहास से लिया गया है। हैमलेट, किंगलियर मैकबेथ और ओथेलो में शेक्सपियर की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट रूप उपलब्ध है तथा संसार में सबसे सफल दुखान्त नाटकों में उनकी गणना होती है। आलसवेल दैट एन्डस वेल मेजर फार मेजर तथा ट्रायलस एण्ड क्रेसिडा में यद्यपि कथावस्तु का अन्त सुखद होता है तथापि उन नाटकों में दुखद अंश मिले हुए हैं। सन् १६०८ के बाद शेक्सपियर ने चार नाटक लिखे—पेरिक्लिस, सिम्बेलिन, ए विंटर्स टेल, और दी टेम्पेस्ट। इन अंतिम नाटकों में दुखद और सुखद घटनाओं का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है तथा उनका वातावरण ऐसा अनोखा है कि न तो हम उन्हें दुखान्त और न सुखान्त नाटक कह सकते हैं। इसलिए उन्हें रोमांस तथा शेक्सपियर के अन्तिम नाटकों की संज्ञा दी जाती है।[2]

इस महान कलाकार ने परम्परा से प्राप्त नाट्य साहित्य के वस्तु तथा शिल्प में अपनी जन्म-जात प्रतिभा के बल से अनेक परिवर्तन किए। उन्होंने दुखान्त,

---

1 Herbert J Muller The sp rit of Tragedy, Page 149
२ डा० द्विवेदी अंग्रेजी भाषा और साहित्य', पृष्ठ ७९ ८०

सुखान्त और मिश्रित तीन प्रकार के नाटक लिखे। दुखान्त नाटको की कथा-वस्तु राजवश तथा अभिजात्य वर्ग से ली गई है। सुखान्त रचना मे इस नियम की उपेक्षा की गयी है। दुखान्त नाटकों के प्रमुख पात्र का सम्बन्ध राज-परिवार तथा उच्च वर्ग से रखने का अभिप्राय प्रभावोत्पादन मे तीव्रता लाना था। सुखान्त नाटकों मे पृष्ठभूमि का चयन बडी कुशलता से किया गया है।

सबसे बड़े ही आकर्षक दृश्यो से युक्त समृद्ध परिवेश से कथानक का आरम्भ होता है। 'नवयुवक और नवयुवतियो के प्रणय-सम्बन्ध म पहले तो कठिनाई उत्पन्न होती है फिर सुलझ जाती है और अन्त मे प्रेमियो का विवाह जाता है। यद्यपि कथानक यथार्थ जीवन से बिलकुल विलग नही है तब भी वह कवित्व और कल्पना के माध्यम से प्रेषित हुआ है।'[1] अलार्डाइस निकल भी इसी निष्कर्ष पर पहुचे हैं। उनका अभिमत है कि शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी जगत का प्रमुख गुण यथार्थ और कल्पना का समिश्रण है। (This is the cardinal characteristic of Shakespear's romentic Word—The Union of realism and fantacy)[2]

सभी सुखान्त नाटको मे भय, विषाद, सकट की छाया मडराती दिखलाई पड़ती है—इस यथार्थता का चित्रण नाटककार ने काव्यात्मक उपकरणो द्वारा प्रस्तुत किया है। अन्वितित्रयी के उपेक्षा के कारण अर्थात् कार्य, स्थान और समय के बन्धन की शिथिलता के कारण कवि को पात्रो की मानसिक स्थितियो के विभिन्न स्तरो का उद्घाटन करने के लिए पूरा अवसर मिला है। इससे नाटककार को चरित्र-चित्रण मे पूरी सफलता मिली है। 'प्राचीन नाटको मे कथा वस्तु ही प्रमुख थी, अब उसे गौण स्थान मिला। चरित्र-चित्रण को शास्त्रीयनाटको मे गौण स्थान प्राप्त था उसे आज प्राथमिकता प्राप्त हुई है। शेक्सपियर ने चरित्र-चित्रण को साध्य तथा कथा वस्तु को साधन के रूप मे स्वीकार किया है।'[3]

स्वच्छन्दतावादी नाटको के कथानक मे भी व्यापकता तथा विस्तार आया। कथा-वस्तु में प्रासगिक कथानक को स्थान प्राप्त हुआ तथा पात्रो की सख्या मे वृद्धि हुई पात्रो मे विशेषकर नायक के विरोधी तत्वो को उत्कर्ष की इस स्थिति तक पहुचा देना—जिससे सारा वातावरण पूरी तरह प्रभावित हो जाय, कथानक की शृखला टूटती हुई प्रतीत हो, पर पुन उसमें सामजस्य स्थापित कर उस कथा-प्रवाह को गति प्रदान करके, नायक के चरित्र के किसी विशिष्ट गुण या धर्म को प्रकट करने पर नाटककार का ध्यान केन्द्रित रहता था। 'अन्विति की रूढि को

१. डा० रामअवध द्विवेदी : 'अग्रेजी भाषा और साहित्य', पृष्ठ ८०
2. World Drama; page 123
3. Vanghan : Types of Tragic Drama; page 147

छिन्न भिन्न तथा कथानक को शिथिल करने पर ही चरित्र चित्रण में विस्तार सम्भव था।[1] The rigid mould had to be broken up the structure of the plot had to be loosened Then and then only was it possible to obtain a free scope for the port rayal of character यही कारण है कि स्वच्छन्दतावादी नाटकों म जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण मार्मिकता के साथ हुआ है।

शेक्सपियर की भाषा शैली काव्यात्मक है तथा इसका क्रमिक विकास हुआ है और प्रगीत के संयोग से उसके सौन्दय में वृद्धि हुई है। पहले तो काव्य-सौन्दय को वह अधिक महत्व देते थे अत प्रथम तथा द्वितीय अवस्था की रचनाओं में काव्य सौन्दय तथा कल्पना विलास का चमत्कार देखने को मिलता है। दूसरी अवस्था की सन्तुलित शैली में विचारों और भाषा का सुन्दर यथेष्ट सामंजस्य हुआ। तीसरी अवस्था में शैली कुछ अनगढ हो जाती है क्योंकि अब शेक्सपियर का सरोकार मुख्यत विचारों से था।[2] स्वच्छन्दतावादी नाटकों के विकास के लिए यह स्वर्ण काल है।

सत्तरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में शास्त्रीय परम्परा का पुन उत्थान होता है। फ्रांस में कार्नील तथा रेसीन ने इसे विकसित तथा समृद्ध किया। अठारहवीं शती म इंगलैंड म पोप ने जो अपने समय के ख्याति लब्ध साहित्यकार थे शास्त्रीय परम्परा को स्वीकार किया। इन्होंने ड्राइडन द्वारा प्रदर्शित माग का अनुकरण किया।

काव्य के क्षेत्र म स्वच्छन्दतावादी जीवन दशन का चरम उत्कर्ष उन्नीसवीं शती में होता है। अठारहवीं शती के अन्त म वर्ड्सवर्थ और कालरिज के सहयोग से लिरिकल बैलेड्स का प्रकाशन हुआ तथा यहीं से स्वच्छन्दतावाद के पुनरुत्थान का युग आरम्भ होता है। बायरन शैली और कीट्स ने भावना और कल्पना के उन्मुक्त प्रयोग द्वारा काव्य नाटक लिखे। अठारहवीं शताब्दी में भावनात्मक पक्ष क्षीण हो गया था। इस समय की नाट्य कृतियां अभिनेयता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं—इनमें शैली का सेंसी (Cenci) तथा कीट्स की ओथे दी ग्रेट (Otho the Cret) आदि प्रमुख हैं। बीसवीं शताब्दी म काव्य नाटक शैली को कई देशों ने स्वीकार किया है।

प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य स्वरूप

भारतीय नाट्य परम्परा बहुत ही प्राचीन है। इसका ज्वलन्त उदाहरण भरत का नाट्य शास्त्र है जिसमें बड़ी व्यापकता के साथ नाट्य साहित्य की उत्पत्ति

1 Vanghan Types of Trag c Drama page 150
२ डा० राम अवध द्विवेदी अंग्रेजी भाषा और साहित्य पृ० ८१

उसके क्षेत्र की व्यापकता, वस्तु तथा रूप पर विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण काल के विषय मे मतभेद रहते हुए भी यह निश्चित है कि इस विशाल लक्षण ग्रन्थ की रचना ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के करीब हुई होगी। इसका अभिप्राय यह है कि इसके पूर्व पर्याप्त-मात्रा में लक्ष्य-ग्रन्थो का निर्माण हो गया होगा। क्योंकि लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थो की रचना सम्भव है।

पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा मे अरिस्टाटल के नाट्य-शास्त्र का बहुत महत्व-पूर्ण स्थान है। इसका प्रभाव सर्वदा किसी न किसी रूप में पाश्चात्य नाट्य-साहित्य पर पडा है। केवल सोलहवी और सत्रहवी शती के पूर्वार्ध म इसका प्रभाव कुछ क्षीण होता है जब शास्त्रीय चिन्तन-पद्धति क विपरीत स्वच्छन्दतावादी नाट्य साहित्य का निर्माण होता है। प्राचीन नाट्य-साहित्य चाहे वह प्राच्य हो अथवा पाश्चात्य-दोनो मे ही शाब्यात्मक तत्वो की प्रमुखता है। दोनों ने ही निश्चित नियमों का विधान किया है। वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियो से स्थिर नियमो के आधार पर साहित्य निर्माण का समर्थन दोनो लक्षण-ग्रन्थो न किया है। किन्तु दोनों देशो की सास्कृतिक परम्परा तथा जीवन-दर्शन म भिन्नता के कारण नाट्य-शास्त्र की विवेचन पद्धतियो म पर्याप्त भिन्नता है। भारतीय नाट्य साहित्य का प्रमुख सिद्धान्त रस-सिद्धि है—इसको प्रधान तत्व मानकर नाट्य साहित्य के विभिन्न अगो पर विचार-विमर्श किया गया है। जबकि पाश्चात्य नाट्य-साहित्य का प्रमुख तत्व कथा-वस्तु है।

भरत मुनि ने नाट्य को पचम वेद की सज्ञा दी है जो केवल उच्च वर्ग के लोगो के लिए ही नही बल्कि निम्न वर्ग के लिए भी उपलब्ध है। ब्रह्मा इसके स्रष्टा हैं जिन्होने चारो वेदो के सार से इसकी रचना की है। इसमे अवस्था की अनुकृति तथा रूप का आरोप दोनो ही अपेक्षित हैं। भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र मे—

'त्रैलोक्यस्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्।' ११।१०४
'नाना भावोपसम्पन्न नानावस्थान्तरात्मकम्।' ११।१०८
'उत्तमाधम मध्याना नराणा कर्मसश्रयम्।' ११।१०९

इसे तीनों लोको के विविध भावो तथा अवस्थाओं का अनुकीर्तन तथा उत्तम अधम और मध्यम लोगो के चरित्र प्रदर्शित करने का माध्यम स्वीकार किया है। इससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति होगी, यह सदुपदेशों से पूर्ण होगा, तथा सभी भावो कार्यो का अनुकरण दिखाया जा सकेगा। इस प्रकार जीवन की विस्तृत भूमिका पर भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के उद्देश्यो का विश्लेषण तथा विवेचन किया है।

सस्कृत साहित्य मे नाटक को प्राधान्यत. काव्य ही माना गया है। दोनो का मुख्य उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि तथा गौण उद्देश्य सदुपदेश है। 'अनुभाव और विभाव सयुक्त रचना काव्य कहलाती है। गीतादि से रजित होकर नटों द्वारा

जब उसका प्रदर्शन होता है तो उसे नाटक कहते हैं ।'[1] विश्वनाथ भट्ट ने भी साहित्य दर्पण मे नाटक के प्रमुख उपादानो—वस्तु, नेता, रस तथा सवाद का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है । नाटक के भेद उपभेदो की विस्तार पूर्वक चर्चा की है ।

नाटक का कथानक तीन प्रकार का होना है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात कथानक किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक, पौराणिक तथा राजपरिवार से सम्बद्ध रहता है । प्रसिद्ध कथानक होने से सर्वसाधारण अथवा सभासदो के रस-बोध म सुविधा होती है क्योकि नाटककार अपने कला-कौशल क योग से इतिहास प्रसिद्ध कथानक को काव्य की सरस भूमिका प्रदान करता है । वह केवल इतिहास की पुनरावृत्ति न कर नाट्य साहित्य की रचना करता है । कथा-वस्तु के प्रख्यात होने से सभासदो के रस-बोध म सरलता आ जाती है । इस प्रकार की स्थिति लाने के लिये नाटककार कल्पना के स्पर्श से नाट्य-सृष्टि मे हृदय-सवेद्यता लाता है । नाटककार को इतनी छूट मिलनी चाहिए कि कल्पना और सवेदनापूर्ण घटनाओ के नियोजन से उसे अधिक प्रभावोत्पादक स्वरूप दे सके। ससार की प्रसिद्ध नाट्य-कृतियो मे कथावस्तु के प्रसिद्ध होने पर भी काल्पनिक प्रसगो की उद्भावना नाटककारो ने की है । उत्पाद्य कथा के पात्र कवि की उद्भावना की सृष्टि होते हैं । मिश्र कथा-वस्तु मे प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनों का ही मिश्रण रहता है। सभी नाटककारो ने प्राय प्रख्यात कथानक को ही नाटक के लिए उपयुक्त माना है। उदाहरण स्वरूप कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे महाभारत से राजा दुष्यन्त की कथा को चुना है । भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' मे भगवान राम के जीवन से मार्मिक अश लेकर करुण रस प्रधान नाटक की रचना की है । आधुनिक युग मे प्रसाद जी ने इतिहास से अपनी कथा वस्तु ली है—जिसके नायक प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित्र हैं ।

रूपक के दस भेदो मे नाटक तथा उप रूपक के अठारह भेदों मे नाटिका प्रमुख है । भारतीय चिन्ता-धारा के अनुसार सभी नाटकों का पर्यवसान आनन्द मे होता है, क्योकि रस-सिद्धि नाट्य का उद्देश्य है । फलागम की स्थिति भी नाटक के आनन्द मे पर्यवसान होने पर ही सम्भव है । भरत ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए नाट्य-शास्त्र मे कहा है कि नाटक की रचना इस प्रकार होनी चाहिए कि सब सन्धियां सश्लिष्ट हो, रगमच पर जिसका भली प्रकार प्रयोग हो जाय, जो सुख का आश्रय हो तथा जिसका अभिधान कोमल हो ।'[2]

---

१. अनुभाव विभावाना वर्णना काव्यमुच्यते ।
तेषामेव प्रयोगवस्तु नाट्य गीतादि रंजितम् ।।
—व्यक्ति विवेक, अ० १ पृ० २०

२ सुश्लिष्ट सन्धि योगच सुप्रयोग सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानच कवि कुर्यात् नाटकम् ।। ११।१२०

संधियों का सम्बन्ध नाटक के शरीर से है, जिसमे उनके द्वारा रचना सघटन सुव्यवस्थित हो सके। नाट्य-शास्त्र मे पाच सन्धियो तथा चौसठ सन्ध्यगो की कल्पना की गयी है। अधिकारी अथवा नायक की कथा मूल कथा है, पर इस मूल कथा के साथ कुछ गौण कथाये भी जुडी रहती हैं जिनमे मूल-कथा की विकास-प्रक्रिया मे सहायता मिलती है। इन्हे प्रासगिक कथा कहते हैं। प्रासगिक कथा के दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी। पताका किसी विशेष स्थल से प्रारम्भ होकर अन्त तक चलती है, पर प्रकरी लघु-कथा है जो बीच मे ही समाप्त हो जाती है। बीज और कार्य कथानक की दो सीमायें हैं। इन दोनो के बीच बिन्दु पताका और प्रकरी का स्थान है। नाटक मे उसका कार्य अथवा फल प्रमुख होता है।

कथानक को भी पाच भागो मे विभक्त किया गया है—बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। बीज से ही बडी कथा का प्रसरण होता है। नाटक का अभीष्ट है फल की प्राप्ति।

इन कार्यावस्थाओ तथा अर्थ प्रकृतियो को जोडने के लिए पाच सन्धियो की कल्पना की गयी है। उनके नाम हैं मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श या अवमर्श तथा निर्वहण। नाटको के उन स्थलो मे, जहा कथानक एक दूसरी दिशा मे मुडता है, सम्बन्ध सूत्र स्थापित करने के लिए सन्धियो की आवश्यकता होती है। बीज और आरम्भ को जोडने वाली सन्धि को मुख सन्धि कहते हैं। जहा बीज का अकुर रूप मे दर्शन होता है और वह कभी लक्षित तथा अलक्षित होता है, वहा प्रतिमुख सन्धि होती है। गर्भ सन्धि मे परिस्थितिया और विकसित होती हैं, प्रयत्न अदृश्य के समान दिखलाई पडता है। जहा अकुर बढकर वृक्ष बनने की स्थिति म आता है किन्तु बीच मे शाप, क्रोध या विपत्ति के कारण निराशा की स्थिति उत्पन्न हो जाय वहा अवमर्श सन्धि होती है। यहा नियताप्ति तथा प्रकरी का सयोग होता है। अन्त मे जहा सभी बाधायें दूर होकर प्रधान प्रयोजन सिद्ध होता है वहा निर्वहण सन्धि होती है।

अर्थ प्रकृति की सीमा के अन्तर्गत वे सभी अश आ जाते हैं, जो कथानक को फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करते हैं। कथानक के वस्तु सघटन तथा कार्य की पाच अवस्थाओं में सन्तुलन से नाटक मे कलात्मक सौंदर्य आता है।

सन्धियों का विधान भी नाटक के रचना सघटन मे सभी अगो को यथा स्थान स्थापित करने के लिए ही किया गया है। चौसठ सन्ध्यगों तथा इक्कीस सन्ध्यन्तरो का विधान गोप्य वस्तुओ को गोप्य रखने के लिए, प्रकाशन योग्य अंश को प्रकाशित करने के लिए, भावो का सचार तथा कथा को विस्तार देने के अभिप्राय से किया गया है। इस प्रकार बडी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ सस्कृत नाट्य शास्त्र मे नाटक की कथा-वस्तु पर विचार किया गया है।

उपन्यास या प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा रूपक की कथा-वस्तु सीमित होती है। उसका प्रधान उद्देश्य है रंगमंच पर प्रदर्शन । इसलिए कथानक ऐसा होना चाहिए जो नियत समय के भीतर प्रदर्शित किया जा सके । इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए नाटककार केवल ऐसे मार्मिक स्थलों को चुनता है जिनका अभिनय हो सके तथा नायक और नायिका के कार्यों से जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो । भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार कुछ ऐसे दृश्य हैं जिनका मंच पर प्रदर्शन निषिद्ध माना गया है । दशरूपक कार ने उन्हें इस प्रकार परिगणित किया है—'दूर का मार्ग, वध, युद्ध, राज्य या देश आदि का विप्लव, नगर का घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, तथा वस्त्र उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखाये जाय तथा आवश्यक कार्य का त्याग भी न किया जाय।'[1] इन कार्यों की केवल सूचना दी जा सकती है, इसलिए इन्हें सूच्य कहते हैं । सामाजिकों को दो अंकों के मध्य आये हुए समय की सूचना देने के लिए शास्त्रकारों ने पाच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है । इन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं । इनके पाच प्रकार हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार ।

विष्कम्भक में भूत और भविष्य की घटनायें मध्यम श्रेणी के पात्र द्वारा सूचित की जाती है । प्रवेशक में नीच पात्र इन घटनाओं की सूचना देते हैं । दो अंकों के बीच में इसका विधान किया गया है, इसलिए पहले अंक में यह नहीं आ सकता है । चूलिका में नैपथ्य से किसी अज्ञात घटना की सूचना दी जाती है । अंकास्य में पहले अंक के अन्त में और दूसरे अंक के प्रारम्भ में आने वाली घटना की सूचना दी जाती है ।

अंकावतार में कथा-प्रवाह का क्रम एक अंक से दूसरे अंक में चलता रहता है, केवल अंक के अन्त में पात्र बाहर चले जाते हैं तथा दूसरे अंक में पुन आ जाते हैं । अंकास्य और अंकावतार में केवल यही अन्तर है कि अंकास्य में केवल अगले अंक में आने वाली घटना की सूचना दी जाती है तथा अंकावतार में पिछले अंक के पात्र दूसरे में पुन अपने कार्य-व्यापार को अग्रसर करते हैं ।

'नाट्य धर्म को ध्यान में रखकर कथावस्तु के तीन भाग किए गए हैं, सर्वश्राव्य, नियत श्राव्य तथा अश्राव्य ।'[2] जो सम्वाद रंगशाला में सभी सदस्यों को

---

१. दशरूपक—तृतीय प्रकाश,
दूराध्वान वध युद्ध राज्यदेशादि विप्लवम्
सरोध भोजन स्नान सुरत चानुलेपनम्
अम्बर ग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्
नाधिकारिक वध क्वापि त्याज्यमावश्यक न च।

२. नाट्य धर्ममपेक्ष्यैतत् पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ।
सर्वेषा नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥ —दशरूपक १।५३

सुनाई दे, वह सर्वश्राव्य तथा कुछ लोग जिस सम्वाद को सुनें वह नियत श्राव्य है। जो सम्वाद किसी को न सुनाई दे उसे अश्राव्य, स्वगत अथवा आत्मगत कहते हैं। प्राचीन नाटकों मे कहीं कहीं आकाश भाषित की योजना की गई है, पर इस युग ने इसे अप्राकृतिक समझकर त्याग दिया है।

पात्रों के आश्रय से ही कथा वस्तु का विकास होता है। इनमे सर्व प्रमुख नेता अथवा नायक है, जिसे केन्द्र मे रखकर कथा गतिशील होती है। नायक और नायिका पर भारतीय आचार्यों ने विस्तार के साथ विवेचन किया है तथा उन्हें विशिष्ट गुण से सुसज्जित माना है। आचार्य धनजय ने दशरूपक मे नायक के गुणो को गिनाते हुए उसे नेता, विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्त लोक, वाग्मी, रूढवश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, कलाविद्, शास्त्रज्ञ, सम्मान-युक्त, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक स्वीकार किया है। नायक की विनम्रता उसके शील और सस्कार का परिचायक है, उसके दौर्बल्य का सूचक नहीं।

प्रकृति भेद से नायक के चार भेद किये गये हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त, और धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक शक्ति सम्पन्न, आत्म श्लाघा रहित, क्षमावान् उर्जस्वी, दुख सुख मे सम तथा कुलीन होता है। राम और युधिष्ठिर इस श्रेणी के नायक हैं। धीरोद्धत अहकारी, दर्प-मात्सर्य युक्त, मायावी, प्रचण्ड और चपल प्रकृति से युक्त होता है। धीर ललित निश्चिन्त, सुकुमार प्रकृति, कलाविद् एव मृदु स्वभाव का व्यक्ति होता है। धीरशान्त सामान्य गुणो से युक्त शान्त तथा प्रसन्न स्वभाव का होता है।

नाट्याचार्य भरत ने नायिकाओ के चार भेद गिनाये हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका। पर ये भेद आगे चलकर सर्व स्वीकृत नहीं हुए। अन्य शास्त्रकारो के अनुसार नायिका के तीन भेद हैं—स्वकीया परकीया और सामान्या। स्वकीया नायिका मे शील, आर्जव आदि गुण होते हैं। वह लज्जा, शील और पातिव्रत गुणो से विभूषित रहती है। अवस्था भेद से नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या तथा प्रौढा।

नायिका के व्यवहार और दशा भेद के कारण आठ भेद होते हैं—स्वाधीन पतिका, वासक सज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषित-पतिका और अभिसारिका। स्वाधीन पतिका और वासक सज्जा का स्वाभाविक धर्म क्रीडा, उज्ज्वलता, तथा उत्फुल्लता है तथा शेष छ दुखी, चिन्तित तथा अभाव ग्रस्त हैं। नायिका के अन्य अनेक भेदोपभेद किए गए हैं।

प्राचीन नाटकों में नायिका को प्रमुख स्थान नहीं मिलता था। आधुनिक नाटकों मे सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन तथा नारी के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

के कारण उसे भी फल प्राप्ति के योग्य माना गया है। प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी नाटक इसका उदाहरण है।

नाटक मे और अन्य पात्रों के होते हुए भी प्रतिनायक को प्रमुख स्थान प्राप्त है जो नायक के कार्यों मे विघ्न डालता है और प्रतिद्वन्दी के रूप म चित्रित होता है। सस्कृत नाटको म विदूषक का होना अनिवार्य माना जाता था। इसका काय राजा को प्रसन्न करना तथा परामर्श देना था। यह नायक का अन्तरगमित्र एव विश्वासपात्र ब्राह्मण होता था। आधुनिक नाटकों म विदूषक का रहना आवश्यक नही है।

प्राचीन नाटको मे भाषा के सम्बन्ध मे भी विभिन्न पात्र भिन्न भाषा का प्रयोग करते थे। नायक और मुख्य पात्र सस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। आधुनिक नाटको म इस प्रकार का कोई बन्धन नही है। पात्र अवसर और प्रयोजन के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं। पर भाषा ऐसी होनी चाहिए जो गूढ तथा जटिल न हो। पद्यो के प्रयोग का भी विधान किया गया है क्योकि काव्यात्मकता नाट्य साहित्य का प्रमुख अग है। 'छन्दो का प्रयोग तो करना चाहिए, पर छन्द आदि के विषय म नाटक कार स्वतन्त्र हैं।'[1]

नाट्य शास्त्र के अनुसार नायक तथा नायिका के विशेष प्रकार के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे वेश विन्यास क्रम प्रवृत्ति, विलास विन्यासक्रम वृत्ति वचन विन्यास क्रम रीति' कहा है। अर्थात विशष साज सज्जा को प्रवृत्ति, विलास प्रदर्शन को वृत्ति तथा वचन निपुणता को रीति कहते हैं। 'वर्तते रस अनया इति वृत्ति' के अनुसार जिसके कारण रस वर्तमान हो उसे वृत्ति कहते हैं। ये चार प्रकार की होती है—कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। कौशिकी वृत्ति म गीत, नृत्य, विलास तथा रति सम्मिलित हैं। इसम माधुर्य का बाहुल्य रहता है अत शृगार मे इसका प्रयोग होता है। शौर्य, दया और त्याग मे सात्वती वृत्ति का प्रयोग होता है। इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध और उद्भ्राति मे आरभटी का प्रयोग होता है। भारती भाषावृत्ति है—यह अभिव्यजना की मौखिक प्रणाली है तथा इसमे वाचिक अभिनय की प्रमुखता रहती है। इसे प्रकट करने के लिए किसी विशेष दृश्य योजना की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय नाट्य परम्परा मे रस को साध्य रूप मे स्वीकार किया गया है। अन्य साधन इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त प्रयुक्त होते है। नाटक का उद्देश्य है दर्शको तथा पाठको के मन मे स्थित विभिन्न भावो को जागृत करना, जिसमे वे उन भावो म निमग्न होकर साधारणीकरण की स्थिति को प्राप्त कर सकें। नाटकों मे शृगार और वीर रस को अधिक महत्व दिया है तथा अधिकाश नाटक इन्ही पर आधारित हैं।

१ इतिछन्दासि जातानि मयोक्तानि द्विजोत्तमा।
ध्रुवार्थेतेषु नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत। —नाट्य शास्त्र १५।११९

पश्चिमी नाट्य-तत्व

आरिस्टाटल ने अपने काव्य-शास्त्र में सर्वप्रथम नाट्य तत्वों पर विस्तार के साथ विवेचन किया है। उसने महाकाव्य और दुखान्त नाटकों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि सीमित समय में सुव्यवस्थित कथा नक के प्रदर्शन के कारण दुखान्त नाटकों का महाकाव्य की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है।

अरिस्टाटल ने नाटक के उपकरण के रूप में कथा वस्तु, चरित्र चित्रण, विचार, शैली, छन्द तथा गीत और दृश्य तत्वों को स्वीकार किया है। इन सबमें उसने कथा-वस्तु को प्रमुखता दी है। वस्तु-विन्यास की अपेक्षा चरित्र-चित्रण को उसने गौण स्थान दिया है। चरित्र चित्रण के बिना नाटकों का निर्माण सम्भव है पर कथावस्तु के बिना नाटकों की रचना नहीं हो सकती है। चरित्र चित्रण की अपेक्षा कथा वस्तु में सफलता प्राप्त करना कठिन है। अरिस्टाटल के अनुसार चरित्र-चित्रण के साधारण रहने पर भी यदि कथा-वस्तु सुनिबद्ध तथा सुगठित है तो नाटक का अभिनय सफलता पूर्वक हो सकता है।

इसने कार्यान्विति (Unity of action) पर बहुत बल दिया है। कथानक को एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार किया है जिसमें भिन्नता तथा अनेकरूपता के लिए कहीं स्थान नहीं है। कथा वस्तु के गुम्फित तथा सुनिबद्ध होने पर बहुत बल दिया गया है। उसने समय और स्थान के ऐक्य के विषय में कुछ नहीं कहा है। कथानक के आदि, मध्य और अन्त के आपस में सुनिबद्ध तथा सुसघटित रहने तथा प्रभावान्विति पर उसने अधिक ध्यान दिया है। क्रियान्विति रूप अभीष्ट की सिद्धि तभी सम्भव है जब कम से कम आवश्यक सामग्री का उपयोग किया जाय और अनावश्यक घटनाओं तथा आख्यानों का पूर्ण रूपेण परित्याग किया जाय। यह सामग्री एक विशिष्ट क्रम और व्यवस्था के आधार पर सघटित की जाती है, जिसका निर्धारण कार्य कारण और सम्भावना के नियमों से होता है। अतएव इस व्यवस्था में तनिक भी परिवर्तन करने से ट्रेजिडी के सम्पूर्ण प्रभाव की हानि होती है क्योंकि प्रत्येक अंग अपने उचित स्थान पर अनिवार्य रूप से स्थिर रहता है और उसका उसी स्थान पर ही वास्तविक महत्व है।[1]

कथा वस्तु में सुव्यवस्था तथा सुडौलपन से प्रभाव में तीव्रता आती है। इसी अभिप्राय से पाश्चात्य शास्त्र में नाटकों में प्रासंगिक कथाओं का सर्वथा निषेध है। 'यदि विभिन्न दिशाओं से भिन्न घटनायें आकर नाटक में समाहित होना चाहेंगी तो नाटक ढीला और प्रभावहीन हो जायेगा। उसमें एकाग्रता और एकोन्मुखता न

---

१ रामअवध द्विवेदी 'साहित्य रूप' पृष्ठ ६१।

रहेगी। कभी-कभी एक एक पात्र को लेकर नाटककार उससे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को नाटक में स्थान देता है इस प्रकार अनेक पात्रों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी घटनाओं का सग्रह हो जाता है जिससे वस्तु सौष्ठव में स्वभावत त्रुटि आ जाती है [1]

अरिस्टाटल के अनुसार काव्यगत सत्य ऐतिहासिक सत्य से भिन्न होता है। इतिहास किसी व्यक्ति या राष्ट्र के जीवन मे घटित घटनाओं का विवरण है। काव्य अथवा नाटक किसी व्यक्ति के जीवन में आई हुई घटनाओं का केवल विवरण अथवा सग्रह नही है बल्कि वह मानव के उन कृत्यों को जिनकी सम्भावना है तथा जिनमें व्यापकता है चित्रित करता है। कथानक का विस्तार न बहुत अधिक होना चाहिए न बहुत कम। यह विस्तार उस उद्देश्य को ध्यान में रखकर होना चाहिये कि नायक के भाग्य परिवर्तन का पूरा अवकाश उपलब्ध हो जाय, जिसमे वह अपने अभावों के कारण असफल तथा विनष्ट होता है।

प्राचीन यूनानी नाटकों में कथा वस्तु की प्रधानता रहती थी। स्वच्छन्दतावादी नाटककारों की दृष्टि प्रमुख रूप से चरित्र चित्रण पर केंद्रित रहती है। चरित्र चित्रण की व्यापकता तथा पात्रों के भिन्न भिन्न पक्षों के उद्घाटन के लिये यह आवश्यक था कि नाटककार विभिन्न परिस्थितियों की तथा पात्रों से सम्बद्ध विविध घटनाओं की सृष्टि करे। परिणाम यह हुआ कि स्वच्छन्दतावादी नाटककार का कथानक प्राचीन नाटकों के समान सुगठित और गुम्फित नहीं होता था। यूनानी नाटकों की अपेक्षा सस्कृत नाटकों के कथानक का विचार अधिक व्यापकता तथा विस्तार से किया गया है। चरित्र चित्रण पर भी यूनानी नाटकों की अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान दिया गया है।

स्वच्छन्दतावादी नाटककारों के सकलन त्रय की रूढि दृढता से अपने को मुक्त रखा। स्थान और समय की शास्त्रीय परम्परा को उपेक्षाकर विस्तृत क्षेत्र तथा अधिक समय की घटनाओं को अपने कथानक का विषय बनाया। प्रासगिक कथाओं को स्थान दिया गया। भारतीय नाट्य शास्त्र मे तो प्रारम्भ से ही पताका और प्रकरी कथाओं का विधान किया गया है। यहाँ कथा वस्तु के अग प्रत्यगों का तथा रचना सघटन का अधिक सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है।

पाश्चात्य शास्त्रीय नाटकों मे ट्रेजिडी और कामडी दो प्रकार के नाटकों का विधान था। ट्रेजिडी एक गम्भीर, महान एवं पूर्ण कार्य की अनुकृति है तथा कमेडी निम्न कोटि की रचना मानी जाती थी। स्वच्छन्दतावादी नाटककारों ने इन दो प्रकार ट्रेजडी कमेडी अर्थात सुखान्त दुखान्त नाटकों के मिश्रण से एक नवीन प्रकार का नाटक लिखा। ऐसे नाटकों में सुख और दुख से पूर्ण घटनाओं का मिश्रण रहता है पर नाटक का पर्यवसान सुख में ही होता है। नायक विषम परिस्थितियों के प्रहार से निराश हो उठता है। संभावनायें नाटक के दुखान्त होने की सूचना

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जयशंकर प्रसाद पृ० १३४।

देनी हैं पर नाटक का अन्त सुख मे ही होना है। ऐसे नाटक न तो ट्रेजिडी के समान विशुद्ध दुखद वातावरण की सृष्टि करते हैं और न तो सुखान्त के समान सुखद वातावरण की ही सर्वथा सृष्टि करते हैं। ऐसे नाटको मे विषाद तथा चिन्ता की छाया आद्योपान्त छायी रहती है पर नाटक का पर्यवसान सुख मे ही होता है। अन्त होते होते दर्शक की मानसिक स्थिति एक प्रकार के मिश्रित भाव से युक्त होती है।

ट्रेजिडी के विषय का सम्बन्ध राजकीय उच्चवंश, चरित्र सम्पन्न, एवं सुसंस्कृत व्यक्ति से है, परन्तु उसमे कोई नैतिक दुर्बलता रहती है। वह जन साधारण से श्रेष्ठ तथा उच्च होता है। ऐसे व्यक्ति के पतन और विनाश से प्रभाव मे तीव्रता आती है तथा जन साधारण को उस व्यक्ति से अपने को पृथक कर लेने मे सरलता होती है। इसलिए निर्वैयक्तिक होकर सभी उससे आनन्द प्राप्त करते हैं। जब हम एक असाधारण व्यक्ति को पतित और विनष्ट होते देखते हैं तो हमारी भावनाओ और संवेगो मे व्यापकता आती है। अपने सीमित क्षेत्र से बाहर निकलकर करुणा और भय की अनुभूति हमे होती है तथा करुणा और भय मे सन्तुलन के द्वारा हमारी भावनायें उदात्त होती हैं।

अरिस्टाटल के समय और स्थान के विषय मे मौन रहने पर भी यूनानी नाटककारो ने सदा इस विषय पर ध्यान रखा है कि नाटक के घटनास्थल शीघ्रता से न बदलें तथा नाटक मे ऐसी घटनायें प्रदर्शित न की जाय जो अनेक वर्षों तक फैली हुई हो। रोमन और मध्ययुगीन नाटककारो ने नियमो को और कठोर तथा रूढ बना दिया। ईसा की प्रथम शती में होरेस ने शास्त्रीय नियमो की परम्परा को अत्यधिक जटिल तथा स्थिर किया जिससे मौलिक प्रतिभा से युक्त नाटक कारो की प्रतिभा को उन्मुक्त वातावरण न प्राप्त हो सका।

शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी नाटकों की विषय-वस्तु की तुलना

पाश्चात्य साहित्य मे शास्त्रीय तथा स्वच्छन्दतावादी दोनों नाटको की कथा-वस्तु अभिजात्य वर्ग से सम्बन्ध रखती है। संस्कृत साहित्य मे भी प्राचीन नाटको के प्रमुख पात्र कोई राजा, राजकुमार तथा प्रख्यात व्यक्ति होते थे। दोनों के दृष्टिकोण मे अन्तर है—प्राचीन यूनानी नाटको के पात्र वर्ग अथवा किसी श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते थे। वे टाइप्स होते थे। स्वच्छन्दतावादी नाटको के पात्र व्यक्ति के गुण और दोष को प्रस्तुत करते हैं। उनके वैयक्तिक चरित्र के विविध पक्षो का उद्घाटन होता है। शेक्सपियर के नायक व्यक्तिगत रूप से शूर और साहसी हैं। वे किसी सिद्धान्त के प्रतीक नही हैं। संस्कृत नाट्य साहित्य मे पात्रो के वैयक्तिक गुण दोष का चित्रण के लिए व्यापक क्षेत्र उपलब्ध होता था। ट्रेजिडी कमेडी की तुलना जीवन से की जाती है। जिस प्रकार दुख सुख, हर्ष विषाद, उत्थान पतन जीवन मे परिवर्तित होते रहते हैं—दोनो का मिश्रित रूप ही जीवन है, उसी प्रकार

ट्रेजिडी कमेडी भी जीवन का प्रतिरूप है। प्राचीन शास्त्रीय नाटकों में ऐसी रचनाओं के लिए स्थान नहीं था।

शास्त्रीय नाटकों में भाग्य अलक्षित रूप से नायक के कार्यों का सचालन करता था। यूनानी जन-जीवन में भाग्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। शेक्सपियर के नाटकों में नायक का पतन अपने अपराधों, तथा दुर्बलताओं के कारण होता है। उसने भाग्य को यूनानी नाटकों के समान महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है। भाग्य आकस्मिक घटना बनकर नाटकों में कार्य करता है—पर नायक का पतन अपने चरित्र दोष तथा किसी आवश्यक गुण और विशेषता के अभाव के कारण होता है, भाग्य के कारण नहीं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान हेगेल ने बाह्य और अन्तःसंघर्षों को ट्रेजिडी का प्रधान लक्षण माना है। प्राचीन यूनानी नाटकों की अपेक्षा शेक्सपियर के नाटकों में बाह्य और अन्तर्संघर्ष दोनों के स्थल पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता अवश्य है किन्तु अलौकिक-अमानुषिक वस्तुयें जैसे भविष्यवक्ता, डाइनें, भूत, अप्रत्याशित घटनायें आदि तत्वों का नाटक में समावेश है जिससे कथा-प्रवाह की दिशा बदल जाती है और घटना-क्रम प्रभावित होता है, फिर भी वह अधिकांश में स्वतन्त्र है तथा अपने भाग्य का स्वयं विधायक है।

संस्कृत नाटकों में गीतों की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकृत है। स्वच्छन्दतावादी नाटकों में भी गीतों की स्थिति भावात्मक स्थलों में प्रभाव की तीव्रता लाने में सहायक होती है। संस्कृत नाटकों में काव्यात्मक अंश गृहीत है। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटकों में भी गीतों का प्रयोग किया गया है। यूनानी नाटकों के समान संस्कृत नाटकों में और स्वच्छन्दतावादी नाटक में भी गीतों का आद्योपान्त क्रम स्वीकृत नहीं है। यूनानी नाटकों में सह गायन (Chorus) की शृंखला नाटक के आदि से अन्त तक चलती है।

हिन्दी में नाट्य-साहित्य का स्वरूप

हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी नाट्य शैली का प्रारम्भिक रूप—भारतीय नाट्य-परम्परा के बहुत प्राचीन होते हुए भी हिन्दी नाट्य-साहित्य का व्यवस्थित एवं शृंखलाबद्ध इतिहास बाबू भारतेन्दु से ही प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु का आगमन संक्रमण कालीन परिस्थितियों में होता है। प्राचीन और नवीन के सन्धिस्थल पर खड़े प्रबुद्ध कलाकार के लिए यह कदापि सम्भव नहीं है कि वह प्राचीन अथवा नवीन दोनों में से किसी एक को ही अपनाये। प्राचीन नियमों, विधाओं से वह सर्वथा मुक्त भी नहीं हो पाता। सभी नवीन उपलब्धियों को वह अपना भी नहीं पाता। वह सदा दोनों के बीच प्रगतिशील और जीवन्त तत्वों को अपनाते हुए अपना मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतेन्दु ने प्राचीन नियमो और सस्कारो को एक सीमित रूप मे ही स्वीकार किया। युगीन चेतना तथा पश्चिमी साहित्य के सपर्क से नये प्रभावो की उपेक्षा करना असमव था। सभी शास्त्रीय नियमो को उसी रूप मे स्वीकार करना भी उनके लिए सम्भव न था। आग्रह विहीन भारतेन्दु ने दोनो शैलियो को यथा स्थान अपने साहित्य म स्थान दिया है। शास्त्रीय नियमो को, जो तत्कालीन परिस्थितियो म साहित्य मे समाविष्ट हो सकते थे, उन्होने स्वीकार किया है। अनावश्यक रूप से सभी प्राचीन नियमो की उपेक्षा के पक्षपाती वे नही थे। 'नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति व पद्धति जो आधुनिक, सामाजिक लोगो की मन पोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी।'[1]

नव-युग की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियो की आवश्यकताओ से भी वे भली भाति परिचित थे। बगला साहित्य के माध्यम से जो नवीन प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड रहे थे, उसे उन्होने स्वीकार किया। अग्रेजी साहित्य का प्रभाव सर्वप्रथम बगला साहित्य पर पडा और बगला साहित्य द्वारा हिन्दी का नाट्य साहित्य प्रभावित हुआ।

भारतेन्दु का 'नाटक' निबन्ध इस बात का प्रमाण है कि वे पाश्चात्य नाटको से प्रभावित थे। शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का 'दुर्लभबधु' और 'वशपुर का महाजन' शीर्षक से भारतीय वातावरण देकर उन्होने अनुवाद किया। शास्त्रीय नियमो की उपेक्षा तथा स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के स्वर उनके 'नाटक' निबन्ध मे ही सुनाई पडते हैं। उन्होने मरणोन्मुख प्राचीन नियमो और बन्धनो को स्वय एक सीमा तक ही स्वीकार किया। नवीन युग के सस्थापक को सभी विवशतायें और सीमायें उनके सम्मुख थीं। उन्होंने शास्त्रीय उपकरणो तथा बाह्य नियमो की ओर विशेष ध्यान नही दिया है। 'नाटक' निबन्ध मे उन्होने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया है—अब नाटक मे कही आशी प्रभृति नाट्यालकार, कही प्रकरी, कही विलोभन, कहीं सफेट, कही पच सन्धि, वा ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नही रही। सस्कृत नाटक की भाति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्न पूर्वक रखकर लिखना व्यर्थ है क्योकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। सस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरत जी जो सब लिख गये हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक रचना के लिए नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगो की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहा प्रकाशित होते हैं।[2] भारतेन्दु के सैद्धान्तिक पक्ष तथा नाट्य-साहित्य में आने वाले नवीन स्वर को समझने के लिए यह वक्तव्य पर्याप्त है।

---

१ 'भारतेन्दु नाटकावली' : सभा प्रकाशन (पहला खड), पृष्ठ ७२१।
२ भारतेन्दु ग्रन्थावली : नाटक निबन्ध (७१९-७२०)।

इस युग के नाटककारो ने प्राय. भारतेन्दु द्वारा निदिष्ट पथ का ही अनुसरण किया है इसलिए उनके अनूदित तथा मौलिक नाटकों और प्रहसनों मे आये वैचारिक अन्तर्विरोधो पर ध्यान देना आवश्यक है। इन अन्तर्विरोधो मे कहीं शास्त्रीय नियमो का प्रयोग दिखाई पडता है तथा कहीं उनकी उपेक्षा की गई है। उनके 'विद्या सुन्दर' नाटक मे न प्रस्तावना है और न भरत वाक्य। शेक्सपियर के नाटको का प्रभाव उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र' के हरिश्चन्द्र और शैव्या के स्वगत कथनो पर परिलक्षित होता है। नाटक का आरम्भ नादी पाठ से होता है, उसमे रूपक के सभी लक्षण विद्यमान हैं पर अक चार ही हैं, जो नाट्य शास्त्र के नियमो के विरुद्ध हैं। हिन्दी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक नील देवी' सस्कृत नाट्य परम्परा के विरुद्ध है। रस सिद्धान्त की उपेक्षा कर यह दुखान्त नाटक है। यह गीति रूपक है और रचना की दृष्टि से नवीन भेद है। 'भारत जननी' नाटक पाश्चात्य आपेरा की भाति गीति शैली पर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' भी दुखान्त रचना है जबकि सस्कृत साहित्य मे नाटको का सुखान्त होना आवश्यक माना गया है। 'शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटको तथा दुखान्त की रचनाओ मे मनुष्य के विभिन्न क्रियाकलापो के पीछे भाग्य की प्रबल प्रेरणा का जो उद्घाटन किया गया है वह भी इस नाटक मे है।'[1] भारतेन्दु ने अपने सभी नाटको मे समाज की कुरीतियो पर आक्षेप तथा देश-भक्ति का भाव व्यक्त किया है।

वस्तु और शिल्प विधान की दृष्टि से भारतेन्दु युग के नाटककारों ने शिल्पगत स्वच्छन्दता का प्रयोग अधिक किया है। समाज की जर्जर परम्पराओ और रूढियो के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति मे भी पाश्चात्य प्रभाव और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति कार्य कर रही है। विषय वस्तु मे परम्परागत प्रबल सस्कारो के कारण ही रूढ विषयो को स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रस्तावना को प्राय सभी नाटक कारो ने स्थान दिया है। सस्कृत की नान्दी परम्परा के स्थान पर नादी और आशीर्वाद नाम का प्रयोग कम करके मगलाचरण का प्रयोग किया गया है। मगलाचरण कही स्तुति परक तथा कही आशीर्वादात्मक हैं। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' मे आशीर्वादात्मक मगलाचरण दिए है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे कृष्ण और शिव के साथ राजा और कवि की जय-कामना की गयी है। 'चन्द्रावली' मे कृष्ण की विजय की आकाक्षा है। 'भारत दुर्दशा' और 'नील देवी' मे भारत के वीर और पराक्रमी स्त्री पुरुषो की प्रशसा की गई है।

इस काल के नाटक कारो मे शास्त्रीय नियमो की जटिलताओं और उनके अनावश्यक प्रयोग के प्रति विद्रोह का स्वर कम या अधिक सबमे सुनाई पडता है।

---

१ प० विश्वनाथ मिश्र . 'आलोचना', नाटक विशेषाक—पृ० १३४

शास्त्रीय नियमो की उपेक्षा के कारण ही कथानक का विस्तार बहुत बढ गया है। इस समय की परिस्थिति को देखते हुए इस विस्तार के मूल मे उपदेश की प्रवृत्ति तथा यथार्थ के चित्रण के साथ मनोरजन का भी योग परिलक्षित होता है। जब सधि और सध्यगो पर ध्यान केन्द्रित रहेगा तो कथानक का विस्तार अधिक नही हो पायेगा। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे इस पर विचार किया है।

कथानक के लिए सस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार सन्धि और सन्ध्यगो का होना परमावश्यक है। हिन्दी नाटको मे इस पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। केवल कुछ नाटकों मे सन्धियाँ मिलेंगी। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अनुसार कथानक नाटक का शरीर है और सन्धिया कथानक शरीर के पाच अवयव है।[1] दशरूपकादि के नाटको के लिए सन्धियो का सघटन आवश्यक है। दशरूपक कार ने भी सन्ध्यगो पर बहुत बल दिया है। हरिऔध कृत 'प्रद्युम्न विजय' म व्यायोग और नाट्य शास्त्रानुसार मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धिया हैं जो एक व्यायोग मे होनी ही चाहिए।'[2] पर इन शास्त्रीय नियमो के अनुसार विवेचन करने पर इस युग के नाटककारो के साथ न्याय नही हो सकता। सस्कृत नाटकों मे विशेष कर 'अभिज्ञ न शाकुन्तल' से तथा अग्रेजी नाटककारो मे शेक्सपियर स यह युग प्रभावित है। अको का गर्भांको मे विभाजन सर्वथा पश्चिमी नाट्य साहित्य का प्रभाव है। भारतेन्दु के बाद गर्भांको के स्थान पर दृश्य (सीन) लिखे जाने लगे। उसका और विकसित रूप 'अक' हैं। गर्भांक के स्थान पर एक, दो तीन आदि का प्रयोग हुआ। दृश्यो की अधिकता के कारण अर्थोपक्षेपक भी अनावश्यक हो गए तथा प्रकरी, सकेट, विगत, आदि शास्त्रीय विधानो की आवश्यकता दूर हो गई।

सस्कृत नाटक आदर्श प्रधान तथा काव्यात्मक होते थे। रस की सिद्धि उनका चरम लक्ष्य था। उनमे सदा धर्म और सत्य की अधर्म और अनाचार पर विजय दिखलायी जाती थी। पात्र कुलीन, सर्वगुण सम्पन्न, तथा आदर्श होते थे, उनम अन्तर्द्वन्द्व अथवा चारित्रिक उत्थान पतन के लिए अवकाश कम रहता था। नैतिकता की अन्त मे विजय होती थी। प्राचीन नाट्य साहित्य मे दुखान्त नाटको के निषेध की पृष्ठ भूमि म यही भावना काम कर रही थी। नायक जब सर्वगुण सम्पन्न है वीर है तो उसकी विजय अवश्य होगी—इस प्रकार सत्य और धर्म की विजय होनी थी। अत नाटको का सुखान्त होना अवश्यभावी है।

इस युग म दृष्टिकोण में मूलत. परिवर्तन आया। शास्त्रीय मान्यताओ के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति बलवती हुई। नाटक दुखान्त लिखे गए। विषय वस्तु के चयन के लिए यह आवश्यक नही रह गया कि कथानक कुलीनवश से सम्बद्ध हो,

---

१ नाट्य शास्त्र (चौखभा प्रकाशन) अध्याय २१

२ डा० गोपीनाथ तिवारी : 'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य', पृ० २७०

पात्र दैवी और आदर्श हो। कथानक जीवन के निम्न और उपेक्षित वर्ग से भी लिया जा सकता है। नाटको के लिए विषय वस्तु का कुलीन होना आवश्यक नहीं है। कोई भी विषय नाटक रचना के लिए उपयुक्त है। यह स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण है। 'रोमेन्टिसिज्म म वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नही है। साधारण से साधारण वस्तु मे भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है।'[1] शास्त्रीय नियमो के अनुसार प्रहसन मे देशसुधार, समाजसुधार आदि नही रहने चाहिए। इस युग के प्रहसन तत्कालीन सामाजिक दोषो पाखडो और धर्म का नाम लेकर किये गए अनाचारो पर तीखे व्यग्य है। तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों को इनसे बल मिला।

जहा तक अको का सम्बन्ध है प्राचीन नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटको मे पाच से दस अक तक होते थे, पर सात अको का ही अधिक प्रचलन था। महानाटकों मे दस अक होते थे। इस युग मे तीन और पाच अक वाले नाटको की बहुलता है। पाच अक वाले नाटको का शेक्सपियर के प्रभाव के कारण अधिक प्रचलन हुआ। इस युग मे कथानक मे आकर्षण और सौदर्य की वृद्धि के लिए गर्भाको अथवा दृश्यो का विभाजन आवश्यक समझा गया। शास्त्रीय नियम के अनुसार यह दृश्य विभाजन रस के स्थायी भाव की रक्षा मे बाधक समझा जाता था। विष्कभक, और प्रवेशक आदि की योजना भी कम होती गयी। प्रहसनो मे भी शास्त्रीय नियमो की उपेक्षा कर दो या तीन अक अथवा दृश्यो का प्रयोग हुआ।

शास्त्रीय नियम के अनुसार प्रेक्षागृह के लिए विविध नियमो का विधान किया गया है और शिष्टता तथा मर्यादा की रक्षा के लिए रगमच पर किस दृश्य का प्रदर्शन उचित है और किस दृश्य का प्रदर्शन निषिद्ध है, इस पर विस्तार से विवेचन किया गया है। मृत्यु, युद्ध, यात्रा, वध और चुम्बन आलिंगन का प्रदर्शन निषिद्ध है, पर आलोच्य काल मे पाश्चात्य प्रभाव और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण इस नियम की उपेक्षा हुई है।

इस काल मे जितने दुखान्त नाटक लिखे गए—जैसे 'रणधीर और प्रेममोहिनी, लावण्यवती सुदर्शन, कमल मोहिनी भवर सिंह, तथा मनोरमा आदि, उनमे प्रथम और अन्तिम स्वच्छन्दतावादी दुखान्त के अच्छे उदाहरण हैं। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' मे न नान्दी पाठ और न प्रस्तावना है और न अन्त मे भरत वाक्य है। नायक का वध होता है जो शास्त्रीय दृष्टि से वर्जित है। नायिका को प्राप्त करने के लिए रणधीर अद्भुत साहस और पराक्रम का परिचय देता है। युद्ध और मरण मन्च पर दिखलाये गए हैं। रणधीर और प्रेममोहिनी की कथा आधिकारिक है। बीच-बीच मे पताका और प्रकरी कथायें भी मिलती रहती हैं। अको का विभाजन

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी · 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृ० ३९१

गर्भांको मे हुआ है जब शास्त्रीय नियम के अनुसार गर्भांको को बीच मे आना चाहिए, तथा जिसमे बीज और फल का भी उल्लेख आवश्यक है।

इसका कथानक सुगठित और गतिशील नही है। उपदेशो की अधिकता तथा दीर्घ सम्वादो के कारण कथा वस्तु मे शिथिलता आ गई है। युग की स्थिति को देखते हुए इसम पात्रो के चरित्र का क्रमिक विकास ढूटना अनुचित होगा, क्योंकि चरित्र की सृष्टि के लिए उस काल की परिस्थितिया अनुकूल नही थी। रणधीर धीरोदात्त नायक है, पर उसका आत्मविश्वास औचित्य की सीमा का उल्लघन करता है और वह दूसरो की उचित सलाह भी नहीं मानता है। 'जीवन' की उचित सलाह को अनसुनी कर वह निरस्त्र युद्ध भूमि मे कूद पडता है। शीघ्रता मे चौबे जी को दण्ड देने के लिए तत्पर हो जाता है। उसके य कार्य सामन्ती मनोवृत्ति के सूचक हैं।

यह नाटक उपदेशात्मक सूक्तियो का तो मानो कोप है। जहा नाटककार को कोई अवसर मिला है वहा कोई उपदेशात्मक वाक्य लिख दिया गया है। कविताओं की अधिकता से भी कथानक का प्रवाह शिथिल हुआ है। यहा तक कि प्रेममोहिनी विलाप भी कविता में ही करती है। 'हा मम प्राण महीपत, कहा रहे मुख मोर। बाह गहे की लाज तज चले प्रेम तृण तोर॥ हे प्राणेश्वर! आपकी यह दशा देख कर मेरा कलेजा फटता है। हाय जल बिन नदी, कमल बिन सरोवर, पुष्प बिन बाग, सुगन्धि बिन पुष्प व्यर्थ है।'[1] इस प्रकार का अस्वाभाविक पद्यात्मक विलाप रहते हुए भी अपने समय का यह सर्वश्रेष्ठ दुखान्त नाटक है।

पात्रो के अनुसार भाषा का प्रयोग किया गया है। सुखवासी लाल उर्दू बोलता है, मारवाडी बनियां अपनी भाषा मे मारवाडी का प्रयोग करता है, और भग की तरग मे लीन रहने वाले चौबे जी ब्रजभाषा बोलते हैं। इस नाटक का ऐतिहासिक मूल्य है, साथ ही उस समय का प्रथम स्वच्छन्दतावादी दुखान्त नाटक है। इसकी अपेक्षा किशोरीलाल गोस्वामी के 'मयक मञ्जरी' नाटक का कथानक अधिक सुगठित है। स्वच्छन्दतावादी शैली का यह सुखान्त नाटक है, इसमे शास्त्रीय नियमो के विपरीत मच पर चुम्बन और बध का प्रदर्शन हुआ है।

यथार्थ की भूमिका पर आधारित 'बालमुकुन्द पाण्डे' का 'गगोत्री' नाटक उत्तम दुखान्त रचना है। प्रेम और विरह के मार्मिक चित्र न रहते हुए भी यह नाटक राजा की जघन्य वासना, उसके अत्याचार, रानी की दयनीय स्थिति, तथा पतनोन्मुख सामन्ती प्रथा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है।

नाटक, मगलाचरण मे गणेश की वन्दना से प्रारम्भ होता है। नान्दी, सूत्रधार और नटी के सुझाव से यह नाटक रग मच पर खेला जाता है। गुण

---

१ रणधीर और प्रेममोहिनी : अक ५, गर्भांक १—पृ० १३४

श्रवण की टेकनीक अपनाई गयी है। राजा गगोत्री के गुण सुनकर उस पर आसक्त होता है।

इसम कोई प्रासगिक कथा नही है। एक ही कथा आद्योपात चलती है। नाटक के सवाद और भाषा दोनों ही साधारण है। पात्र वर्ग की अवस्था का प्रतिनिधित्व करते है। शास्त्रीय नियमो के विरुद्ध मच पर नायक का वध दिखलाया गया है। मृत्यु के समय के विलाप लम्बे हैं। अधिकतर हाय हाय वाली शैली अपनाई गई है। इन दुखान्त नाटको मे बाह्य विधान और विषय दोनो पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जहाँ विषय प्राचीन है वहा भी प्राचीन नियमो का पालन नही किया है और नवीन शैली का प्रयोग हुआ है, जैसे राधाकृष्णदास के 'सती प्रताप' नामक गीति रूपक मे प्राचीन शास्त्रीय नियमो का पालन नहीं हुआ है।

गौरव-पूर्ण ऐतिहासिक आदर्शों की वर्तमान मे स्थापना रोमेन्टिसिज्म का प्रमुख तत्व है। वर्तमान से क्षुब्ध सवेदनशील व्यक्ति प्राचीन की ओर मुडता है। हिन्दी म ऐतिहासिक नाटको का आरम्भ भारतेन्दु के नील देवी' से होता है। राधाकृष्ण दास के 'महारानी पद्मावती' और 'नील देवी' मे बहुत समानता है। 'महारानी पद्मावती' नाटक का प्रारम्भ नान्दी पाठ और प्रस्तावना से होता है। कथानक छ अको मे विभाजित है, अक दृश्यो मे बँटे हुए हैं। अन्त म रानी अपनी सखियो सहित अग्नि मे जलकर भस्म हो जाती है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। 'महाराणा प्रतापसिंह अपने समय का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक की लोकप्रियता का सबसे बडा प्रमाण यही है कि यह नाटक कई बार अभिनीत हुआ। इसका कथानक बहुत गुम्फित नहीं है। नाटक का द्वितीय अक मानो किसी प्रकार जुडा हुआ प्रतीत होता है। नाटक का विषय है महाराणा प्रतापसिंह की वीरता और धैर्य का चित्रण तथा अकबर की कुटिल राजनीति का वर्णन। अन्त में भरत वाक्य है। कथानक सात अको मे, अनेक गर्भांको सहित विभक्त है। पात्रो के अनुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। मुसलमान पात्र प्रवाह युक्त उर्दू बोलते हैं। हिन्दू पात्रो की भाषा मे कही शुद्ध भाषा का प्रयोग हुआ है, कही बोल चाल की भाषा का प्रयोग। श्री निवासदास का 'सयोगिता स्वयवर', काशीनाथ खत्री का 'सिन्धु देश की राजकुमारियां' और 'गुन्नोर की रानी' आदि ऐतिहासिक नाटक हैं जो बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं।

स्वच्छन्दतावाद के उपकरण

स्वच्छन्दतावाद पर विभिन्न आलोचको ने भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये हैं। कुछ ने इसे शास्त्रीय नियमो—जो प्राचीन काल से अरिस्टाटल द्वारा प्रतिपादित और उनके अनुयायियो द्वारा समर्थित रूढियां थी—के विपरीत माना है। किसी

आलोचक ने इसे अभिव्यक्ति की प्रणाली मात्र माना है तथा अन्य समीक्षकों ने इसे प्रकृति के प्रति रागात्मक दृष्टिकोण कहा है। पर यह सर्वथा सत्य है कि शास्त्रीय नियमों का यन्त्रवत् प्रयोग होने लगा था। आस्थायें निर्जीव परंपरा बन गई थी। मनुष्यों के मन में इस प्रकार के भाव उठने लगे थे कि शास्त्रीय सश्लेषण-सन्तुलन में कुछ छूट गया है। चाहे मानव स्वभाव का आध्यात्मिक पक्ष अथवा लौकिक पक्ष उपेक्षित रह गया है अथवा दब गया है। ऐसी दशा में मानव के मन में एक नवीन विचार उत्पन्न होता है।'[1] ऐसी स्थिति में कलाकार परम्परागत नियमों की उपेक्षा कर अपनी भावनाओं को उन्मुक्तता के साथ व्यक्त करता है। बाह्य परिस्थितियों से विद्रोह कर अपने अन्तर को अभिव्यक्त करने के लिए वह आकुल हो उठता है। 'स्वच्छन्दतावादी शास्त्रीय नियमों का त्याग करता है। वह वैयक्तिक प्रतिभा पर विश्वास कर अपनी वस्तु के स्वाभाविक गुणों का विकास करता है।'[2] शास्त्रीयता में काव्य के बाह्य उपकरणों पर ध्यान केन्द्रित रहने के कारण अभिव्यक्ति ही प्रधान हो जाती है। अभिव्यक्त विषय गौण हो जाता है। इस दृष्टिकोण के विपरीत जो विचारधारा स्वीकृत हुई है वह स्वच्छन्दतावाद है। 'स्वच्छन्दतावाद मन की उस प्रवृत्ति का नाम है जिसमें बाह्य जगत के व्यापारों से सम्बन्ध-विच्छेद कर वह अन्तर्जगत की ओर उन्मुख होता है।'[3]

स्वच्छन्दतावादी कलाकार का दृष्टिकोण मानव-प्रकृति के प्रति शास्त्रीय कलाकार से सर्वथा भिन्न होता है। शास्त्रीयता में मनुष्य की शक्ति सीमित है तथा वह स्थिर समझा जाता है। उसकी धारणा है कि मनुष्य प्रकृति से अनुदार, अविवेकी और असभ्य है। सामाजिक नियम और व्यवस्था द्वारा वह सभ्य, सुशिक्षित तथा प्रगतिशील बनता है। 'वह दृष्टिकोण जो मानव को स्रोत तथा समस्त सम्भावनाओं का भाण्डार समझता है—स्वच्छन्दतावाद है तथा वह विचार जो उसे बहुत ही सीमित मानता है—उसे मैं शास्त्रीय कहता हूं।'[4]

स्वच्छन्दतावादी अनन्तता और असीमता की ओर सदा उन्मुख रहता है। यही कारण है कि इस साहित्य में अनन्त और असीम की चर्चा अधिक होती है। 'सच्चा रोमेंटिक कवि आत्म प्रेरणा से ही संचालित होता है। फिर भी इन दोनों में अन्तर यह है कि क्लैसिक को रूप का प्रेमी कह सकते हैं और रोमेंटिक कवि को अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी। क्लैसिक कवि परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौन्दर्य में करता है। रोमेंटिक अरूप और अनन्त की भावना में रमता है।'[5]

1. Grierson, English Literatuae, page 272
2. Nicoll : World Drama; page 409
3. Abercrombie—Romanticism; page 22
4. Speculations, By. T. E. Hulme; page 117
५. आचार्य वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ४४१

स्वच्छन्दतावाद कल्पना और भावना के माध्यम से जीवन का आदर्शीकरण करता है। यथार्थ के अन्तश्चेतन में कौन सी मूल प्रेरणा कार्य कर रही है, इसे देखने की वह चेष्टा करता है। इस शाश्वत सत्य की ओर प्रवृत होना स्वच्छन्दतावादी कलाकार का स्वाभाविक प्रयास होता है। कल्पना और उन्मुक्त भावना ये दो इसके प्रधान उपकरण है। 'कल्पना का जगत शाश्वत है। इस दैवी वक्षस्थल में हम लोगों को भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद जाना पड़ेगा। कल्पना का यह संसार असीम और शाश्वत है तथा यह भौतिक संसार क्षणिक और ससीम है। प्रत्येक वस्तु की स्थायी यथार्थता इस शाश्वत जगत में निवास करती है—जिसका प्रतिबिम्ब हम प्रकृति के नीले दर्पण में देख सकते हैं। स्रष्टा के इस दैवी शरीर में—मानवीय कल्पना में सभी वस्तुयें शाश्वत रूप में सम्मिलित हैं।'[1]

प्रतिभा के महत्व को सर्वप्रथम लाञ्जाइनस ने स्वीकार किया था—'प्रतिभा का चमत्कार हमें सर्वदा विस्मित करता है। बुद्धि और तर्क के असफल होने पर भी इसका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है क्योंकि तर्क हम पर आधारित है, किन्तु प्रतिभा के साम्राज्य में कहीं विरोध नहीं है। इसकी असीम शक्ति से हम सभी को प्रभावित होना ही पड़ता है। 'The wonder of it, whenever and *wherever it happens startles us, it preveils where the* persuasive or agreeable may fail for persuation mainly depends ourselvrs, but there is no fighting against the sovereignty of genius it imposes its irresistabie will upon us'[2]

कल्पना, वैयक्तिकता, आत्मप्रेरणा ये तीन रोमैंटिक साहित्य के प्रमुख उपकरण है। 'रोमाण्टिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन सश्लिष्ट निविड वेग की ही प्रधानता रहती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग—ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियां ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधानता है।'[3]

स्वच्छन्दतावादी कलाकार अपनी अन्त प्रेरणा से केवल वर्तमान की वास्तविकता का आदर्श स्वरूप ही नहीं उपस्थित करता बल्कि वह भविष्य का भी संकेत करता है। वह दृश्य वस्तुओं के माध्यम से उस अदृश्य को जो पूर्ण है, शाश्वत है, चित्रित करता है और उसकी व्याख्या करता है। 'केवल वर्तमान के यथार्थ पर ही उसकी दृष्टि नहीं रहती, न वह केवल उन नियमों का ही अनुसन्धान करता है

---

1. C M Bowra Romantic Imagination, page 3
2 Ionginus De Sublimate page 1
३ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका' पृष्ठ २

जिसके अनुसार वर्तमान का सचालन होना चाहिए, बल्कि वह वर्तमान मे भविष्य का दर्शन करता है और अतीत के समस्त विचारों का सार प्रस्तुत कर देता है। वह शाश्वत, अनन्त और अखड का सहभागी है।"[1]

स्वच्छन्दतावाद यथार्थ जगत की दृश्य वस्तुओ को आत्मतत्व के समान स्थायी, शाश्वत तथा सभी वस्तुओ मे एकात्मकता स्वीकार करता है। इस अर्थ मे वह आध्यात्मिक है पर उसका अध्यात्म दार्शनिको और वेदान्तियो के समान बुद्धि पर आधारित न होकर अन्तर्दृष्टि पर, और विश्लेषणात्मक तर्क (Analytical reason) का आश्रय न लेकर आनन्द और प्रेरणा से युक्त अन्तश्चेतन पर, आधारित होता है। कला की इस दार्शनिक भूमिका से निकले भाव, मन और सवेगो को (Mind and emotion) अभिभूत कर देते हैं।

सौन्दर्य स्वच्छन्दतावाद का दूसरा उपकरण है। रोमेण्टिक कलाकार सौंदर्य की भावना से प्रेरणा पाता है। उसके सौंदर्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत है। जगत के दृश्य, अदृश्य, सूक्ष्म और स्थूल सभी वस्तुओ से वह सौंदर्य ग्रहण करता है। शास्त्रीय कलाकार भी सौन्दर्य तत्व की उपेक्षा नहीं करता है पर दोनों के सौन्दर्य चयन के प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। शास्त्रीय सौन्दर्य मे बाह्य आकृति की सुन्दरता और रूप गठन की प्रधानता रहती है, उसमे एक क्रम (Order) रहता है, पर रोमेण्टिक सौन्दर्य में अन्तश्चेतना, कुतूहल तथा दार्शनिकता रहती है।

प्राकृतिक सौन्दर्य स्वच्छन्दतावाद का प्रमुख आलम्बन होता है। प्रकृति के विविध उपकरणो द्वारा भिन्न-भिन्न मानवीय चित्रो को वह चित्रित करता है। प्राकृतिक वस्तुओं से वह तादात्म्य स्थापित करता है—इस प्रकार जीवन और जगत के सत्य को प्रकाशित करता है। प्राकृतिक वस्तुयें स्वच्छन्दतावादी कलाकार के लिए प्रेरणा का स्रोत होती हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य को वह कुतूहल और जिज्ञासा की दृष्टि से देखता है। नदी, पर्वत, झरना, और ऊषा सन्ध्या के सौन्दर्य को वह तटस्थ द्रष्टा की भांति नहीं देखता है वरन् उनमे जगत की आशाओ और आकाक्षाओ के प्रति सहानुभूति और समवेदना के भाव पाता है।

नारी सौन्दर्य के प्रति स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण बडा ही उदात्त तथा गरिमामय होता है। नारी सौन्दर्य के बाह्य रूप की अपेक्षा उसके मन सौंदर्य के विश्लेषण मे उसका मन अधिक रमता है। आधुनिक साहित्य मे, विशेषकर प्रसाद जी के साहित्य मे नारी का परिष्कृत और गरिमामय रूप, जिस प्रकार चित्रित हुआ है वैसा शास्त्रीय साहित्य मे कम उपलब्ध होगा।

स्वच्छन्दतावाद मे वर्ग की अपेक्षा वैयक्तिकता को अधिक महत्व प्राप्त है। स्वच्छन्दतावादी कलाकार मूलत वैयक्तिक होता है।

1. C M. Bowra : The Romantic imagination; Page 21

आत्मनिष्ठ होकर अन्तर के विविध भावों को चित्रित करता है पर वह अह की सीमा मे ही नहीं सिमटा रहता। अह की सीमा से ऊपर उठकर प्रेम और सम्वेदना से उद्भासित एक ऐसी सृष्टि का निर्माण करता है जहा किसी प्रकार के वैषम्य और कष्ट के लिए स्थान नहीं।

'उसके अन्तर के विश्वास और प्रेम के ससार से इस बाह्य जगत का निरन्तर विरोध रहता है, लेकिन आत्मिक अनुभूति की दृष्टि मे वह एक ऐसे जगत की कल्पना करता है जहा सादा प्रेम का उत्सव होता रहता है। अन्त मे इस अन्तर के प्रेममय ससार की विजय निश्चित है। उसकी कल्पना ऐसे जगत का निर्माण नही करती है, जहा बाहर की अपूर्णता से पृथक होकर वहा रहे और वह अपूर्णता सदा बनी रहे, बल्कि वह ऐसे ससार का निर्माण करता है जो बाह्य जगत की अपूर्णता का निराकरण कर स्वय उस स्थान पर आसीन हो जाय। उसके स्व कल्पित आन्तरिक ससार को अह की सीमा से बाहर निकलना है और बाहरी (अपूर्ण ससार) को अपने में सम्मिलित और सगठित करना है।'[1]

'As it is, the life of this world is a continual offence against love, and love is what he believes in. But in the vision of his inner experience he can conceive of a world which is a continual celebration of love. This must be the world which must finally triumph And so his imagination tells us not of an inner reality in which one may withdraw from his imperfection which neverthless must still go on existing, but of an inner reality which will at last replace and cancel the imperfection of outer experience The world he imagines is to march out of its quarters and annex and reorganise the world he knows'

इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी कलाकार वैयक्तिक होते हुए भी मानवतावाद का समर्थक है। उसकी वैयक्तिकता मे शाश्वत आदर्श की स्थापना होती है, जिससे कही किसी प्रकार के सघर्ष की सम्भावना नही है। उसकी मानवता में प्रेम और समवेदना का अबाध साम्राज्य सदा स्थापित रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि वैयक्तिकता और मानवता ये दोनो ही स्वच्छन्दतावाद के प्रधान उपकरण हैं।

शौर्य, पराक्रम तथा आशावादिता के साथ निराशावाद की झलक भी स्वच्छन्दतावादी साहित्य में उपलब्ध होती हैं, पर यह निराशा शास्त्रीयता के समान

1 Romanticism—By Abercrombie-P, 111-112

भाग्य के कारण नही आती है, बल्कि वैयक्तिक दोष और अभाव के कारण प्राप्त होती है।

वैयक्तिकता के कारण स्वच्छन्दतावादी साहित्य मे रहस्यात्मक भावना की सृष्टि होती है। अहवादी प्रवृत्ति का विलय उस अनन्त और असीम मे होता है जो सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है। वह सदा असीम और अनन्त की जिज्ञासा प्रकट करता है। रहस्य के मूल मे जिज्ञासा का यह भाव सदा निहित रहता है।

अतीत इतिहास के प्रति सम्मोहन स्वच्छन्दतावाद का प्रबल तत्व है। वर्तमान, परिस्थिति से क्षुब्ध, सवेदनशील व्यक्तियों को बडी सरलता से अतीत मे प्रक्षिप्त कर देता है। अतीत की सुखद स्मृतियो मे मानसिक सतोष प्राप्त करना एक निश्चित उपाय है, जहा अप्रिय घटने की कोई सम्भावना नही रहती है। वर्तमान के प्रति उनके मन मे विरोध और विद्रोह की भावना रहती है पर अतीत के गौरव और उसकी समृद्धि की ओर प्रबल आकर्षण का भाव स्वच्छन्दतावादी कलाकार को अतीत इतिहास के चरित्रो और घटनाओ को नवीन परिप्रेक्ष्य मे चित्रित करने को विवश कर देता है।

अलौकिकता को स्वच्छन्दतावाद मे बहुलता से स्थान मिला है। अलौकिक उपकरणो द्वारा कलाकार चमत्कार उपस्थित करता है और युगीन परिस्थितियो को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। विषय वस्तु के लिए स्वच्छन्दतावाद मे यह आवश्यक नही है कि वह उदात्त तथा बहुत ही श्रेष्ठ हो। साधारण से साधारण विषय भी स्वच्छन्दतावादी कलाकार के लिये उतना ही महत्व रखता है जितना कोई बहुत ही प्रसिद्ध और असाधारण विषय।

स्वच्छन्दतावादी साहित्य के कलापक्ष मे भी शास्त्रीय साहित्य से भिन्नता होती है। छन्दो मे अतुकान्त प्रयोग बहुलता से होता है। भाषा मे अमूर्त भावो को मूर्त करने की प्रवृत्ति रहती है। सकेतात्मक तथा चित्रात्मक भाषा का प्रयोग अधिक होता है। प्रकृति के प्रतीको के माध्यम से स्वच्छन्दतावादी कलाकार जीवन और जगत की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओ और कार्य व्यापारो को अभिव्यक्त करता है। भाषा में प्रतीतात्मक प्रयोग की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार भाषा समृद्ध तथा सक्षम होती है।

प्रसाद के नाटकों के प्रेरणा स्रोत : समानतत्व, स्वतन्त्र कला

प्रसाद की नाटको की मूलचेतना उनके कौटुम्बिक वातावरण, परम्परागत संस्कार तथा प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और मनन से प्राप्त हुई। जीवन के आरम्भ मे ही विपरीत परिस्थितियो ने उन्हे एकान्त प्रिय तथा स्वभावत. गम्भीर बना दिया था। पुराण और उपनिषदों के अध्ययन से उन्हे भारत के अतीत गौरव को देखने का अवसर प्राप्त हुआ तथा वैदिक साहित्य और उपनिषदो के

अध्ययन से उनमें अंतर्मुखी और दार्शनिक प्रवृत्ति का विकास हुआ। इतिहास और दर्शन का व्यापक प्रभाव उनके साहित्य के दो रूपों—नाटक तथा काव्य में आद्योपान्त परिलक्षित होता है।

इस काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से प्रसाद जैसे संवेदनशील और सजग कलाकार के लिए प्रभावित होना भी स्वाभाविक है। स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अतीत इतिहास पर दृष्टि डाली—पर उन ऐतिहासिक नाटकों में कल्पना के प्रवाह में बहते हुए भी उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक स्थितियों को कलात्मक अभिव्यक्ति की है। प्राचीन इतिहास के समृद्ध पृष्ठों को नाट्य साहित्य में उतारने से राष्ट्र को सुसंगठित तथा शक्तिशाली बनाने के प्रयत्न में उस युग की आवश्यकता की पूर्ति होती है। पौराणिक आख्यानों के आधार पर प्रसाद ने अपना पहला एकांकी सज्जन प्रस्तुत किया जिसमें न्याय और क्षमा की विजय दिखलाई गयी है। उनके नाट्य साहित्य के मूल में इतिहास तथा काव्य में दर्शन की प्रेरणा प्राच्य साहित्य के मनन चिंतन तथा युगीन परिस्थिति से जिसमें राष्ट्र के सर्वांगीण उत्थान की भावना प्रबल हो रही थी वर्तमान है। उनकी ऐतिहासिक गवेषणा और पुरातत्व की खोज में भी भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की चेतना कार्य कर रही है।

बौद्ध और हिन्दू दर्शन के प्रभाव से वे उस संस्कृति की पुनः स्थापना का प्रयत्न करते हैं जिससे मानव में स्नेह उदारता और सहनशीलता के भाव पैदा होते हैं। कामना रूपक में भौतिकवादी संस्कृति के दुष्परिणाम और अशान्ति के चित्र हैं। अजातशत्रु में गौतम बुद्ध की यह वाणी यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सैकड़ों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे करुणा का उद्घोष करती है। शरणागत की रक्षा भारतीय संस्कृति का परम्परागत नियम है। स्कन्दगुप्त का यह वचन केवल संधि नियम से ही हम लोग बाध्य नहीं हैं शरणागत की रक्षा करना भी क्षत्रिय का धर्म है इस बात का प्रमाण है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि सब कुछ त्याग कर भी प्राचीन भारत ने इस आदर्श की रक्षा की है। व्यास और दाण्ड्यायन के एक एक शब्द पर भारतीय दर्शन की गहरी छाप पड़ी है। कहीं गौतम दो अतिथियों के बीच मध्य मार्ग के अवलम्बन का उपदेश देते हैं तो दाण्ड्यायन और चाणक्य ब्राह्मण दर्शन की व्याख्या करते दिखाई पड़ते हैं। विश्व की क्षणिकता तथा निस्सारता की पृष्ठभूमि में दार्शनिक विचार धारा काम कर रही है।

प्रसाद जी के कुल में परम्परा से शिव की उपासना होती है। इस कट्टर शैव कुल में एकाध सदस्य तो शिव से भिन्न देवता का नाम सुनते ही कान बन्द कर लेते थे। कश्मीर और दक्षिण भारत में शैवागम पर बहुत कुछ लिखा गया है और उत्कृष्ट वाङ्मय प्रस्तुत हुआ है जिसे हम सगुण अद्वैतवाद कह सकते हैं।

इसमें कश्मीरको का प्रत्यभिज्ञान दर्शन बहुत पुष्ट और प्रबल है। प्रसाद-कुल की दार्शनिक विचार धारा मुख्यत. इसी परम्परा में थी।[1] इस कुल परम्परा से प्राप्त शैवागम का प्रभाव उनके नाट्य साहित्य पर भी पड़ा है। प्रत्यभिज्ञान दर्शन की पारिभाषिक पदावली, प्रकृति, पुरुष और नियति आदि का प्रयोग उन्होंने अपने नाट्य साहित्य म बहुलता से किया है। अभिनव गुप्त के प्रत्यभिज्ञान दर्शन क अनुसार शैव और शक्ति तन्त्रा म छत्तीस तत्व स्वीकृत हैं, जिनका तीन भावा म विभाजन हुआ है-शिवतत्व, विद्यातत्व तथा आत्मतत्व। आत्मतत्व क अन्दर प्रकृति, पुरुष और नियति की गणना होती है। जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति का सकुचित करने वाला तत्व नियति (नियमन हेतु) होता है। वह अनि और उन्छृ खलता का नियमन करती है।

प्रसाद जी के जीवन-काल मे एक घटना घटी, जिसकी छाप उनके नियति सिद्धान्त पर पडी है। इनके बडे भाई शम्भूरत्न जी की मृत्यु के लिए पडोसी क घर म, जिसके साथ इनका मुकदमा चल रहा था, मारण प्रयोग हो रहा था। उस पडोसी का नाम भी शम्भूरत्न था और वह पेशे से दर्जी था। उसने घर म आकर शम्भूरत्न मारय मारय भक्षय भक्षय की ध्वनि सुनी। वह क्रोध के मारे विवेक खो बैठा। ,अनुष्ठान घर मे घुसकर उसने पूजा के सभी उपकरण तहस नहस किय, तथा तात्रिक पडित को घर स बाहर भगाया। उसे बाद मे पता चला कि प्रसाद जी के बडे भाई का भी नाम शम्भूरत्न है। वह प्रसाद जी के यहा आया और उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। 'प्रसाद जी के नियतिवाद मे इस घटना की भी छाप थी। वह प्राय कहा करते कि भाई साहब को उस मारण प्रयोग से मरना नहीं था, तभी वह खण्डित हो गया, यदि उनकी मृत्यु उसी स हो गई होती तो वह पूरा उतर पाता।'[2] 'जनमेजय का नागयज्ञ' मे जरत्कारु का यह वचन कि 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है' तथा चन्द्रगुप्त मे 'नियति सम्राटों से भी प्रबल है' आदि में नियति का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। नियति का नियन्त्रण स्वीकार करते हुए भी कोई पात्र निष्क्रिय नहीं दिखाई पडता है, सभी अपने कर्त्तव्य को पूरा करने क लिए सघर्ष मे लीन है।

शेक्सपियर और डी० एल० राय के नाटकों स उन्हे स्वच्छन्दतावाद की प्रेरणा मिली है। यहा भी प्रसाद राय के समान सामन्ती परिवेश मे ही नही घिरे रहे। उन्होंने सभी पश्चिमी आदर्शों का अन्धानुकरण भी नहीं किया, बल्कि उन्हे भारतीय संस्कृति के साँचे में ढालकर ही अपनाया। डी० एल० राय ने मुगल

---

१ सम्पादक महावीर अधिकारी . 'प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व' 'प्रसाद की याद' शीर्षक रायकृष्ण दास के निबन्ध पृष्ठ ८-९ स

२ रायकृष्ण दास : 'प्रसाद का जीवन दर्शन,' 'प्रसाद की याद' शीर्षक निबन्ध स, पृष्ठ ११।

कालीन कथानक के आधार पर अपने नाटकों की विषय वस्तु को चुना है परन्तु प्रसाद ने इतिहास का वह काल चुना-मौर्य काल से लेकर हर्षवर्धन तक जब भारतीय संस्कृति का उज्ज्वलतम रूप उपलब्ध होता है। 'इतिहास से संस्कृति का ऐसा अपूर्व मणिकांचन संयोग हमें अन्यत्र नहीं मिलेगा। प्रत्येक नाटक में प्रसाद का मुख्य पात्र भारतीय संस्कृति की विकासोन्मुख धारा का प्रतीक है। वह उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतिनिधि है, जिसके माध्यम से नव निर्माण की सूचना हम देते हैं।'[1] इस नव निर्माण की प्रेरणा के मूल में उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा है, जिसका प्राचीन साहित्य के अध्ययन से निरन्तर विकास होता गया है।

भारतीय रस सिद्धान्त से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने पाश्चात्य नाटक के चरित्र चित्रण की शैली अपनायी है। पात्रों की विभिन्न तथा विरोधी मानसिक स्थितियों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से किया है। पात्र नाटककार की छाया मात्र नहीं रह गए हैं बल्कि विभिन्न प्रकार के पात्र नवीन व्यक्तित्व से युक्त होकर अवतरित हुए हैं। पौराणिक पात्र भी अपनी समस्त विशेषताओं के साथ आधुनिक युग के परिवेश में चित्रित किए गये हैं। पात्रों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विवेचन उनकी स्वतन्त्र कला का सूचक है।

हिन्दी नाटकों में नारी का परम्परागत बाह्य रूप ही चित्रित हुआ था, पर प्रसाद ने नारी का वह उदात्त रूप सामने रखा है जो सर्वथा नवीन गरिमा से युक्त है। कहीं वह स्नेह और करुणा की मूर्ति है तो कहीं वह बौद्धिक भूमिका पर खड़ी होकर विवाहिता स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का चित्रण करती दिखलाई पड़ती है। सुवासिनी का यह उत्तर 'धनियों के प्रमोद का कटा-छटा हुआ शोभा-वृक्ष। कोई डाली उल्लास से आगे बढ़ी, कुतर दी गई। माली के मन से सँवरे हुए गोल-मटोल खड़े रहो।' सामाजिक यथार्थ का सुन्दर उदाहरण है। नारी के विविध रूपों और स्थितियों का चित्रण प्रसाद की स्वतन्त्र कला का परिचायक है।

मूलतः स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी पाश्चात्य नाटकों के समान उन्होंने कोई विशुद्ध दुखान्त भी नहीं लिखा तथा रस तत्व या आनन्दवाद से प्रभावित होने के कारण उन्होंने कोई विशुद्ध सुखान्त नाटक भी नहीं लिखा। शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा के लिए ही अन्त में नाटकों का पर्यवसान सुख में किया गया है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार की मानसिक स्थिति ऐसी है जिसे एक शब्द में व्यक्त करना कठिन है। इस प्रकार आनन्द और अवसाद से युक्त नाटकों की समाप्ति के मूल में बौद्ध दर्शन और शैवागम के दुख और आनन्द की चेतना कार्य कर रही है, जिनका व्यापक प्रभाव उनके नाट्य साहित्य पर पड़ा है। इस दुख सुख से मिश्रित अथवा अन्तर्द्वन्द्व की प्रेरणा के सूत्र बौद्ध और आर्य संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'जयशंकर प्रसाद' पृष्ठ १७१।

में हैं। 'रस योजना की अपेक्षा यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग हमें अधिक आकर्षित करता है। स्कन्दगुप्त का चरित्र में भी अन्तर्द्वन्द्वों से परिपूरित है। वैराग्य और कर्त्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व में लपेटकर नायक का चरित्र खूब उभारा गया है। चाणक्य तक के चरित्र में भी प्रेम और राजनीति के द्वन्द्व को स्थान प्राप्त है। यद्यपि चाणक्य जैसे स्थिर पात्र के जीवन में द्वन्द्व जैसी वस्तु का प्रवेश विचित्र सा लगता है।[1]

इस प्रकार नाटकों का अन्त हिन्दी साहित्य में सर्वथा नवीन तथा मौलिक है। अतः नए सिरे से इस पर विचार करने की आवश्यकता है।

सामान्य इतिवृत्त

प्राचीन यूनानी नाट्यकारों में इरोपीडोज के नाटकों में स्वच्छन्दतावादी तत्व यत्र तत्र पर्याप्त मात्रा में विकीर्ण अवस्था में प्राप्त होते हैं, पर उनका नाट्य-साहित्य में चरम उत्कर्ष सोलहवीं शताब्दी के अन्त में तथा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही होता है। यह महारानी एलिजाबेथ का शासन-काल है, जिसमें अंग्रेज जाति की राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ हो गई थी। अंग्रेजी साहित्य में यह समय केवल अनुवादों का नहीं है, बल्कि जातीय भावना से युक्त नवीन साहित्यिक चेतना का पूर्ण विकसित रूप इस काल में उपलब्ध होता है। स्पेनिश जहाजी बेड़े की पराजय के बाद आत्म-विश्वास तथा स्वाभिमान की भावना से युक्त अंग्रेजों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे केवल रोम और स्पेन के साहित्य का अनुकरण मात्र करें। देश प्रेम की भावना से युक्त राष्ट्रीय जीवन से प्रेरणा लेकर नवीन तथा मौलिक साहित्य के निर्माण में यहां के कलाकार प्रवृत्त हुए। इटालियन साहित्य के आदर्शों को अपने जीवन और अपनी सांस्कृतिक परम्परा के सांचे में ढालकर उन्होंने मौलिक साहित्य का निर्माण किया। यद्यपि इस युग में साहित्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई, पर नाट्य-साहित्य का विकास अभूतपूर्व गति से हुआ। इस युग में सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार शेक्सपियर के योग के कारण नाट्य-साहित्य का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुंच गया।

इस युग में दुखान्त, सुखान्त और दुखान्त-सुखान्त नाटक लिखे गए। शास्त्रीय प्रणाली में नाटकों के दो ही प्रकार स्वीकृत थे—दुखान्त और सुखान्त। जिसमें दुखान्त नाटक ही श्रेष्ठ समझे जाते थे, पर दुखान्त-सुखान्त नाटक का निर्माण शेक्सपियर की ही विशेष देन है।

शेक्सपियर के पूर्व नाटककारों में जानलिली तथा राबर्ट ग्रीन आदि उल्लेखनीय नाट्यकार हैं। जानलिली ने तत्कालीन सामन्तों के रूप, गुण तथा बुद्धि-वैभव के स्तुति गान में नाटक लिखे। उसने दरबारी वातावरण का चमत्कारिक गद्य में प्रभावोत्पादक वर्णन किया। ग्रीन के नाटकों में स्वच्छन्दतावादी तत्व (रोमेन्टिक

---

१. आचार्य वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद' पृष्ठ १७० ।

ऐलीमेन्ट्स) प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं। अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ मुक्त वातावरण का चित्रण ग्रीन ने उपस्थित किया है। नारी-पात्रों की कल्पना में इसे पूर्ण सफलता मिली है। ग्रीन ने 'फ्रायर बेकन' और 'जेम्स फोर्थ' के द्वारा स्वच्छन्दतावादी सुखान्त नाटकों के लिये शेक्सपियर का मार्ग प्रशस्त किया। फ्रायर बेकन' की कथा वस्तु के दुर्बल होते हुए भी उसमें तीन विभिन्न दृश्यों का-चमत्कारिक, अभिजात्य वर्गीय तथा ग्राम्य-जीवन का सम्मिश्रण हुआ है, जिसका प्रतिबिम्ब शेक्सपियर के 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में मिलता है। 'विभिन्न मानसिक स्थितियों तथा वातावरण का सूक्ष्मतापूर्वक यह सम्मिश्रण सुखान्त स्वच्छन्दतावादी नाटकों का प्रधान लक्षण है। जहां राजकुमार भोंडे विदूषकों से और परियां शिल्पकारों से मिलती हैं। इनमें ग्राम्य जीवन से प्रेम का वर्णन है और इसका स्वर आध्यात्मिक है।'

'The cardinal feature of the romantic comedy is pecisely this interweaving of diverse moods and surroundings where princes meet with clowns, and fairies with artisans, added to the presentation of a rural love usually spiritual in essense'[1]

इस नाटक की प्रणय प्रधान कथा-वस्तु में प्रेमियों के मार्ग की बाह्य बाधायें परियों के राजा ओवेरा (Oberon) और रानी टिटानिया की सहायता से दूर होती हैं। उनके आपस का भ्रम और सन्देह मिट जाता है तथा दोनों प्रेमी और प्रेमिकाएँ राजनियम की रक्षा करते हुए अपने उद्देश्य में सफल होते हैं। कथानक की सुखपूर्वक समाप्ति में अलौकिक पात्रों का विशेष महत्व है।

यहां इस उदाहरण का केवल अभिप्राय इतना ही है कि इस काल तक स्वच्छन्दतावादी नाटकों की रचना के लिए प्रशस्त पीठिका तैयार हो गयी थी। इसके कुछ नारी पात्रों को, रोजालिंड और इमोजेन प्रभृति को, शेक्सपियर ने भी अपने नाटकों में स्थान दिया है।

'दी कामेडी आफ एरर्स' में नाटक की आनन्दपूर्वक समाप्ति के मूल में दो जुड़वे भाइयों के आकृति-साम्य के कारण उद्भूत भ्रम और उसका निवारण प्रस्तुत किया गया है। यह एक घटना प्रधान नाटक है तथा प्लौट्स के अनुकरण पर लिखा गया है। 'दी जेन्टिल मेन आफ वेरोना' में इटली के वेरोना नगर के दो मित्र वेलेन्टाइन और प्रोथियस् और उनकी प्रेमिकायें सिल्विया और जुलिया के सच्चे प्रेम और साहस को चित्रित किया गया है। कथा-वस्तु बड़ी रोचक है तथा कल्पनात्मक वर्णनों के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। पहले की अपेक्षा चरित्र-चित्रण में बहुत विकास हुआ है, पर कथानक कृत्रिम तथा बहुत कुछ यन्त्रात्मक है।

---

१. British Drama : By Nicoll; Page 89.

'लव्ज लेबर्स लास्ट' लिली के अनुकरण पर आधारित है तथा इसमे हास्य के चित्र प्रस्तुत हैं। अधिकाश सुखान्त नाटको मे प्रहसन द्वारा अपरिष्कृत रुचि को परिष्कृत करने का उद्देश्य निहित है।

सन् १६०१ तक नाट्यकार को विकास-शृखला का द्वितीय सोपान समाप्त होता है। इस काल तक प्राय सभी सुखान्त नाटक लिख लिये गये थे।

'दी मेरी वाइव्ज आफ विन्डसर,' और 'टेमिंग आफ दी श्रू' मे हास्य और यथार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

'रोमियो एण्ड जुलियट' इसी काल की गीतात्मक तथा दुखान्त रचना है। इसके कथानक का सम्बन्ध वेरोना नगर के दो अभिजात्य कुलो मांटेग्यू और कैप्युलेट से है, जहा दोनों का जन्म होता है। इन दोनो वशो की परम्परागत शत्रुता के कारण रोमियो और जुलियट का स्वाभाविक प्रणय अभिशाप सिद्ध होता है तथा दोनो की प्रणय की वेदी पर बलि दी जाती है। दुखान्त होते हुए भी इस नाटक मे शौर्यपूर्ण दृश्य हैं। इसमे कथ्यात्मकता है तथा इससे तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'इसका प्रगीतात्मक उत्कर्ष कही-कही आनन्द की चरम सीमा को स्पर्श करता है और उसके प्रहसन म परिष्कृत और अपरिष्कृत उपकरणो का-मरकुशियो और नर्स के चरित्र मे आश्चर्यजनक सम्मिश्रण हुआ है। यह दुखान्त, एक प्रारम्भिक प्रयत्न है, किन्तु स्पष्टता से नव-जागरण काल के विचारो और प्रेरणाओ को भली-भाति प्रस्तुत करता है।'

The lyrical passions at times rise to the hights of ecstasy and the comic matter both of the more refined sort in Mercutio and of the coarsertexture in the nurse, is excellently managed [1]

प्रगीत और कवित्त के होते हुए भी रोमियो और जुलियट मे यथार्थ जीवन की झाकी प्रस्तुत है। यह नाटक आध्यात्मिक और अलौकिक चमत्कारो स पूर्णत. रहित है। भाग्य और सयोग के कारण इसका दुख-पूर्ण अन्त होता है, पर भाग्य यूनानी नाटको के समान प्रमुख कारण नही है। इसके बाद के चार दुखान्त नाटको मे भाग्य केवल सकेत के रूप मे आता है।

'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अन्त यद्यपि सुख और प्रसन्नता मे होता है, किन्तु नाटक की घटनायें उसे दुखान्त की ओर ले जाती है। कुछ असम्भाव्य और अविश्वसनीय घटनायें भी नाटक मे सम्मिलित हैं।' यहां दो मानसिक स्थितिया-स्वच्छन्दतावादी कलातिरेक तथा दुखान्त की यथार्थता-कार्य कर रही है, पर दोनो मे किसी मे भी पूर्णता नही है। यहा एक बार और कला की सीमा का अतिक्रमण

१. British Drama. By Nicoll, Page 170.

हुआ है।' 'Here two moods-the mood of romantic fantacy and the mood of tragic reality have metand nrither is satisfied Shakespeare for once has ovea stepped the bounds of acts'[1]

'एज यू लाइक इट' में प्रेम षडयन्त्र और शौर्य का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। रोजालिंड का अनुपम सौन्दर्य, धैर्य और प्रेमनिष्ठा, सिलिया की मित्रता तथा कर्त्तव्य परायणता, ओरलैण्डो की वीरता तथा मल्ल युद्ध में उसकी आश्चर्यजनक विजय आदि के चित्रों का आकर्षक योग इस नाटक में मिलता है।

इन नाटकों के वस्तु-विन्यास में मध्यकालीन शासन और सामाजिक परिस्थितियों तथा उत्साह पूर्वक भयानक कार्य में कथावस्तु का संगठन हुआ है। वस्तु-विन्यास में कल्पना और यथार्थ का सम्यक् प्रयोग किया गया है। सभी सुखान्त नाटकों के आरम्भ में विघ्न, विषाद तथा भय के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, जो जीवन की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करते हैं। कवित्व के आश्रय से नाट्यकार ने प्रेम की तन्मयता, भक्ति का अजस्र प्रवाह, तथा मानवीय सद्गुणों का अपूर्व विकास किया है। कथा-विकास के मध्य द्वेष, छल, षडयन्त्र तथा प्रतिशोध की प्रबल भावना विघ्न के रूप में चित्रित की गई है। अन्त में प्रेम और करुणा की विजय द्वारा मानवीय गुणों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव प्रदर्शित किया गया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन और साहित्य में प्रेम प्रमुख तत्व के रूप में चित्रित है। किसी न किसी रूप में प्रेम की आराधना ही सभी सुखान्त नाटकों का प्रमुख तत्व है।

दुखान्त नाटकों में 'हैमलेट', 'किंगलियर', 'मैक्बेथ' व 'ओथेलो' में नाट्यकार की सर्वतोमुखी प्रतिभा का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। ये संसार के सर्वश्रेष्ठ दुखान्त नाटकों में परिगणित होते हैं। हैमलेट-डेनमार्क के राजकुमार को यह देखकर बहुत विस्मय और हार्दिक दुख होता है कि उसकी मां, पिता की मृत्यु के बाद ही उसके चाचा से पुनर्विवाह कर लेती है। उसके पिता की मृतात्मा राजकुमार हैमलेट से यह रहस्य स्पष्ट करती है कि चाचा ने ही उसके पिता की हत्या की है तथा राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित कर लिया है। नायक के चरित्र से, इसके उपरान्त नाटक के कार्य में तीव्रता आती है। समय तथा मायावी प्रेतात्मा के दर्शन से कार्य की गति तीव्रतर हो जाती है। हैमलेट के मित्र होरेशियो, तथा दो स्वामी-भक्त भृत्यों को भी मृत-राजा की प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं। सहानुभूति तथा मानसिक स्थिति की अनुकूलता के कारण इन्हें प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं। राजकुमार हैमलेट की माता जर्ट्रूड को, जिसकी आंखों पर वासना का पर्दा लगा हुआ है, वह प्रेतात्मा नहीं दिखलाई पड़ती है। राजकुमार अपने चाचा की हत्या का निश्चय

१. British Drama : By Nicoll; Page 129

कर लेता है। षडयन्त्र के द्वारा राजकुमार हैमलेट की हत्या होती है। नाटक का अन्त बड़े ही प्रभावात्मक तथा रहस्यपूर्ण ढंग से होता है। प्राचीन नियम संकलन-त्रय की रक्षा की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

'ओथेलो' मे सर्वथा भिन्न चारित्रिक विशेषतायें उपलब्ध होती हैं। यहा निराशा नहीं है, बल्कि कार्य की सशक्त प्रेरणा है। इस नाटक की विषय वस्तु का अपना निजी महत्व है। हैमलेट, मैकबेथ तथा लियर के समान इसके कथानक का सम्बन्ध किसी राजकीय परिवार से नही है इसका नायक 'ओथेलो' हब्शी सेनापति है, और नायिका वेनिस की कुलीन राजकुमारी है। वातावरण भी किसी राजसभा के वैभव पूर्ण दृश्यो से सम्बद्ध नही है। ऐसा मालूम पड़ता है कि शेक्सपियर पर आने वाले पारिवारिक दुखान्त नाटको का प्रभाव पड़ रहा था। 'मैकबेथ' मे भी वही प्रमुख विशेषता है जो 'ओथेलो' मे है। यहा स्काटिश सेनापति, कुलीन किन्तु दुर्बल इच्छा सम्पन्न महत्वाकांक्षी व्यक्ति है। बाह्य परिस्थितियो की प्रतिकूलता तथा चारित्रिक दुर्बलता के कारण नायक का पतन होता है। अपनी घातक महत्वाकांक्षा तथा लेडी मैकबेथ से प्रेरणा पाकर वह अपनी हत्या की ओर अग्रसर होता है। स्वयं वह ऐसी परिस्थिति मे जकड़ जाता है कि प्राण देने के अतिरिक्त उसके सामने कोई दूसरा मार्ग शेष नही रह जाता है।

'किंगलियर' मे प्रगति की अपेक्षा प्रतिगमन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसमें कथानक का सगठन 'ओथेलो' के समान सुगठित नही हुआ है। पहले के दुखान्त नाटको के समान यहा प्रभावैक्य का अभाव है। महाकाव्य के लिए उपयुक्त चरित्रों को नाटक के लिये चुनना उचित नही है। नाट्य काव्य की यह श्रेष्ठ रचना है। यहा कलाकार मे सत्रहवीं शती के आरम्भिक वर्षों की राष्ट्रीय भावना जागृत होती है, इसलिए शायद उसने ऐसे विषय का चयन किया है। दुखान्त नाटको म नायक का पतन अपने चरित्र की दुर्बलता तथा नियति के विरोध के कारण होता है।

नाटककार ने अन्त मे ऐसे नाटको की रचना की है जो जीवन के दुख-सुख, हर्ष विषाद तथा उत्थान और पतन को प्रस्तुत करते हैं। विस्तृत अनुभव और सूक्ष्म पर्यवेक्षण के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जीवन मे न एकान्त सुख है और एकान्त दुख, बल्कि दोनो के मिश्रण से जीवन पूर्ण होता है। इन नाटको मे नाटककार का जीवन दर्शन परिपक्व रूप मे उपस्थित हुआ है। नाटक जब समस्त जीवन की अनुकृति है तो उसमें पूर्ण जीवन का चित्रण भी होना आवश्यक है। यदि केवल सुख अथवा दुख का चित्रण होता है तो नाटक केवल जीवन के एक अंश का प्रतिनिधित्व करता है। कलाकार के केवल यथार्थता के चित्रण से ही कला की इति नही होती, बल्कि उसे यथार्थ के मध्य स्थित शाश्वत सत्य को उपस्थित करना होगा, जिससे जीवन मे प्रेरणा प्राप्त हो। ऐसी अवस्था मे ही कला को पूर्णता प्राप्त होती है। शेक्सपियर ने अन्त मे पेरिक्लिस', 'सिम्बेलिन', 'एविन्टर्सटेल, और दी 'टेम्पेस्ट'—ये चार

नाटक लिखे, जिनमे दुखद और सुखद घटनाओं का ऐसा सम्मिश्रण हुआ है कि उन्हें नाटको के प्रचलित अभिधानो मे से किसी एक से सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

शेक्सपियर ने नाट्य साहित्य में कल्पना और कवित्व के बल से युगान्तर उपस्थित किया है। प्राचीन रूढियो के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर स्वच्छंदतावादी तत्वों का नाट्य साहित्य में प्रयोग किया।

काव्य में स्वच्छन्दतावाद का चरम विकास उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ है। इस युग के काव्य मे प्रगीतात्मकता की बहुलता है। यह भी सत्य है कि प्रगीतात्मक काव्य के लिए जो गुण अपेक्षित हैं, उनमे उच्च कोटि के नाट्य-साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं है। एलिजाबेथ के शासन-काल मे ही प्रगीत-काव्य और श्रेष्ठ नाटको की रचना हुई है। शेक्सपियर ने 'आथेलो' और 'टेम्पेस्ट' जैसे उच्च कोटि के नाटकों की रचना की, उसी प्रकार चतुर्दश पदियों (Sonnets) तथा गीतो की भी रचना की है। यह मणिकाचन संयोग पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

अठारहवी शताब्दी मे प्रमुखतः शास्त्रीय नाटको की रचना हुई है। उन्नीसवीं शताब्दी मे कवि कल्पना की स्वच्छन्द धारा मे बह रहे थे। शेक्सपियर का प्रभाव शासीसी साहित्यकार होम पर पड़ा। परिणाम-स्वरूप इस शती के आरम्भ में काव्य-नाटकों (literary Drama) की रचना हुई।

जान टोबिन के नाटकों मे 'हनीमून, दी करफ्यू' पर शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'दी हनीमून' का कथानक 'जुलियस सीजर', तथा 'रोमियो एण्ड जुलियट' से लिया गया है। 'दी करफ्यू' मे अन्ध विश्वास, कुतूहल, अन्धकार से आच्छन्न गुफायें और वर्षों से बिछुड़े हुए पुत्रों और स्त्रियों से मिलन आदि काल्पनिक तत्वों का मिश्रण है। बायरन और शैली ने भी नाट्य साहित्य की रचना की, जिनमे कुछ का अभिनय हुआ। इस काल के दुखान्त नाटको मे शैली का 'दी चेन्सी' उल्लेखनीय है। यहां प्रगीतात्मक प्रवृत्ति की प्रमुखता तथा मंच-शिल्प के अभाव के कारण नाटक का शिल्प त्रुटिपूर्ण रह जाता है। 'Assuredly we may find in it many defects, defects due to lyrical tendencies of the author and to his lack of theatrical knowledge "[1]

इस युग की भाव और कल्पना प्रधान प्रगीतात्मक प्रवृत्ति के कारण अभिनेय नाटक नहीं लिखे जा सके। इसका एक और भी कारण यह है कि नाटककारों ने अभिनेयता और रंगमंच को आदर और सम्मान के भाव से नहीं देखा। वर्डसवर्थ

1 British Drama; By Nicoll; page 313

और शैली की अपेक्षा बायरन जनसाधारण की भावना और यथार्थ जीवन के अधिक समीप थे फिर भी वैयक्तिकता के प्रति अतिशय आग्रह (Over emphasized subjectivity) के कारण नाटकों में अपेक्षित नाटकीयता तथा प्रभावोत्पादकता न आ सकी।

फ्रांस मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का विकास दो दिशाओ मे हुआ। प्रथमत: इससे ऐतिहासिक नाटकों को रगमन्च पर प्रस्तुत करने के लिए अवसर और प्रोत्साहन मिला। मध्य कालीन दृश्य इस समय विशेष प्रिय थे इसलिए साज-सज्जा, गौण कथा और दृश्य मे पुरातत्व ज्ञान की सहायता मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। दूसरी विशेषता यह है कि विक्टरह्यूगो आदि कलाकारो में स्वतन्त्र शैली के विकास की प्रवृत्ति बढी। इसने प्राचीन शास्त्रीय नियमो और स्थिर स्वरूपो को छिन्न भिन्न किया।

काव्य मे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के चरम विकास होने पर भी नाट्य-साहित्य म शेक्सपियर के नाटको के समान कोई उल्लेखनीय कृति नही आ सकी। इसके दो प्रमुख कारण थे। एक तो प्रणेताओ का निजी व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य कथा-वस्तु के विकास मे बाधक सिद्ध हुआ। दूसरा कारण यह था कि इस युग मे भावातिरेक और कल्पना की तरंग मे साहित्यिको ने नाट्य रचना की ओर ध्यान नही दिया।

हिन्दी मे नाट्य साहित्य का उद्भव शृ खलाबद्ध रूप मे भारतेन्दु से ही होता है। भारतेन्दु सक्रान्ति युग के सजग कलाकार हैं अत उनमे प्रचीन और नवीन दोनो प्रवृत्तियो और शैलियो का मिश्रण स्वाभाविक ही है। आग्रह से मुक्त भारतेन्दु ने नवीन युग की चेतना को स्वच्छन्दतापूर्वक अभिव्यक्त किया। इस युग के सभी नाटककारो ने भारतेन्दु द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अनुसरण किया है। इस काल के कुछ नाटकों मे स्वच्छन्दतावादी तत्वो का समावेश हुआ है। भारतेन्दु द्वारा अनूदित 'विद्या सुन्दर' से ही उनकी रुचि का परिचय प्राप्त हो जाता है। सामाजिक बन्धनो की उपेक्षा कर प्रेम-विवाह का समर्थन इस नाटक की प्रमुख विशेषता है। विद्या को प्राप्त करने के लिए सुन्दर अद्भुत साहस और पराक्रम का परिचय देता है। शौर्य और शृङ्गार उसके चरित्र के भूषण हैं। यह रोमेन्टिक प्रवृत्ति भारतेन्दु की मानसिक स्थिति के अनुकूल पडी। बहुत से आलोचको ने 'विद्या सुन्दर' पर प्रतीकात्मकता का अनावश्यक भार लादकर तत्कालीन समाजिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा की है, जिसका प्रतिनिधित्व यह नाटक बडी सफलतापूर्वक करता है। 'कुछ शोधको ने इस पर व्यर्थ में ही प्रतीकात्मकता का लबादा उठाया है। वह उनका आत्म-प्रक्षेपण (Self projection) है। विद्या न तो बुद्धि (Wisdom) है और न सुन्दर तरुण तपस्वी।'[१]

१ डा० बच्चनसिंह - हिन्दी नाटक, पृ० २५

शृंगार प्रधान यह नाटक उन्मुक्त प्रेम का समर्थक है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की ओर उन्मुख होते हुए भी सुन्दर विवाह का पश्चात्ताप और खेद प्रकट करते सामाजिक मर्यादा के साथ समझौता करने का संकेत देता है।

भारतेन्दु युग के नाटकों की विषय-वस्तु प्रमुखतया सामाजिक परिस्थितियों से सगृहीत और सम्बद्ध है। सामाजिक रूढियों तथा प्रचलित बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इनकी रचना की गयी है। भारत के प्राचीन गौरव को स्मरण कराते हुए बाल विवाह, वृद्ध विवाह के दोष तथा विधवा-विवाह के समर्थन के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण की प्रमुखता से अभिव्यक्ति की गयी है और जीवन की यथार्थता के मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। ये नाटक संस्कृत नाटकों की अपेक्षा जन साधारण के जीवन के अधिक समीप हैं। शास्त्रीय नाट्य-नियमों की अपेक्षा इन पर युगीन पाश्चात्य नाट्य का अधिक प्रभाव पड़ा है।

इस युग के दुखान्त नाटकों में 'रणधीर और प्रेममोहिनी' ने बहुत प्रसिद्धि पायी। इसकी प्रेरणा से 'लावण्यवती सुदर्शन' नामक नाटक की रचना हुई। यह नाटक भी उस युग में प्रसिद्ध हुआ। जवाहरलाल वैद्य ने 'लावण्यवती सुदर्शन' को ही किंचित परिवर्तन कर कमल मोहिनी भवरसिंह' नामक नाटक लिखा। इस समय के दुखान्त प्रेम नाटकों में 'रणधीर और प्रेम-मोहिनी' तथा बालमुकुन्द पाण्डे का 'गगोत्री' ये दो प्रतिनिधि नाटक माने जा सकते हैं। इनमें से प्रथम पर शेक्सपियर के 'रोमियो जुलियट' का प्रभाव पड़ा है। 'दोनों के कथानक तो बहुत मिलते जुलते हैं ही, सम्वादों में भी स्थान स्थान पर बहुत अधिक साम्य है। एक आध स्थलों पर शेक्सपियर के कुछ अन्य नाटकों के सम्वादों की भी छाया है। एक आलोचक ने शेक्सपियर के इस नाटक को बाह्य परिस्थितियों का दुखान्तकी कहा है, श्री निवासदास जी के इस नाटक को भी हम इसी कोटि की हिन्दी की प्रथम रचना कह सकते हैं।[१]

रोमियो जुलियट और रणधीर और प्रेम मोहिनी की कथा-वस्तु में बहुत साम्य है। दोनों के कथानक दो राजवंशों और सम्भ्रान्त कुलों से सम्बद्ध हैं। सूरत की राजकुमारी प्रेम मोहिनी और उसका भाई रिपुदमनसिंह है। रणधीरसिंह पाटन का निर्वासित राजकुमार है जो अपने विदूषक गुरु और अनुचरों के साथ सूरत में ही निवास करता है। रोमियो जुलियट के कथानक का सम्बन्ध भी मोन्टेग्यू और कैप्यूलेट दो कुलीन कुटुम्बों की परम्परागत शत्रुता से है। इटली के वेरोना नगर में खुली सड़कों पर दोनों कुलों के समर्थक आपस में द्वन्द्व युद्ध करके अपने जीवन की

---

१ प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र-'आलोचना', नाटक विशेषांक—हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० १३९।

बलि देते थे। रोमियो और जूलियट की मृत्यु के बाद दोनों कुलों की शत्रुता समाप्त होती है। अन्त में मौंटेग्यू जूलियट की शुद्ध स्वर्णप्रतिमा बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं जिसके साथ रोमियो भी चिरस्मरणीय रहे। 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' मे भी दोनो की मृत्यु के बाद अज्ञानजन्य सकीर्ण मर्यादा तथा मिथ्याभिमान नष्ट होते हैं।

रणधीरसिंह अपने पराक्रम और साहस से रिपुदमन के प्राणो की रक्षा करता है। यही से यह कथानक स्वाभाविक गति से आगे बढता है। दोनो राजकुमार आजीवन मित्रता का निर्वाह विकट परिस्थितियो मे भी करते हैं। रणधीर सिंह के गुणो को सुनकर प्रेम मोहिनी उससे प्रेम करने लगती है। सूरत का राजा, रणधीर को एक साधारण परिवार का व्यक्ति समझकर उसके शौर्य और साहस से प्रभावित होते हुए भी उससे घृणा करता है। सुखवासी लाल की कथा अन्त तक चलती है। यह एक धूर्त और बहुत नीच प्रवृत्ति का सेवक है जो रणधीरसिंह को वेश्यागामी बनाकर उनसे धन ऐंठना चाहता है। दूसरा भृत्य जीवन, स्वामी-भक्त और ईमानदार है। रणधीरसिंह की मृत्यु के बाद उस स्वामी भक्त भृत्य—जीवन का ससार सूना और उजाड हो जाता है।

नायिका प्रेम मोहिनी शुद्ध सात्विक प्रेम की उपासिका है जिसमे त्याग और बलिदान की भावना कूट कूट कर भरी हुई है। तत्कालीन सामाजिक रूढियो और बन्धनो की उपेक्षा कर विनम्रता तथा निर्भीकतापूर्वक अपने पिता से कहती है—'जो राजा अपने स्वार्थ अथवा पक्षपात से प्रजा को दुख देता है उसका कभी भला नही होता'[1] ये शब्द आपके ही हैं। 'फिर अपना बचन न निभावेंगे तो पे बचन कैसे निभेंगे।' इस प्रकार प्रेम मोहिनी अपने पिता से रणधीर के प्रति अपने प्रेम का समर्थन करती है तथा अपने पिता के बचन और कार्य मे विरोध दिखलाती है।

सामाजिक समता का समर्थन करते हुए रणधीर सूरत के महाराज से अपने विचारो को इन शब्दो मे व्यक्त करता है—'जैसे आपके ऊचे महलो पर सूर्य की धूप पडती है, तैसे ही हमारी गरीब झोपडी मे भी सूर्य भगवान प्रकाश करते हैं। जैसे आपके कलशदार महलो पर घनघोर घटा जल बरसाती है तैसे हमारी गरीब झोपडी को भी अपनी अपार दया से सूखा नही रखती। हमारा आपका सब ससारी हाल एक-सा है और हम तुम को ये झूठा झगडा छोडकर एक दिन अवश्य यहां से जाना पडेगा। परन्तु आपके मुकुट मे अभिमान का तुर्रा और लमा है, ये ही आपकी बडाई है।'[2] उस समय की सामाजिक परिस्थितियो को देखते हुए ये विचार क्रान्तिकारी कहे जायेंगे।

---

१ रणधीर और प्रेम मोहिनी, अक ४, गर्भाक १, पृ० ११९ (दूसरी बार वि० स० १९७२)

२. वही, पृ० ८३

धूर्त नौकर अपने मालिक को लूटने तथा उसकी दुर्बलताओ से लाभ उठाने की चिन्ता मे लगे रहते है। दूसरे नौकर को भी इस मार्ग पर चलने के लिए वे प्रोत्साहित करते हैं। सुखवासीलाल अपने साथी को उपदेश देता है—'देखो जरा दूरनदेशी को काम मे लाओ। नौकरी की जड जमीन मे सवा हाथ ऊची है, इसके ऊपर नाज करना दानिशमन्द का काम नही। तुम नाहक मेहनत करके जान देते हो। मालिक के रूबरू कोशिश और तन्देही करके कारगुजारी दिखलाना, पीछे दोस्त आशनाओ मे बैठ गुलछर्रे उडाना, बातो बातो मे गैर की कारगुजारी धूल करके अपनी खैरख्वाही जनाना। अरे मिया दौलत बडी चीज है, इससे दुनिया के सारे काम निकलते है। देखो, जवानी का कमाया बुढ़ापे मे काम आयेगा।'[1]

नाटककार के सामने युग की सीमायें थी। स्थान मिलते ही उपदेश दे दिए जाते हैं। पर विषय और विधान को ध्यान म रखते हुए इस नाटक मे स्वच्छन्दता-वादी तत्व पूर्ण मात्रा म विद्यमान हैं। रणधीर आवेश मे आकर बुद्धिहीनता का भी परिचय देता है। जीवन उसे नि शस्त्र युद्ध मे जाने से रोकता है, पर उसकी बात अनसुनी कर वह युद्ध म कूद पडता है। शौर्य और विश्वास की अतिशयता के कारण अपने जीवन को सकट म डाल देता है।

नाटककार दुखान्त नाटक लिख रहा है। अत नायक के चरित्र की दुर्बलता उसके पतन और विनाश का कारण होती है। यहा शेक्सपियर का प्रभाव नाटक-कार पर परिलक्षित होता है। यदि रणधीर ने अपने आवेश को सयत कर सशस्त्र युद्ध मे प्रवेश किया होता तो शायद घटना क्रम परिवर्तित होता और नाटक का परिणाम इस प्रकार का नहीं होता।

'रणधीर और प्रेम मोहिनी' मे शौर्य और पराक्रम के साथ करुण रस प्रधान दृश्य भी बडे मार्मिक हैं। सूरत महाराज के 'नजर बाग' नामक वाटिका मे दोनो का मिलन होता है। रणधीर सिंह प्रेम मोहिनी की प्रेम परीक्षा के लिए उससे अलग हो जाता है। यह वियोग नायिका के लिये असह्य हो जाता है। वह फूट फूट कर रोने लगती है। '(गदगद् स्वर से) हे अधम शरीर! तूने प्यारे मित्र का सग न दिया तो क्या हुआ? प्राण तो तेरा साथ छोडकर उसके सग जाता है। हा मित्र! आपके वियोग म बहुत दिन जीने के बदले तत्काल प्राण छोड देना मेरे मन को अच्छा लगता है। हे प्यारे आप मुझको छोड कर चले गये, पर मैं आपसे अलग होने की सामर्थ्य नही रखती।'[2] मूर्छित अवस्था म जो वह विलाप करती है उससे प्रेम की गहराई और निष्ठा प्रगट होती है।

---

१ रणधीर और प्रेम मोहिनी, अक १, गर्भांक ५, पृष्ठ ३२

२ रणधीरसिंह और प्रेम मोहिनी, अक ३, गर्भाक चतुर्थ, पृष्ठ ९७

रणधीर की मृत्यु का दृश्य देखकर शायद ही कोई दर्शक अपने को रोक पाये। वह दर्दनाक चित्र देखकर देखने वाला स्वभावत रो पडता है। वह करुण दृश्य बड़ा ही मर्मस्पर्शी है।

पारसी कम्पनियो मे जिस प्रकार अस्वाभाविक पद्यात्मक सवाद होते थे उसी प्रकार यहा भी पद्य मे विलाप कराया गया है।

'हा मम प्राण महीप सुत, कहा रहे मुखमोर।
बाह गहे की लाज तज चले प्रेम तृण तोर।'[1]

अन्त मे 'रोमियो जुलियट' के समान इसमे भी प्रतिमा स्थापन का दृश्य आता है। सूरत नरेश कहते हैं—'प्रेम मोहिनी की प्रतिमा के सग रणधीरसिंह की रत्न-जटित मूर्ति बनवाकर यहा रखने की मेरे मन मे इच्छा है।'[2]

शालिग्राम वैश्य का 'लावण्यवती सुदर्शन' प्रेम प्रधान दुखान्त नाटक भी कई बार अभिनीत हुआ, पर 'रणधीर और प्रेममोहिनी' की कोटि का यह नाटक नहीं है। इसकी विषय-वस्तु और सवाद कई नाटको से लिए गये हैं। नायिका स्वप्न मे सुदर्शन को देखकर उसपर मुग्ध हो जाती है। नायक और नायिका का साक्षात्कार भी 'विद्या-सुन्दर' तथा 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' के समान वाटिका मे होता है। रणधीर सिंह का मित्र रिपुदमन युद्ध करते हुए रण-क्षेत्र मे अपने मित्र के लिए प्राणो सर्ग करता है। वह रणधीरसिंह से उपकृत होने के कारण अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। यहाँ सुदर्शन का मित्र सुलोचन अपने मित्र को मरा हुआ देखकर आत्म-हत्या कर लेता है।

पौराणिक प्रसगो की उद्भावना से इस नाटक मे कई असगतिया आ गई हैं। यहा पक्षी मनुष्य की बोली बोलता है, दिव्य पुरुष प्रगट तथा अन्तर्धान होता है, राक्षस नायक को उठाकर ले जाता है और सुलोचन अपने मित्र का पता दिन मे चन्द्रमा से पूछता है। नाटककार युगीन परिस्थितियो मे उदासीन है। 'लावण्यवती सुदर्शन' की भूमिका एव प्रस्तावना से प्रगट होता है कि नाटककार का अभिप्राय केवल प्रेम मार्ग के सकटो को चित्रित करना मात्र है। नायक और नायिका की मृत्यु के अतिरिक्त शेष सभी पात्रो की मृत्यु सर्वथा अस्वाभाविक और बेमेल लगती है।

लावण्यवती सुदर्शन' को आधार मानकर जवाहरलाल वैद्य ने 'कमल मोहिनी भवरसिंह' नामक दुखान्त नाटक की रचना की। इन दोनो की अपेक्षा 'बालमुकुन्द पाण्डे' का 'गगोत्री' यथार्थ की भूमिका पर आधारित उत्तम दुखान्त

१. रणधीर और प्रेम मोहिनी अक ५, गर्भांक १, पृ० १३४
२. वही, अक ५, गर्भांक १, पृष्ठ १४९

नाटक है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का यथार्थ चित्र इस नाटक में मिलता है। यथार्थ की पृष्ठभूमि पर शायद यह सर्वश्रेष्ठ दुखान्त रचना है। प्रणय और विरह के मार्मिक चित्र न रहते हुए भी यह नाटक दर्शकों के सम्मुख राजा की जघन्य वासना, उसके अत्याचार, रानी की दयनीय स्थिति तथा सामन्ती व्यवस्था की घिनौनी तसवीर उपस्थित करता है।

राजा जगजीतसिंह अपने सहचर और विश्वासपात्र भेदिया रामकृष्ण से आभीर बाला गगोत्री के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उसपर मुग्ध हो जाता है। आज भी ऐसे नीच स्वभाव के कर्मचारी मिलते हैं जो अपने मालिकों को कुमार्ग की ओर ले जाकर उनकी दुर्बलताओं से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' के सुखवासीलाल और रामकृष्ण ऐसे ही अनुचर हैं। रामकृष्ण गगोत्री के पिता हरवल्लभ को लालच देकर अपनी कन्या का सतीत्व बेचने को तैयार कर लेता है। वह भी उस अवस्था में जब गगोत्री के विवाह के लिए बारात आई हुई है। बारात एक दिन के लिए रोक ली जाती है। पहली किश्त में रामकृष्ण राजा की ओर से गगोत्री के पिता को नेवते में पाँच सौ रुपये देता है। इस कार्य के लिए राजा से और पन्द्रह हजार रुपये की माग करता है। राजकोष रिक्त है, इसलिये नगर सेठ बनारसीदास से ऋण लेने की योजना बनाई जाती है, पर वस्तु स्थिति का ज्ञान हो जाने के कारण वह रुपये देना अस्वीकार कर देता है।

कामान्ध नृपति रानी के आभूषणों की पेटी बलपूर्वक छीन कर अपना कार्य सिद्ध करने के लिए रामकृष्ण के हाथ सौंप देता है। रामकृष्ण सभी आभूषण अपने पास रख लेता है और केवल दो ही गहने गगोत्री के पिता को देता है। हरवल्लभ महतो, गगोत्री को अपनी स्त्री की सहायता से रानी से मिलने के बहाने सात घड़ी रात बीते राजा के पास जाने को तैयार कर लेता है। लोभवश गगोत्री के मा बाप दोनों ही ऐसे निकृष्ट कार्य में लीन हैं। सामन्तशाही का जघन्य अत्याचार इस नाटक में मुखर हो उठा है।

सेठ बनारसीदास रानी की परिचारिका चन्दू के सहारे सभी रहस्य रानी से खोल देता है। चन्दू गगोत्री से मिलकर इस षडयन्त्र का भण्डाफोड़ कर देती है। गगोत्री स्वभाव से पति परायणा और साध्वी युवती है। रानी के आभूषण लौटाने के निमित्त राजा के पास नियत समय पर अपने पिता के साथ पहुंच जाती है। राजा से वह उन सभी बहुमूल्य आभूषणों की माग करती है, जिन्हें रामकृष्ण ने अपने पास छिपा रखे हैं। रामकृष्ण को सभी आभूषण देने पड़ते हैं। गगोत्री आभूषणों से सजकर अपने सतीत्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो दर्पण में अपनी प्रतिमा देखती है। इस समय उसका प्रत्येक रोम विलाप कर रहा है। इसके बाद गिन-गिन कर सभी आभूषणों को उतार कर पेटी में बन्द करती है और रानी को देने के लिए चल पड़ती है।

कामुक राजा उसे देखकर प्रसन्न हो जाता है। वह उसका हाथ पकड़ लेता है,

पर गगोत्री दृढ़ता से उसका हाथ झटक देती है। गगोत्री का नीच पिता भी उसे राजा की आज्ञा मानने की सलाह देता है। भावों से भरी गगोत्री अपनी दयनीय स्थिति तथा मार्मिक पीड़ा को व्यक्त करते हुए अपने पिता से कहती है–'हे पिता! निस्सन्देह तुम्हारा निपुत्री होना ही अच्छा था। तुम्हारा-सा निर्लज्ज व लोभी मनुष्य मेरा बाप होने योग्य कदापि न था। मैंने जो तुमको पिता कर माना और तुमसे स्नेह किया व जिस प्रकार तुम्हारी सेवा व आज्ञा पालन मे तत्पर रही, मेरे वर्ण की पुत्री अपने बाप की ऐसी न कर सकेगी। परन्तु तुमने उसका यह पल्टा चुकाया। कदाचित् ईश्वर तेरी चूक क्षमा कर दें पर मैं कभी न क्षमा करूँगी। तुम जानते हो कि मैं अनभिज्ञ बनकर तुम्हारे साथ आई हूँ। मैं तुम्हारी इन करतूतों को जानती थी। परन्तु यदि मैं न आती तो मेरी रानी के गहने पापी रामकृष्ण के लिए अमृत का गुटका हो जाता। मैं केवल गहना देने आई थी, सो दे चुकी, देखूँ, अब मेरे साथ कोई क्या करता है ?'[1] अपने सतीत्व और मर्यादा की रक्षा के लिए वह अब सब कुछ करने को तैयार है। राजा के कर्मचारी तथा उसका पतित पिता भी उसे बलपूर्वक उठाकर वाटिका मे पहुँचा देते हैं। वह अपने लोभी पिता तथा वासना के गर्त मे आकण्ठमग्न राजा को भी डाटती है, धिक्कारती है। इसी बीच उसका पति भी जिसके साथ कुछ घण्टे पूर्व ही अग्नि को साक्षी देकर उसका विवाह हुआ है, वहाँ आ पहुँचता है। रामकृष्ण उसे गोली मार देता है। गगोत्री अपने पति की लाश से लिपट कर फूट फूट कर रोती है। दर्शकों की भीड़ चारों ओर खड़ी है। इस भीड़ मे भी वह कामान्ध नृपति उसके अंगों को स्पर्श करता है।

गगोत्री रामकृष्ण की तलवार छीनकर उसपर आक्रमण करती है और उसी के तमंचे से आत्म हत्या कर लेती है। वह युवती अपने पति की लाश पर तड़प-तड़प कर छटपटाती हुई प्राण त्याग करती है।

अपने समय का यह एक-मात्र प्रतिनिधि दुखान्त नाटक है, जिसकी नायिका निम्न वर्ग की है तथा नाटक यथार्थ के धरातल पर आधारित वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है।

भारतेन्दु काल के प्रेम प्रधान नाटकों मे नायक और नायिका के परस्पर आकर्षण तथा दोनों के प्रेम सूत्र मे बँध जाने के तीन माध्यम स्वीकृत हैं, रूप, गुण, श्रवण, साक्षात् प्रथम दर्शन और स्वप्नदर्शन। रूप और गुण की प्रशंसा सुनकर दोनों के परस्पर आसक्त होने की परम्परा नल दमयन्ती से अपनायी गई है। उषा और अनिरुद्ध की भाँति स्वप्न दर्शन को भी प्रणय का माध्यम स्वीकार किया गया है। दोनों के प्रथम मिलन से प्रेम-सूत्र मे आबद्ध होने की प्रथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से ली गयी

१. गगोत्री, अंक ५, गर्भांक १, पृष्ठ ६९

है। राज उपवन में प्रथम मिलन से प्रणय सूत्र में बंधने का क्रम हिन्दी में 'विद्या-सुन्दर' में आरम्भ होता है, जिसे 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' तप्तासंवरण, 'मदन मंजरी' प्रभृति नाटकों में अपनाया गया है।

इस युग में नाटककारों ने शास्त्रीय प्रणाली की जटिलता से निकल कर नवीन पाश्चात्य प्रभावों को युगीन परिस्थितियों और रुचियों के अनुकूल स्वीकार किया, साथ ही समाज सुधार, सामाजिक कुरीतियों और जर्जर परम्पराओं की भर्त्सना की ओर ध्यान दिया। प्राचीन इतिहास के गौरवमय चित्रों को, जिनसे देश और जाति में नव-जीवन का संचार हो, अपने नाटकों में प्रस्तुत किया। विषय-वस्तु का विस्तार इस युग में व्यापकता से हुआ। विभिन्न प्रकार के चरित्रों, उदात्त तथा निम्नवर्ग के पात्रों जैसे कुंजड़िन, दलाल, दुकानदार आदि का समावेश किया गया।



२

प्रसाद के नाटकों का विहंगावलोकन

प्रारम्भिक काल

प्रसाद के आरम्भ के चार नाटको —सज्जन, प्रायश्चित, कल्याणी-परिणय, और 'करुणालय' का साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान न रहते हुए भी उनकी नाट्य कला की विकास-प्रक्रिया को समझने के लिए अध्ययन आवश्यक है। इनमे उन्होने विभिन्न काल से कथा-वस्तु का चयन किया है तथा भिन्न शिल्प का प्रयोग किया है किसी में शास्त्रीय-पद्धति का प्रयोग किया है तो दूसरे मे सर्वथा नवीन शैली अपनायी है। प्रारम्भ-काल होने के कारण नाटककार की नाट्य-कला का स्वरूप स्थिर नही हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। विषय-वस्तु की दृष्टि से आरम्भ से ही इस बात का निश्चयात्मक सकेत मिलता है कि प्रसाद वैदिक, प्राचीन सस्कृत-साहित्य तथा इतिहास की खोज मे लीन हैं।

पहला नाटक 'सज्जन' है, जिसका कथानक महाभारत के अश विशेष से लिया गया है। दुर्योधन, द्वैतसरोवर के निकटवर्ती कानन मे कर्ण और शकुनि के साथ उत्सव मनाने गया है। यही पाण्डव भी अज्ञातवास कर रहे हैं। गन्धर्वराज चित्रसेन इस प्रदेश के रक्षक हैं। उनकी विनम्र प्रार्थना को अनसुनी करके दुर्योधन आदि उस प्रदेश मे मृगया खेलने का प्रयत्न करते है। अतः दोनो पक्षो मे युद्ध होता है और अन्त मे दुर्योधन अपने मित्रो सहित बन्दी किया जाता है। उसी वन मे स्थित युधिष्ठिर को जब इस घटना का ज्ञान होता है तो वे भीम के असहमत होने पर भी अर्जुन को उसी समय भेजते हैं कि वे दुर्योधन आदि को अपने बाहुबल से शीघ्र मुक्त करें। अर्जुन और गन्धर्वसेन मे युद्ध होता है, पर चित्रसेन बीच मे ही अपने मित्र अर्जुन को पहचान लेते हैं और युद्ध बन्द करने का आदेश देते है। सभी युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित होते हैं तथा दुर्योधन प्रभृति बन्धन से छुटकारा पाते हैं। चित्रसेन युधिष्ठिर से सुरेन्द्र का आशीर्वाद निवेदन करते है तथा यह भी

सूचित करते है कि देवेन्द्र को कौरवो के असत्परामर्श का ज्ञान हो गया था। सभी युधिष्ठिर की क्षमा और सहनशीलता की प्रशसा करते हैं और दुर्योधन भी युधिष्ठिर की गरिमा के सम्मुख नतमस्तक होता है।

शिल्प विधान की दृष्टि से 'सज्जन' पर भारतेन्दु का प्रभाव परिलक्षित होता है। सज्जन' को छोड़कर और कोई नाटक संस्कृत की नाट्य-परम्परा से इस प्रकार प्रभावित नही है। सर्व प्रथम नान्दी मे शकर की वन्दना है। शिवरूपी किरात स अर्जुन को दिव्यास्त्रो की प्राप्ति हुई थी। दुर्योधन इन अस्त्रो के कारण पाण्डवो से ईर्ष्या करता था। इस प्रार्थना म कथानक की ओर भी सकेत किया गया है। यह नान्दी संस्कृत परम्परा के अनुकूल है। नान्दी के अनन्तर प्रस्तावना है और अन्त म भरत वाक्य का विधान है। तीन स्थलो पर सवाद पद्यात्मक हैं। एक पात्र अपनी बात पद्य म कहता है और दूसरा इसका उत्तर पद्य मे ही देता है। भारतेन्दु न 'कर्पूर मजरी' मे पद्यात्मक सवाद का प्रयोग किया है। प्रसाद ने भी शायद उसी से प्रभावित होकर इस प्रकार का प्रयोग किया है। संस्कृत नाटको की भाति स्वगत का भी विधान हुआ है, जिसका प्रयोग क्रमश कम होता गया है और ध्रुवस्वामिनी' मे जिसका प्रयोग बिलकुल नही हुआ है।

प्रायश्चित

'सज्जन' के विपरीत 'प्रायश्चित' पूर्णत पाश्चात्य शैली पर लिखा गया सम्भवत हिन्दी का प्रथम दुखान्त एकाकी है। इसके कथानक का सम्बन्ध मुसलमानो का भारत पर आक्रमण और शासन की स्थापना से है। जयचन्द ईर्ष्या द्वेष के कारण अपने जामाता पृथ्वीराज स प्रतिशोध लेने के लिए मुहम्मदगोरी को आमन्त्रित करता है। युद्ध म पृथ्वीराज की मृत्यु होती है। जयचन्द अपनी सफलता पर क्षण भर के लिए प्रसन्न होता है। पर उसी समय वह आकाश म दो विद्याधरियो के परस्पर वार्तालाप को और उनके तीखे व्यग्य को सुनकर अपने नीच और पतित कार्यों के लिए पश्चात्ताप करता है। विद्याधरियो के सभाषण का इतना सघन प्रभाव उसके ऊपर पड़ता है कि सयोगिता की पृष्ठ-मर्दिता सिहनी मूर्ति उसकी आखो के सामने प्रत्यक्ष हो उठती है। वह विक्षिप्त हो उठता है। इस विक्षिप्तावस्था मे राज्य का भार अपने पुत्र और मत्री को देकर प्रायश्चित के लिए चल पड़ता है। वह गगा म कूद कर आत्महत्या करता है।

इस नाटक म नान्दी, प्रस्तावना नही है, पद्यात्मक सवाद भी नही है। दुखान्त होने के कारण अन्त मे भरत वाक्य का न होना स्वाभाविक ही है। भाषा अवसर के अनुकूल है।

कल्याणी-परिणय

यह नाटक आज स्वतन्त्र रूप म उपलब्ध नही है। 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अक मे परिवर्तित होकर इसका अन्तर्भाव हो गया है। इसकी विषय वस्तु का सम्बन्ध

उस ऐतिहासिक घटना से है जिसमे चन्द्रगुप्त अपने बाहुबल से नन्दवश का नाश करता है तथा सिल्यूकस को पराजित कर उसकी कन्या कार्नेलिया से विवाह करता है। यहा कार्नेलिया ही कल्याणी है। इस विवाह से दोनो पक्षों का कल्याण तथा दोनो में स्थायी मैत्री की स्थापना होती है। चन्द्रगुप्त अपने श्वसुर सिल्यूकस की सहायता के लिए सेनापति चडविक्रम को नियुक्त करता है। इसके प्रमुख पात्र है चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिल्यूकस और कार्नेलिया।

चाणक्य अपने बुद्धि-वैभव का प्रयोग, चन्द्रगुप्त के निष्कटक राज्य की स्थापना तथा दोनो कुलों को दृढ मैत्री-बन्धन मे बाधने के लिए करता है। चन्द्रगुप्त के शौर्य और पराक्रम उल्लेखनीय हैं। वह अवसर के अनुकूल मित्र-शत्रु दोनो ही हो सकता है तथा दोनो अवस्थाओ मे उदार है। सिल्यूकस में अभिमान और कायरता के लक्षण विद्यमान हैं।

इस नाटक का कथानक नौ दृश्यों मे विभक्त है। प्रारम्भ में नान्दी है पर प्रस्तावना का विधान नहीं है। अन्त मे कल्याणी परिणय के उपलक्ष्य मे किया गया मगल-गान भरत वाक्य के समान है। सम्वादो में पद्य का प्रयोग किया गया है। इसके गीत प्रौढ हैं और उनका प्रयोग प्रसगानुकूल हुआ है।

करुणालय

यह हिन्दी का प्रथम गीति-नाट्य है। यह नाटक पाच दृश्यो मे विभक्त है तथा इसका कथानक वैदिक साहित्य से लिया गया है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना, और भरत वाक्य का विधान नही है। सरयू मे महाराज हरिश्चन्द्र का अपने सेनापति ज्योतिष्मान के साथ नौका-विहार से प्रथम दृश्य का आरम्भ होता है। सहसा महाराज की नाव रुक जाती है। आकाशवाणी द्वारा उन्हे पुत्र-बलि का स्मरण कराया जाता है। हरिश्चन्द्र पिता होने के कारण पुत्र की ममता और स्नेह से परिचित हैं। पर कर्त्तव्य के अनुरोध से वे पुत्र बलि की प्रतिज्ञा करते है और नाव लौटती है। राजकुमार रोहित पिता की आज्ञा का गौरव समझते हुए भी अपने प्राणों को सार्वजनिक सम्पत्ति मानने को प्रस्तुत नही। उस पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार मानता है। रोहित को आकाशवाणी द्वारा इन्द्र का आशीर्वाद प्राप्त होता है। वह ऋषि अजीगर्त के आश्रम पर पहुचता है जहा अकाल के कारण सभी पशु-पक्षी दुखी और व्यग्र हैं। राजकुमार सौ गायें देकर ऋषि के मध्यम पुत्र शुन शेफ को नरमेध के लिए खरीद कर अपने पिता के पास लौटता है। आरम्भ मे महाराज आज्ञा-भग करने के कारण रोहित से अप्रसन्न होकर उसे राज्याधिकार से वचित करते हैं। महर्षि वशिष्ठ राजकुमार के कार्य का समर्थन करते हैं, और उसका औचित्य सिद्ध करते हैं। महाराज नर-बलि के लिये प्रस्तुत होते हैं। यज्ञ के सभी उपकरण प्रस्तुत हैं। महर्षि वशिष्ठ, महाराज हरिश्चन्द्र और रोहित सभी यथा-

स्थान बैठे हैं। शुन शेफ यूप से बधा है। वसिष्ठ का पुत्र शक्ति बलि देने के लिए आगे बढ़ता है, पर करुणा से द्रवित इस प्रकार के नृशसकार्य मे अपने को असमर्थ पाकर शस्त्र फेंक देता है। स्वार्थान्ध अजीगर्त इस नृशसकृत्य के लिए प्रस्तुत होते है। शुन शेफ जगत्पिता स करुणा के लिये प्रार्थना करता है।

इसी बीच आकाश गर्जन के साथ विश्वमित्र अपने सौ पुत्रों सहित उस यज्ञ मडप मे पहुचते हैं। वे ऋषि वसिष्ठ की तथा इस मिथ्याचार की भर्त्सना करते हैं। एक राजकीय दासी जो विश्वामित्र की पत्नी है तथा शुन शेफ जिसका पुत्र है, ठीक इसी समय वहा पहुच जाती है। वह अजीगर्त ऋषि को वधिक और चाण्डाल आदि सम्बोधनो स फटकारती है। विश्वमित्र उस पहचान कर अपनाते हैं और वह दासी-कर्म से मुक्ति पाती है। शुन शेफ को उसके पिता माता के दर्शन होते हैं तथा उसका बन्धन अपने आप खुल जाता है। सभी समवेत स्वर से सबकी मगल कामना करते हैं।

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से रोहित की तर्क शीलता तथा पिता के आदेश की अवहेलना का सुन्दर चित्रण हुआ है। अजीगर्त की नीच तथा सकीर्ण भावना और हरिश्चन्द्र की धर्म भीरुता का वर्णन प्रभावोत्पादक है। इसमे 'अभित्राक्षर अरिल्ल' छन्द का प्रयोग हुआ है। 'राघव विजय' और 'मारीचवध' का उदाहरण देकर प्रसाद जी ने इसे 'राग-काव्य' की कोटि म रखा है। ये प्राचीन राग काव्य ही आज-कल की भाषा म गीति-नाट्य कहे जाते हैं।'[1] गीति नाट्य के उपयुक्त चन चरणों का प्रयोग हुआ है। वाक्य-रचना के अनुसार विरामचिन्ह दिये गये हैं।

प्रयोग काल

प्रसाद के नाटकों के विकास-क्रम का द्वितीय सोपान 'राज्यश्री' के निर्माण स आरम्भ होता है। यहा से विषय-वस्तु का अको म विभाजन प्रारम्भ होता है। 'राज्यश्री' का वर्तमान सस्करण प्रथम सस्करण का, जो 'इ दु' मे प्रकाशित हुआ था, परिवर्तित और परिवर्धित रूप है। प्रथम सस्करण म तीन अक थे। प्रथम अक म पाच, द्वितीय अक म छ, और तृतीय अक म पाच दृश्य थे। वर्तमान सस्करण मे चार अक हैं तथा प्रथम अक म दो दृश्य और द्वितीय अक मे एक दृश्य जोडा गया है। प्रथम सस्करण म 'राज्यश्री के चितारोहण के साथ नाटक समाप्त होता है। द्वितीय सस्करण मे शान्ति भिक्षु और सुरमा इन दो काल्पनिक पात्रों का समावेश किया गया है। दूसरे सस्करण म कुछ अनैतिहासिक तथ्यो का परिमार्जन भी हुआ हैं। मूल सस्करण म नरेन्द्र गुप्त का हर्ष के सैनिक स्कन्दगुप्त द्वारा वध दिखलाय गया है—यह बाद के सस्करण म नहीं आया है। दूसरे सस्करण मे विपरी

---

१ प्रसाद जी 'काव्य और कला' तथा अन्य [illegible] ध पृ० ९२ ९३

चरित्रवाले पात्रों के संयोग में चरित्र विकास के लिए प्रथम की अपेक्षा अधिक उपयुक्त अवसर मिलता है।

नाटक में प्रथम अंक की समस्त घटनाओं का केन्द्र कान्यकुब्ज (कन्नौज) है। प्रथम दृश्य का आरम्भ नदी तट के उपवन में शान्तिदेव और सुरमा के प्रणयालाप से आरम्भ होता है। वहीं कन्नौज के राजा ग्रहवर्मा के राज्य पर आधिपत्य स्थापित करने की भावना से युक्त मालवेश देवगुप्त छद्मवेश में आता है और सुरमा से उस उपवन में कुछ दिन ठहरने के लिए अनुमति मांगता है। शान्ति देव अपनी भाग्य परीक्षा के लिए राज्यश्री के दान में सम्मिलित होता है। देवगुप्त अवसर पाकर सुरमा से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करता है। इधर ग्रहवर्मा सीमाप्रान्त जंगलों में मनोविनोद के लिए मृगया खेलने जाते हैं। देवगुप्त का षडयंत्र सफल होता है। उसके द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर ससैन्य वीरसेन पहुंच जाता है और एक सहस्र सैनिक प्रच्छन्न रूप से कन्नौज में देवगुप्त के समीप जाते हैं। ग्रहवर्मा के मन्त्री को दूत द्वारा समाचार प्राप्त होने पर वह स्वयं नगर-रक्षा का भार लेता है और कुछ सेना सीमा की रक्षा के लिए भेजता है। इधर राज्यश्री शान्तिदेव के दुर्व्यवहार से दुखी होती है। इसी समय मन्त्री आकर उसे युद्ध का सन्देश देता है। राज्यश्री मन्दिर में प्रतिमा के अट्टहास भ्रम से निश्चेतन हो जाती है। देवगुप्त स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज पर आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा में संलग्न है। वह कान्यकुब्जेश्वर ग्रहवर्मा को हराकर 'राज्यश्री' को बन्दी बना लेता है।

दूसरे अंक में शान्तिभिक्षु अपनी वासना-तृप्ति में असफल होने के कारण दस्यु रूप में हमारे सामने आता है। वह राज्यवर्धन की सेना में, जो ग्रहवर्मा का प्रतिशोध लेने और राज्यश्री को मुक्त करने के अभिप्राय से कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए आ रही है, सम्मिलित होता है। गौडेश्वर नरेन्द्रगुप्त अपने राज्य के विस्तार की भावना से राज्यवर्धन से मैत्री स्थापित कर ससैन्य कन्नौजयुद्ध में सम्मिलित होता है। शान्तिदेव (विकट घोष) के आकर्षण के दो केन्द्र हैं—सुरमा और राज्यश्री। राज्यश्री बन्दी है और सुरमा राजमन्दिर में देवगुप्त की प्रणयिनी होकर विराज रही है। मालवराज के सहचर मधुकर से दोनों के बन्दी होने का समाचार पाकर विकट घोष पहले उपवन में सुरमा और देवगुप्त के पास यक्षरूप में पहुंचता है जहां वे प्रणय-सुख का आनन्द ले रहे हैं। इसी समय रण-कोलाहल से भयभीत देवगुप्त सुरमा को वहीं छोड़कर चला जाता है। सुरमा विकटघोष को पहचान कर उससे क्षमा याचना करती है। राज्यवर्धन और नरेन्द्रगुप्त की सम्मिलित शक्ति क्रमशः आगे बढ़ती आ रही है। विकटघोष राज्यवर्धन का कल्पित दूत बनकर राज्यश्री के पास पहुंचता है और उसे अपने सहचर दस्युओं के साथ गुप्तमार्ग से किसी निर्दिष्ट सुरक्षित स्थान पर भेज देता है। वह युद्ध कोलाहल से भयभीत

और क्रन्दन करती हुई सुरमा के पास जाती है। उसे मूर्च्छित अवस्था में लेकर वह बाहर जाता है। इस युद्ध में देवगुप्त की मृत्यु होती है।

विकटघोष और सुरमा मार्ग में अपने भावी कार्य-क्रम पर विचार कर रहे हैं। वे गौडाधिप के शिविर में आते हैं और वहाँ सब मिलकर राज्यवर्धन की हत्या के लिए षड्यन्त्र करते हैं। राज्यश्री दिवाकर मित्र की सहायता से दस्युओं के चंगुल से मुक्त होती है। रणक्षेत्र में हर्षवर्धन और पुलकेशिन में सन्धि होती है। युद्ध भूमि में हर्ष को चर द्वारा राज्यश्री के जीवित रहने का सन्देश प्राप्त होता है। राज्यश्री दुख और निराशा से टूटकर महात्मा दिवाकर मित्र के रोकने पर भी प्रज्वलित चिता में प्रवेश करने का उपक्रम कर रही है। इतने में हर्ष वहाँ पहुँचता है। राज्यश्री हर्ष को देखकर अतीत के सभी दुखों को भूल जाती है। वह विजयोत्फुल्ल हर्ष को दुखमय मानव जीवन में दया और क्षमा का महत्व समझाती है। भाई-बहन दोनों लोक-सेवा का व्रत लेते हैं।

चतुर्थ अंक में विकटघोष, सुरमा और अन्य सहचरों के साथ कान्यकुब्ज के दानोत्सव में सम्मिलित होता है, जहाँ राज्यश्री अपना समस्त कोष दान कर रही है। यहाँ से वे प्रयाग के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रस्थान करते हैं। यहाँ महाराज हर्ष को दो सूचनायें मिलती हैं। सेनापति भण्डि के द्वारा उन्हें यह सूचना मिलती है कि गौडाधिप शशांक सन्धि का प्रार्थी है। दौवारिक यह सूचित करता है कि धार्मिक द्वेष के कारण महाश्रमण सुएनच्वांग पर जो आक्रमण हुआ था, उससे वे बच गये हैं और हत्यारे पकड लिए गए हैं। राज्यश्री के अनुरोध से हर्ष, नरेन्द्रगुप्त को क्षमा करता है।

नाटक के अन्तिम दृश्य में बुद्ध-प्रतिमा के सम्मुख सम्राट हर्ष प्रमुख सामन्तों तथा चीनी यात्री सुएन च्वांग के साथ उपस्थित है। सर्वस्व दान कर लेने के पश्चात् वे राज्यश्री से एक वस्त्र माँगकर धारण करते हैं। राज्यश्री भी सभी कुछ दान में देने के बाद सुएन च्वांग से एक वस्त्र लेकर धारण करती है। वह राज्यवर्धन के वधिक विकटघोष को क्षमा करती है। सुरमा और विकटघोष सन्यास धारण करते हैं। सबके अनुरोध पर हर्ष धर्म की रक्षा के लिए राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करता है। हर्ष और राज्यश्री की जय-ध्वनि के साथ नाटक समाप्त होता है। अन्त में भरतवाक्य है जिसमें जगत के चराचर प्राणियों में दया और शान्ति की कामना की गई है।

विशाख

प्रसाद की नाट्य कला की व्यवस्थित भूमिका 'विशाख' की रचना [redacted] आरम्भ होती है। 'राज्यश्री' को प्रसाद पहला ऐतिहासिक रूपक स्वीकार करते हैं, जिसका कथानक अंकों [redacted] विभक्त हुआ है। इस काल तक वे कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं कर

कारण अनावश्यक दृश्यों की योजना हुई है, फिर भी यहां पात्रों के चरित्र-विकास के साथ वस्तु का भी सामंजस्य हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं का घात-प्रतिघात तथा उनमें पात्रों के वैयक्तिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करते हुए नाटक का अन्त होता है। 'सभी पात्रों का एक पक्ष भारतीय राजनीति के परिवर्तन में देखा जाता है और दूसरा व्यक्तिगत पार्श्व भूमि पर। एक तरह से सारा वस्तुविन्यास दो स्तरों पर चलता है, जिससे नाटक में अधिक स्वाभाविकता आई है।'[1]

अन्तर और बाह्य संघर्ष की भित्ति पर निर्मित 'स्कन्दगुप्त' प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। शिल्प की दृष्टि से इसमें प्राच्य और पाश्चात्य दोनों शैलियों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। इसके कथानक में तत्कालीन भारत के वातावरण और सामाजिक चित्रण के साथ चरित्रों का विकास सन्तुलित रूप से हुआ है।

कथानक का आरम्भ उज्जयिनी में गुप्त साम्राज्य के स्कन्धावार से होता है, जहां स्कन्दगुप्त अधिकार सुख के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करता है। वह उत्तराधिकार के अव्यवस्थित नियम के प्रति उदासीन है। वह सेनापति से साम्राज्य की विषम स्थिति और दशपुर के दूत से मालवपति के निधन का समाचार सुनकर बर्बर हूणों से मालव की रक्षा के लिए तत्पर होता है। मगध-सम्राट कुमारगुप्त अपनी वृद्धावस्था में नयी पत्नी अनन्तदेवी के साथ विलास-रत हैं। अनन्तदेवी महाबलाधिकृत भटार्क के साथ मिलकर अपने पुत्र पुरगुप्त के हित की अभिलाषा से स्कन्द, देवकी तथा सम्राट के विरुद्ध षडयन्त्र कर रही है। भटार्क को पुष्यमित्रों के युद्ध में सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसलिए वह असंतुष्ट है। बौद्ध कापालिक प्रपंचबुद्धि की सलाह से भाद्र की अमावस्या का दिन निश्चित होता है। स्कन्द की माता देवकी के द्वार पर शर्वनाग प्रहरी नियुक्त होता है। किसी को वहां जाने की अनुमति नहीं मिलती। महादेवी नियंत्रण में रखी गयी हैं। कुमारगुप्त अस्वस्थ होते हैं। उनकी अवस्था प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है। उनका निधन होता है, और उनकी मृत्यु का समाचार गुप्त रखा जाता है। भटार्क परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय की घोषणा करता है, और कुमारामात्य, महादण्डनायक, और महाप्रतिहार से शस्त्र अर्पण करके परम भट्टारक को अभिवादन करने की आज्ञा देता है। ये तीनों राजभक्त साम्राज्य की अन्तर्विद्रोह से रक्षा के लिए उसे चेतावनी देते हुए आत्महत्या करते हैं। भटार्क को इन स्वामिभक्त रत्नों की आत्महत्या पर पश्चाताप और ग्लानि होती है। नगर प्रान्त में मुद्गल और मातृगुप्त के सम्वाद से यह पता चलता है कि बर्बर हूणों का आतंक समाप्त हो चला है। यहां गोविन्दगुप्त को ज्ञात होता है कि युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्मा की सहायता के लिए गए

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १६१

है। प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य की घटनायें अवन्ती में घटती हैं जब स्कन्द शकों और हूणों की सम्मिलित शक्ति को पराजित कर उसकी रक्षा करता है। यहीं विजया और राजकुमारी देवसेना स्कन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व को देखती हैं।

स्कन्द शासनाधिकार से उदासीन है। पुरगुप्त के लिए ही वह उसे छोड़ देना चाहता है। मगध में दूसरी ओर भटार्क और प्रपंचबुद्धि दोनों ने शर्वनाग को अपने कुचक्र में फंसाकर महादेवी देवकी की हत्या का जाल रचा है और धातुसेन तथा मुद्गल उनकी रक्षा के लिए प्रस्तुत होते हैं। शर्वनाग की पत्नी रामा उसे इस कृतघ्नतापूर्ण नीच कर्म से रोकती है, उसे डाँटती फटकारती है। वह महादेवी देवकी के पास पहुंचकर अपने पति के कुकृत्य पर दुखी होती है और उन्हें सान्त्वना देती है। अनन्तदेवी सबके साथ बन्दीगृह में पहुंच कर देवकी को मारने के लिए प्रस्तुत होने की आज्ञा देती है। स्कन्द वहाँ पहुंचकर इस षड्यन्त्र को निरर्थक करता है और द्वन्द्व युद्ध में भटार्क घायल होता है। अवन्ती में स्कन्द के राज्याभिषेक के समय गोविन्द गुप्त, वहां उपस्थित है। जयमाला और देवसेना वहां आती हैं। जयमाला के कहने पर कि सिंहासन आपका है, स्कन्द सिंहासन पर बैठता है। देवकी के इच्छानुसार सबको क्षमा दान मिलता है।

तीसरे अंक का आरम्भ शिप्रा तट पर प्रपंचबुद्धि के उग्रतारा अनुष्ठान से होता है। यहां भटार्क से उससे भेंट होती है। वह शत्रु से बदला लेने के लिए उसे प्रेरणा देता है। विजया राजकुमारी देवसेना से प्रतिशोध लेने के लिए षड्यन्त्र में भाग लेती है। वह राजकुमारी को बलि के लिए प्रपंचबुद्धि के पास पहुंचा कर वहां से चली जाती है। ठीक इसी समय मातृगुप्त आकर देवसेना की रक्षा करता है। मगध में पुरगुप्त को उसकी माता अनन्त देवी धिक्कारती है। भटार्क उसे राजाधिराज बनाने के लिए वचन देता है। हूणराज के दूत से भटार्क आगामी युद्ध में हूणों की सहायता की प्रतिज्ञा करता है तथा अपनी योजना प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि मगध की रक्षक सेना भी युद्ध में सम्मिलित होगी। मैं ही उसका परिचालन करूंगा। यहां पुरगुप्त का विलासी रूप भी प्रत्यक्ष होता है। इस युद्ध में भटार्क के नेतृत्व में मगध सेना स्कन्द के साथ विश्वासघात करती है। बन्धुवर्मा युद्ध में वीरगति को प्राप्त करते हैं। भटार्क बन्ध तोड़ देता है। कुभा में जल बड़ी तेजी से बढ़ता है जिसमें सब बह जाते हैं। हूणों का कुसुमपुर तक अधिकार हो जाता है।

चौथे अंक में अनन्तदेवी से अपमानित तथा बहिष्कृत विजया शर्वनाग के साथ देश के कल्याण के लिये कटिबद्ध होती है। स्कन्द की खोज में देवकी की भटार्क से भेंट होती है। उसके कटु उत्तर को सहने में असमर्थ देवकी की मृत्यु होती है। पर भटार्क अपनी माता कमला की बातों से प्रभावित होता है। उसे अपने कुकर्म पर पश्चाताप होता है और क्षमा मांगता है। स्कन्द अकेला और असहाय बनकर भटकता है। कमला की प्रेरणा और प्रोत्साहन से उसे सान्त्वना

मिलती है। देवसेना सुरक्षित है—यह सम्वाद भी उसे कमला से ही प्राप्त होता है। अपनी माता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह व्यथित होता है।

पाचवें अक के आरम्भ म विदूषक मुद्गल से सभी परिस्थितियो का ज्ञान होता है। विजया की मन स्थिति म परिवर्तन दिखलाई पडता है। भटार्क भी स्कन्द गुप्त के दर्शन की इच्छा से कनिष्क स्तूप के पास जाने को प्रस्तुत है। वही सब बिखरे रत्न मिलते हैं। आर्य पर्णदत्त ने भिक्षा मागकर सबको जीवित रखा है। देवसेना महादेवी की समाधि के पास स्कन्दगुप्त को यह सूचना देती है कि आर्य साम्राज्य के बिखरे रत्नो की सभा इसी आश्रम म होती है। स्कन्द को देवसेना की दयनीय स्थिति पर मार्मिक पीडा होती है। वह उसके साथ जीवन के शेष दिन एकान्त मे रहकर व्यतीत करने का प्रस्ताव करता है। देवसना स्कन्द को अकर्मण्य बनाना स्वीकार नही करती है। आत्महत्या के पश्चात् विजया के शव-सत्कार के समय भटार्क को उसके रत्नगृह मिलते हैं। विक्रमादित्य स्कन्द गुप्त के नेतृत्व म पुन हूणो से सघर्ष होता है। हूण पराजित होते हैं। स्कन्द पुरगुप्त को रक्त का टीका लगा कर युवराज बनाने की घोषणा करता है। देवसना और स्कन्द की मार्मिक विदा के साथ नाटक का अन्त होता है।

बाह्य आक्रमणो, अन्तर्विद्रोह तथा वैयक्तिक द्वन्द को लेकर नाटक की विषय वस्तु की रचना हुई है। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो के साथ-साथ पात्रो के चरित्र का विकास इस नाटक मे बडी सफलता से हुआ है। शिल्प की दृष्टि से अको का विभाजन यद्यपि शास्त्रीय पद्धति पर हुआ है और नाटक सुखान्त भी है, पर अन्ततः दुखान्त शैली पर इसका निर्माण हुआ है। सुख और दुख से युक्त मनोवैज्ञानिक स्थिति मे पर्यवसान इस नाटक की विशेषता है। शील वैचित्र्य के निरूपण को जो पाश्चात्य नाट्य साहित्य की विशेषता है, इस नाटक मे अपनाया गया है।

चन्द्रगुप्त

'चन्द्रगुप्त' प्रसाद का तृतीय ऐतिहासिक नाटक है। इसमे उन्होंने अपने ऐतिहासिक अनुसन्धान से प्राप्त सामग्री का प्रयोग कर इस ऐतिहासिक तथा काव्यात्मक नाटक की रचना की है। इस नाटक की विषय-वस्तु महाकाव्य के उपयुक्त है। प्रसाद जैसा कवि-व्यक्ति ही इतनी बडी घटनावली को आधार मानकर, जिसमे मगध से गान्धार तक की घटनायें समाविष्ट हैं, नाटक का निर्माण कर सकता है। इतनी विस्तृत भूमिका और दीर्घ अवधि के कारण नाटक मे काल की अन्विति का अभाव स्वाभाविक है। 'स्कन्दगुप्त' के समान इसकी विषय-वस्तु गठित नही है। पात्रो के निर्माण में यद्यपि चाणक्य और चन्द्रगुप्त जैसे प्रभावशाली और सशक्त चरित्र हैं। जहा एक ओर बुद्धि वैभव और राजनैतिक दूरदर्शिता का उदाहरण है तो

दूसरा पौरुष और शक्ति का केन्द्र, पर इन पात्रो मे जिस प्रकार का उतार-चढाव, उत्थान पतन नाटक में अपेक्षित है, उसका अभाव खटकता है।

सिकन्दर का भारत पर आक्रमण, नन्दवश का समूल विनाश तथा सिल्यूकस की पराजय और चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया के साथ परिणय इस नाटक की प्रमुख घटनायें हैं जिसे लेकर इस नाटक का कथानक निर्मित हुआ है। इन तीनो घटनाओ के मूल मे चन्द्रगुप्त है, जिसे प्रेरणा और निर्देशन चाणक्य से मिलता है।

कथानक का आरम्भ तक्षशिला के गुरुकुल से होता है जहा नाटक का प्रमुख पात्र चाणक्य अपनी गुरुदक्षिणा के स्थान पर अर्थशास्त्र का अध्यापन कार्य कर रहा है। चन्द्रगुप्त और मालव राजकुमार सिंहरण उसके शिष्य हैं। तक्षशिला के राजकुमार आम्भीक से विवाद के कारण दोनों उस स्थान का त्याग करते हैं। आम्भीक पर्वतेश्वर से विरोध के कारण यवनो का साथ देता है।

कुसुमपुर मे नन्द, विलास के उपकरण जुटाने मे लीन है। सुवासिनी पर आकृष्ट होने के कारण राक्षस को अमात्य पद पर नियुक्त करता है। मगध की प्रजा नन्द के अत्याचारपूर्ण शासन से त्रस्त और दुखी है। चाणक्य को मगध आने पर अपने पिता का निर्वासन दण्ड तथा शकटार के परिवार की दयनीय दशा का ज्ञान होता है। मगध की राजकुमारी कल्याणी भी ब्रह्मचारियो के मुख से नन्द के अत्याचार का वर्णन सुनकर दुखी होती है।

राजसभा मे पर्वतेश्वर के प्राच्य देश की राजकुमारी से विवाह सम्बन्ध अस्वीकार करने के कारण क्रोध का वातावरण छाया हुआ है। तक्षशिला से लौटे स्नातको की परीक्षा के समय चाणक्य की स्पष्टोक्ति से तथा उसे ब्राह्मण जानकर नन्द क्षुब्ध हो उठता है। वह यवन आक्रमण की भी सूचना देता है। कल्याणी इस युद्ध मे सम्मिलित होना चाहती है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनो पर्वतेश्वर को सहायता देने के पक्ष मे हैं, पर नन्द अपमानित होने के कारण उनकी बात नही सुनता और उन्हे निर्वासित करता है। चाणक्य प्रतिज्ञा करता है कि जब तक नन्द वश का समूल नाश नही कर लूंगा शिखा नही बांधूंगा। वह बन्दी किया जाता है।

उधर युवराज आम्भीक पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के लिए यवनों की सहायता करते हैं, यहा तक कि उद्भाण्ड मे सिंधु पर बनते हुए सेतु का स्वय निरीक्षण कर रहे हैं। अलका की सहायता से सिंहरण उस सेतु के मानचित्र को लेकर मालविका के साथ मालव को प्रस्थान करता है। अलका आम्भीक का विरोध करती है और अन्त मे गान्धार मे विद्रोह फैलाने की भावना से निकल पडती है।

चाणक्य चन्द्रगुप्त की सहायता से बन्दीगृह के बाहर आता है। वह पर्वतेश्वर से मगध के विरुद्ध सैनिक सहायता के लिए प्रार्थना करता है। चन्द्रगुप्त को लेकर वहा चाणक्य और पर्वतेश्वर मे मतभेद पैदा होता है। वहाँ से भी उसका निष्कासन

होता है। दोनों वन पथ में सिल्यूकस के सम्पर्क में आते हैं। प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में दाण्ड्यायन के आश्रम पर सिकन्दर का चन्द्रगुप्त से परिचय होता है और वहीं चन्द्रगुप्त को भारत का भावी सम्राट होने का आशीर्वाद प्राप्त होता है। प्रथम अंक के अन्त तक चन्द्रगुप्त के पराक्रम और उसके महत्व की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त होती है।

द्वितीय अंक का आरम्भ कार्नेलिया से होता है जहां चन्द्रगुप्त फिलिप्स के आक्रमण से कार्नेलिया के सतीत्व की रक्षा करता है और अंक के अन्त में चन्द्रगुप्त सिकन्दर की जीवन-रक्षा के लिए मार्ग देते दिखाई पड़ता है। द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में सिकन्दर के सामने से ही वह उसके सैनिकों को घायल करते हुए सुरक्षित निकल आता है, तथा यवन रणनीति से भी वह भली भांति परिचित हो जाता है। पर्वतेश्वर और सिकन्दर के युद्ध में कल्याणी के कहने पर मगध गुल्म का नेतृत्व करता है। चाणक्य की नीति-कुशलता के कारण चर के द्वारा अलका और सिंहरण को पर्वतेश्वर के बन्दीगृह में भी सब सन्देश मिलते रहते हैं। चन्द्रगुप्त क्षुद्रक और मालवों की सम्मिलित सेना का सेनापति नियुक्त होता है। अलका के कारण पर्वतेश्वर केवल एक हजार अश्वारोहियों के साथ सिकन्दर की सहायता करता है।

चाणक्य की दूरदर्शिता से प्रभावित होकर मगध की सेना सहित राक्षस स्वयं विपाशा तट की रक्षा करता है और कल्याणी भी रुक जाती है। मालव दुर्ग पर सिकन्दर का आक्रमण होता है। अलका और मालविका दुर्ग के भीतर हैं। चन्द्रगुप्त नदी तट से यवन सेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण करने वाला है। अलका तीर-धनुष लेकर यवन सैनिकों को दुर्ग में उतरने से रोकती है। सिकन्दर दुर्ग के अन्दर आ जाता है। सिंहरण से युद्ध में वह आहत होकर गिरता है। चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को सुरक्षित निकल जाने के लिए मार्ग देकर कृतज्ञता के ऋण से मुक्त होता है।

तृतीय अंक का प्रथम दृश्य विपाशा तट के शिविर से प्रारम्भ होता है, जहां राक्षस टहलता हुआ दिखाई पड़ता है। वह पूर्ण रूप से चाणक्य के जाल में फंस चुका है। अलका और सिंहरण के विवाहोत्सव में सिकन्दर भी स्वेच्छा से भाग लेता है। वृद्ध गान्धार नरेश भी संयोग से भटकता हुआ उसमें सम्मिलित होता है। इस अंक के पांचवें दृश्य से पुनः घटनायें मगध में केन्द्रित हो जाती हैं। चाणक्य की अनुमति पाकर राजकुमारी कल्याणी मगध लौटती है। वह सुवासिनी से मिलाने का प्रलोभन देकर राक्षस से उसकी मुद्रा हस्तगत कर लेता है जिसका उपयोग मगध में विद्रोह कराने के लिए उपयुक्त अवसर पर करता है। सिकन्दर की विदा के बाद चाणक्य को अपना उद्देश्य सिद्ध करने का पूर्ण अवसर मिलता है। चन्द्रगुप्त उत्तरापथ की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये वहीं रुका हुआ है।

राक्षस मगध उस समय पहुचता है, जब नन्द सुवासिनी से बलात्कार करने का प्रयत्न करता है। चन्द्रगुप्त के माता पिता बन्दी हैं। नन्द की नृशंसता से नागरिको म सर्वत्र असतोष फैला हुआ है। चाणक्य मालविका को नर्तकी के रूप मे नन्द की रगशाला म भेजता है और उससे कहता है कि यह पत्र और अगूठी उसे राक्षस और सुवासिनी के विवाह के एक घटा पूर्व दे दे। पत्र पाकर नन्द क्रुद्ध होता है और उनको ब दी बनाकर लाने के लिए आदेश देता है। चाणक्य भूमि-सन्धि तोडकर बनमानुष रूप म निकलते हुए नन्द के शत्रु शकटार से मैत्री स्थापित करता ह। चन्द्रगुप्त भी फिलिप्स को द्व द्व युद्ध म वध कर सार्थवाह के रूप मे सैनिको के साथ मगध पहुचता है। इसी समय सभी बन्दी मौर्य, मालविका, शकटार वररुचि और च द्रगुप्त की माता गुफा द्वार से बाहर निकलते है। चाणक्य के आदेशानुसार पर्वतेश्वर चुने हुए अश्वारोहियो के साथ नगर द्वार पर आक्रमण करने क लिये प्रस्तुत है। विद्रोह क सभी कारण उपस्थित हो गये है। सभी विद्रोहियो और क्षुब्ध नागरिको का नेतृत्व चन्द्रगुप्त करता ह। राक्षस और सुवासिनी को अन्धकूप में डालने की आज्ञा सुनकर उस विद्रोह की आग भडक उठती है। उत्तेजित नागरिक न्याय की माग करते है। क्षुब्ध जन समूह को देखकर नन्द विद्रोहियो को ब दी करने का आदेश देता है। पर वह प्रजा की इच्छा से राज्य-सचालन करने के लिए विवश हो जाता है। इसी समय चन्द्रगुप्त वहा उपस्थित होता है। नन्द के क्रूर शासन का अन्तिम क्षण उपस्थित है। चाणक्य गिन-गिन कर सभी अभियोगो का प्रस्तुत करता है। प्रतिशोध की तीव्र भावना से युक्त शकटार के हाथो उसकी हत्या होती है। चन्द्रगुप्त को सभी नागरिक एक स्वर से अपना शासक स्वीकार करते हैं।

चन्द्रगुप्त के शासन की स्थापना के बाद चाणक्य का ध्यान उसके साम्राज्य को विस्तृत करने तथा शासन को निष्कटक बनाने की ओर जाता है। चतुर्थ अक के प्रथम दृश्य म कल्याणी पर्वतेश्वर का वध करती है और सब ओर से निराश होने के कारण स्वय आत्म हत्या कर लेती है। कल्याणी की मृत्यु से नागरिको म जो असतोष उत्पन्न हुआ है राक्षस उसे अपनी महत्वाकाक्षा की पूर्ति का साधन बनाने की चेष्टा म लीन है। चाणक्य की दृष्टि परिणाम पर केन्द्रित रहती थी। यही कारण था जिससे उसने विजयोत्सव रोक दिया था। राजनैतिक षडयन्त्रो मे दिन-रात व्यस्त रहने पर भी सुवासिनी से मिलने पर उसकी पूर्व स्मृति जागृत हो उठती है। चन्द्रगुप्त से असन्तुष्ट होकर भी सीमा प्रान्त की स्थिति को उसके अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है। अल्का का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत कर वह आम्भीक को चन्द्रगुप्त के पक्ष म कर लेता है। सुवासिनी को ग्रीक शिविर म भेजकर राजकुमारी कार्नेलिया क हृदय म चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम को उद्दीप्त करता है तथा राक्षस को अपने पक्ष म लाने की चेष्टा करता है। च द्रगुप्त को ज्ञान नही

है, पर चाणक्य सम्पूर्ण गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। युद्ध में सिल्यूकस बन्दी होता है। कार्नेलिया के चन्द्रगुप्त से परिणय के परिणाम स्वरूप दो देशों में मैत्री स्थापित होती है। राक्षस को मन्त्री पद पर नियुक्त कर स्वयं चन्द्रगुप्त के पिता के साथ वह सन्यास ग्रहण करता है।

वस्तु की दृष्टि से नाटक के कथानक में शिथिलता रहते हुए भी नाटककार ने इस दृश्य नाटक में जहाँ चाणक्य और चन्द्रगुप्त जैसे सशक्त चरित्र का निर्माण किया है, वहीं मालविका जैसे त्याग की प्रतिमूर्ति और सुकुमार चरित्र की भी सृष्टि की है, जिसका मूक बलिदान बड़ा ही मार्मिक है।

— ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद जी की अन्तिम नाट्य-कृति है। रंगमंच और अभिनय की दृष्टि से यह बहुत ही सफल रचना है। संकलनत्रय स्थान, समय एवं व्यापार का निर्वाह इस नाटक में भली भाँति हुआ है। उनके अन्य पूर्ववर्ती नाटकों की अपेक्षा इसमें वस्तु और शिल्प की दृष्टि से भिन्नता है। अन्य नाटकों में प्रत्येक अंक का दृश्यों में विभाजन हुआ है। यहाँ एक अंक में एक दृश्य की योजना की गयी है। यहाँ प्रसाद ने नवीन शिल्प का प्रयोग किया है। ध्रुवस्वामिनी' की विषय वस्तु ऐतिहासिक है, पर उसके मूल में समस्या का समाधान प्रमुख तत्त्व है। इसे पूर्णतः समस्या नाटक कहना अनुचित होगा। 'समस्या नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचार धारा किसी एक समस्या को केन्द्र बनाकर चलती है। समस्या नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक कलाकार हुआ करता है। प्रसाद जी विचारक कलाकार के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं।'[1] समस्या नाटकों के समान इसमें अनेक घटनायें नहीं है। प्रसाद के अन्य नाटकों के समान इसमें काव्यात्मक संवाद तथा दर्शन प्रधान विचारों का अभाव होने हुए भी भावना पूर्ण स्थलों की कमी नहीं है। यथार्थवादी नाटकों के समान इसमें नीरसता या कोरा तर्क नहीं है। आज के समस्या नाटकों के समान इस नाटक में व्यापार का अभाव नहीं है। यह छोटा सा नाटक व्यापार सकुल है। इस नाटक के सम्वाद छोटे तथा नपे तुले हैं। 'स्वगत' का सर्वथा अभाव है। अन्य नाटकों की अपेक्षा सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। इसमें नाटककार ने नवीन प्रयोग किया है। 'प्रसाद' के नाटकों की स्वाभाविक तथा सामान्य नाट्य-कला का उदाहरण न होकर यह नाटक एक नवीन शिल्प तथा युगीन विचारधारा प्रस्तुत करता है। विवाह-विच्छेद विशिष्ट परिस्थितियों में शास्त्र-सम्मत है तथा राजा को, जिसे शास्त्र ने ईश्वर का अंश माना है, यदि वह अनाचारी और वासना में लीन है तो प्रजा उसे पदच्युत कर सकती है।

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद'—पृ० १६७

गुप्त कुल-वधू ध्रुवस्वामिनी स्कन्दगुप्त की दिग्विजय के पश्चात् उसे कन्योपदान स्वरूप प्राप्त हुई थी। उसके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त ने मर्यादा और महत्व की रक्षा के लिए अपने प्राप्त अधिकार को त्याग दिया था। रामगुप्त शासन-भार के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में सर्वथा असमर्थ तथा भोग विलास में आपादमस्तक मग्न था। वह चन्द्रगुप्त से सशंकित रहता था और उसे बन्दियों की भांति नियन्त्रण में रखता था। ध्रुवस्वामिनी, एक उपेक्षित तथा तिरस्कृत स्त्री के समान गूंगे, बहरे हिजड़े दास दासियों में घिरी रहकर जीवन व्यतीत कर रही है। वह खीझ कर कहती है, 'इस अन्तःपुर में न मालूम कब से मेरे लिए नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला।' विवाह के समय अग्नि को साक्षी कर पुरोहितों के आशीर्वाद को वह अभिशाप समझती है। कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति के स्मरण से उसे मानसिक शान्ति मिलती है।

शक आक्रमण के समय रामगुप्त का शिविर चारों ओर से अवरुद्ध हो जाता है। शकराज सन्धि के प्रस्ताव में ध्रुवस्वामिनी की मांग करता है। ध्रुवस्वामिनी की राजा से भेंट के पहले आमात्य शिखर स्वामी से ही भेंट होती है। रामगुप्त शकराज के प्रस्ताव को इस उद्देश्य से स्वीकार करता है कि उसे एक साथ ही सभी शत्रुओं से मुक्ति मिल जायेगी। शिखरस्वामी के नीच राजनैतिक सिद्धान्तों को सुनकर ध्रुवस्वामिनी को मर्मान्तिक पीड़ा होती है। वह रानी और स्त्री के नाम पर राजा से प्रार्थना करती है, उसके विलास की सहचरी बनने को प्रस्तुत होती है, पर उस नपुंसक, भोग-जर्जर राजा के यहां सब व्यर्थ होता है। अन्त में विवश होकर आत्महत्या कर स्त्रीत्व की मर्यादा की रक्षा के लिए तैयार होती है। इसी समय वहां चन्द्रगुप्त आता है और प्रतिज्ञा करता है कि मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित नहीं होना पड़ेगा। वह स्वयं ध्रुवस्वामिनी बनकर शकराज के यहां जाने के लिए तैयार हो जाता है। ध्रुव स्वामिनी कुमार से राजा की इच्छा व्यक्त करती है कि व तुमसे और मुझसे एक बार ही छुटकारा पाना चाहते हैं।

उधर शकराज की बर्बरता और अन्यमनस्कता से उसकी प्रेमिका उदास है। नारी जीवन की साकार प्रतिमा भी शकराज से सस्नेह कहती है 'राजनीति का प्रतिशोध क्या एक नारी को कुचले बिना पूरा नहीं हो सकता?' आचार्य मिहिरदेव भी शकराज को समझाते हुए कहते हैं 'राजा! स्त्रियों का स्नेह विश्वास-भंग कर देना, कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है, परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो।' शकराज आचार्य मिहिर देव के वचनों को उपेक्षा के कानों से सुनता है। इधर चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी जो परस्पर स्नेह-सूत्र से आबद्ध हैं, मर्यादा की रक्षा के लिए शकराज के समीप पहुंचते हैं। शकराज ध्रुव-स्वामिनी को न पहचान कर दोनों को ही रानी समझ लेने के लिये प्रस्तुत है। अवसर पाकर चन्द्रगुप्त शकराज का अन्त कर देता है।

तृतीय अंक में ध्रुवस्वामिनी, छल और प्रतारणा से युक्त पुरोहित द्वारा किये गये 'महादेवी' सम्बोधन से व्यथित होती है और उनकी भर्त्सना करती है। यहां सभी रामगुप्त, मन्दाकिनी, चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी और पुरोहित उपस्थित होते हैं। चन्द्रगुप्त बन्दी कर लिया जाता है। ध्रुवस्वामिनी की प्रेरणा और प्रोत्साहन से चन्द्रगुप्त आवेश में आकर लोह शृंखला तोड डालता है। रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष के लिये पुरोहित व्यवस्था देता है, 'मैं स्पष्ट कहता हू, धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।' सभी सामन्तों की अनुमति से चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी परिणय-सूत्र में बंधते हैं। चन्द्रगुप्त राज्य का अधिकार अपने हाथ में लेता है।

मन्दाकिनी और ध्रुवस्वामिनी के संवादों से नाटककार ने स्त्री हृदय का विश्लेषण, उसकी आशा-आकांक्षायें, अस्तित्व और अधिकार, और परवशता तथा मर्यादा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।



२

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का मूल-स्रोत

ऐतिहासिक नाटक की परिभाषा

ऐतिहासिक नाटको का अभिप्राय उन नाटकों से है, जिनमे इतिहास और नाटकीय तत्वों का सन्तुलित रूप मे नियोजन और संघटन होता है। नाटक काव्य [illegible] ग्रीकविचारक अरिस्टाटल ने कथा-वस्तु को ही नाटक का प्रमुख तत्व माना था, पर आज के समुन्नत तथा विकसित नाट्य शास्त्र मे पाश्चात्य समीक्षकों ने चरित्र चित्रण को प्राथमिकता दी है।

इतिहास और नाटक की सीमाओं को स्वीकार करते हुए ऐतिहासिक नाटककार प्राचीन कथानक को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि प्राचीन वातावरण, तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियां वर्तमान के परिप्रेक्ष्य मे सजीव हो उठें तथा साथ ही नाटकीय तत्वों का, रससिद्धि और चरित्रचित्रण का समन्वित नियोजन हो सके। अतीत की घटनाओं को उसी रूप मे प्रस्तुत करने के कारण नाटककार को इतिहास का बन्धन स्वीकार करना पड़ता है। पर वह प्राचीन घटनाओं का तिथि क्रम के अनुसार विवरण नहीं प्रस्तुत करता है। इतिहास की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के द्वारा वह नाट्य सृष्टि करता है—जिसमे चरित्रों के विकास तथा समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने पर, उसका ध्यान केन्द्रित रहता है। चरित्रों को वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करता है—जिससे उनमे सजीवता और शक्ति आ सके। नाट्य-चित्र की रेखायें तो वह इतिहास से

लेना है; पर उनमें रस और सौन्दर्य अपनी कल्पना और रचनात्मक प्रतिभा द्वारा लाता है।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति देने के लिए प्राचीन इतिहास, कलाकारों के लिए बहुत ही आकर्षक होता है। वर्तमान से दूर जाकर प्राचीन के अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हुए उस समय की परिस्थितियों की रेखाओं को उभाड़ कर अपनी कथा-वस्तु का चयन करता है। रोमैण्टिक कलाकार ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कल्पना के आश्रय से ऐसे पात्रों को प्रस्तुत करता है, इस प्रकार की स्थितियों का चित्रण करता है कि इतिहास की एक सीमा तक रक्षा करते हुए अनैतिहासिक पात्रों और घटनाओं द्वारा आधिकारिक कथा-वस्तु को विकसित तथा प्रेम, शौर्य और करुणाजनक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा पात्रों की मानसिक अवस्थाओं का विकास तथा विश्लेषण कर सके।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में यथासम्भव इतिहास की रक्षा हुई है—साथ ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनुकूल उनमें कल्पना के योग से काव्यात्मकता का भी सन्निवेश हुआ है। रससिद्धि और पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन पर ध्यान रखने के कारण प्रसाद ने हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपना पृथक स्थान निर्मित किया है।

उनके प्रमुख पात्र विषम घटनाओं और परिस्थितियों से निराश और टूटते हुए से ज्ञात होते हैं पर अन्त में स्वतन्त्र कर्तव्य द्वारा उन विषमताओं पर विजयी होते हैं। 'प्रसाद ने ऐतिहासिक घटना क्रम का बोझ स्वीकार करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व सम्पन्न बनाया है। उनके सभी पात्र अपनी विशेषता रखते हैं। नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व स्थापन या चरित्र निरूपण का प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है, जो हिन्दी के नाटककारों में प्रसाद का स्वतन्त्र स्थान निर्धारित करती है।'[१]

ऐतिहासिक कथानक को नाटक के साँचे में ढालने में चाहे कितनी भी सावधानी बरती जाय, कथानक की अन्विति तथा नाटकीय विकास में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है। यह सम्भावना स्वच्छन्दतावादी नाटककारों की कृतियों में और भी अधिक हो जाती है। प्रसाद जी इतिहास की रक्षा दूर तक करते हैं—यही कारण है कि उनके ऐतिहासिक नाटकों में कथानक समाहित नहीं हो पाता है। कथानक में वैचित्र्य तथा पात्रों की आकस्मिकता के कारण कथानक शिथिल हो जाता है। प्रसाद के नाटकों का यह दुर्बल पक्ष है—पर साथ ही ऐतिहासिकता तथा कथानक की समग्रता के कारण उनके नाटकों में भास्वरता और दीप्ति भी

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १५०

आयी है। सभी पात्रों की पूर्णता पर दृष्टि रखने के कारण ही प्राचीन वातावरण तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के विभिन्न चित्र प्रस्तुत करने मे वे समर्थ हो सके हैं। देशकाल का निर्माण तथा सजीव वातावरण का चित्रण उनके नाटको को सशक्त और प्राणवान बनाते है। यह उनके नाटको का विशिष्ट पक्ष है। इस वैशिष्ट्य के कारण ही वे पात्रों को सजीव प्रस्तुत कर सके हैं। विपरीत चरित्र तथा गुण धर्म वाल पात्रो की विभिन्न अवस्थाओ का जैसा चित्रण प्रसाद ने प्रस्तुत किया है—वह उनके विशिष्ट कवि व्यक्तित्व तथा सजनात्मक प्रतिभा का परिचायक है।

प्रथम ऐतिहासिक १९२६ राज्यश्री —

राज्यश्री' प्रसाद जी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है। इसके प्राक्कथन' म उन्होंने स्वय इसे प्रथम ऐतिहासिक रूपक स्वीकार किया है। स्थाण्वीश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने छठी शताब्दी के अ त तथा सातवी के प्रारम्भ मे हूणो को पराजित कर एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की। इस समय गुप्तो की राज्यश्री हीन हो गयी थी। वे मगध और बगाल के सीमित क्षेत्र के ही अधिकारी रह गये थे। सम्भवत गुप्तो का कुछ काल के लिए मालवा पर भी अधिकार हो गया था। कान्यकुब्ज मे मौखरी वश के राजाओ का प्राधान्य था। मौखरियो के साम्राज्य के अतर्गत सौराष्ट्र से मगध तक और दक्षिण म आध्र तक के देश सम्मिलित थे। मालव मे गुप्त वश के कुछ फुटकल राजकुमार प्रबल हो चुके थे।

थानेश्वर के राजा प्रभाकर वर्धन ने हूणो को परास्त करने के लिए राज्यवर्धन को उत्तरापथ भेजा था। जिस समय प्रभाकरवर्धन रोग ग्रस्त हुआ, उस समय हर्षवर्धन भी कश्मीर की तराई मे मृगया खेलने गया था, पर अपने पिता की बीमारी का समाचार पाकर शीघ्र लौट आया। कुछ दिनो के पश्चात् प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु के पश्चात् राज्यवर्धन गद्दी पर बैठा। आरम्भ मे राज्यवर्धन की मानसिक स्थिति इस प्रकार अशान्त हो गई थी कि शोकाभिभूत युवक राजकुमार ने राज्य लेने मे अनिच्छा प्रगट की। वह ससार के वैभव से पृथक आश्रमवासी बनकर तपस्या करना चाहता था।[1] राज्यवर्धन ने अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को राज्य सम्भालने के लिए कहा। इसी समय ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यश्री के निगडबद्ध होने का समाचार पाते ही उसकी सारी विरक्ति दूर हो गई। भयकर कोप और क्षोभ की ज्वाला स उसका शरीर जलने लगा। उसे दूत से यह भी सम्वाद मिला कि कन्नौज की सेना को नायक विहीन पाकर मालव नरेश देवगुप्त थानेश्वर पर भी अधिकार स्थापित करना चाहता है। यत यस्मिन्नहन्य-वनिपतिरुपरत इत्यभूद्वार्ता तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्मा दुरात्मना मालवराजेन ज ... नन सुकृतेन सहत्याजित। भर्तृदारिकापि राज्यश्री कालायस निगड

1 Dr R S Tripathi History or Kanauj, Page 63

चुम्बित चरणा चौरांगनेव संयता कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता । किं वदन्ती च यथा किलानायक साधन मत्वा जिघृक्षु सुदुर्मति ऐतामपि भुवमाजिगमिषति ।'[1] जिस दिन महाराज प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हुई उसी दिन दुरात्मा मालवराज देवगुप्त ने ग्रहवर्मा की हत्या की और राज्यश्री को चौरांगना की भांति कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दिया । इस समाचार को पाकर राज्यवर्धन ने शत्रु—मालवराज से प्रतिशोध लेने के लिये प्रस्थान किया । उसने हर्ष से कहा—समस्त राजागण और हाथी तुम्हारे साथ रहें । अकेले भण्डि दस हजार घोड़ो की सेना लेकर मेरे साथ चलेगा । यह कहकर उसने शीघ्र ही प्रस्थान करने का आदेश दिया ।

'तिष्ठन्तु सर्वे एव राजानः त्वयैव सार्धम् । अयमेको भण्डिर युत मात्रेण तुरगमाणामनुयातु माम् । इत्यभिधाय चानन्तरमेव प्रयाण पटहमादिदेश ।'[2]

राज्यवर्धन ने बड़ी सरलता से देवगुप्त की सेना को तहस-नहस कर दिया । यह समाचार हर्ष को राज्यवर्धन के कृपापात्र और स्वपरिचित कुन्तल नामक सवार से प्राप्त हुआ । गौडाधिप शशांक ने राज्यवर्धन की मित्रता और अपनी पराजय स्वीकार करने का विश्वास दिलाया और अपनी कन्या का राज्यवर्धन से विवाह करने का प्रस्ताव किया । इस प्रकार प्रलोभन के जाल में फसा कर उसकी हत्या की ।[3]

'तस्माच्च हेला निर्जित मालवानीकमपि गौडाधिपेन मिथ्योपचार पचित विश्वास मुक्त शस्त्रम् एकाकिनम् विश्रब्धस्वभवन एव भ्रातर व्यापादितम श्रौषीत् ।'

:—(हर्ष चरित्र, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी–पृ० ३२१)

'गौडाधिप शशांक' हुएनत्सांग के अनुसार पूर्वी भारत में कर्ण सुवर्ण का दुष्ट राजा था । इसने बौद्धों को दण्डित किया तथा पवित्र बोधि-वृक्ष को नष्ट किया था ।[4]

कन्नौज पर शशांक का शासन स्थापित हो जाने के कारण वर्धन और मौखरी वंश की सम्मिलित शक्ति को बड़ा आघात पहुंचा । भण्डि के आक्रमण की सूचना पाकर शशांक ने उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के अभिप्राय से राज्यश्री को बन्दी गृह से मुक्त कर दिया ।

राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद हर्ष को राज्य में व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के लिये भण्डि की सलाह से सभासदो ने उसे राज्य-भार सभालने के लिये

१. हर्ष चरित्र—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृष्ठ ३१४

२. वही, पृ० ३१४

3 Dr. R. S Tripathi : History or kanauj, Page 67.

4 ibid; Page 66 67.

निमंत्रित किया। भण्डि राजकुमार से अवस्था में कुछ बड़ा था और उसकी शिक्षा दीक्षा भी राजकुमार के ही साथ हुई थी। राज्यलक्ष्मी और बौद्ध महात्मा के आशीर्वाद से अनिच्छा पूर्वक हर्ष ने राज्य भार स्वीकार किया।[1] राज्य भार सभालने के बाद हर्ष[2] ने अपने शत्रु शशाक से प्रतिशोध तथा राज्यश्री की खोज की ओर ध्यान दिया। शीघ्र ही विशाल सैनिक शक्ति के साथ अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसने प्रस्थान किया। उस मार्ग में प्राग्ज्योतिषेश्वर कुमार द्वारा भेजा हुआ हंसवेग नामक दूत मिला। यह हर्ष से मैत्री स्थापित करने की आकांक्षा से बहुमूल्य उपहारों के साथ आया था। हर्ष ने उसकी मैत्री तथा उपहार स्वीकार किए। कुछ दिनों के बाद प्रयाण मार्ग में ही लेखहारक से हर्ष को यह सवाद मिला कि राज्यवर्धन द्वारा पराजित मालवराज की सेना के साथ भण्डि आ रहे हैं। भण्डि ने उसे सूचना दी कि राज्यवर्धन के दिवगत होने के बाद जब गुप्त नामक व्यक्ति ने कान्यकुब्ज पर अधिकार कर लिया तो देवी राज्यश्री किसी प्रकार बन्धन से मुक्त होकर अपने परिवार के साथ विन्ध्याचल के किसी जगल में चली गई। यह मैंने लोगों के मुह से सुना है। बहुत खोज करने के बाद भी उनका पता नहीं चला है। देवभूयं गते देवे राज्यवर्धने गुप्तनाम्नाच गृहीते कुशस्थले देवी राज्यश्री परिभ्रश्य बन्धनात् विन्ध्याटवीं सपरिवारा प्रविष्टेति लोकतो वार्तामश्रृण्वम्[3]।' हर्ष यह सुनकर बहुत दुखी हुआ। उसने अपनी सेना को गगा के किनारे रुकने का आदेश दिया और वह स्वय माधवगुप्त और कुछ अन्य अधीनस्थ राजाओं के साथ राज्यश्री की खोज में लगा। विन्ध्याचल के घने जगलों में अपनी बहन राज्यश्री की खोज में लीन हर्ष की सयोग से दिवगत ग्रहवर्मा के बाल सखा एवं बौद्ध महात्मा दिवाकर मित्र से भेंट हो गई। उनके द्वारा हर्ष को राज्यश्री का पता लगा। वह सब प्रकार निराशा, दुख और शोक से अभिभूत अपनी सखियों के साथ चिता में जलने की तैयारी कर रही थी। हर्ष ने उसकी रक्षा की तथा लौटने के लिए महात्मा दिवाकर मित्र से अनुमति मांगी। 'राज्यश्री दुख और चिन्ता से व्यथित थी, साथ ही दिवाकर मित्र के आश्रम के शान्त वातावरण से बहुत प्रभावित थी इसलिये उसने काषाय ग्रहण करने की

---

1 The Early History of India, By Viscent A Smith 3rd Ed P 337 338

२ (Aihole) ऐहोल और मधुबन के शिलालेखों में, तथा बासखेरा के ताम्रपत्र में हर्ष नाम दिया गया है। अपसाद के शिलालेख और हर्ष चरित में हर्ष देव नाम मिलता है और सोनपत की ताम्र मुहर में उसका पूरा नाम हर्षवर्धन उपलब्ध होता है। History of Kanauj, By Dr R S Tripathi Page 61

३ हर्ष चरितम्—पृष्ठ ३९५

इच्छा व्यक्त की।[१] पर हर्ष के अनुरोध तथा महात्मा के उपदेश से राज्यश्री ने उस समय काषाय लेना स्थगित कर दिया।[२]

'इय तु ग्रहीष्यति मयैव सम समाप्त कृत्येन काषायाणि। अधिजनेनकिमिव नातिसृजन्ति महान्त।'[२]

हर्ष के इस निवेदन को, कि शत्रु को पराजित कर लेने तथा भाई के हत्यारे से प्रतिशोध लेने के बाद यह मेरे साथ ही काषाय धारण करेगी राज्यश्री ने स्वीकार किया।

शशांक के साथ हर्ष के युद्ध का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है पर इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसने साधारण हानि सहते हुए भाग कर अपनी रक्षा कर ली। लगभग ६१९ ई० तक उसने राज्य किया। संभवत बाद में उसके स्थान पर हर्ष ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[३]

हर्ष के राज्यश्री के साथ लौटने के पश्चात् मौखरी वंश में ऐसा कोई नहीं था जो उस राज्य का उत्तराधिकारी बने। ऐसी अव्यवस्थित दशा में राज्यश्री और उसके बड़े भाई हर्ष ने कन्नौज को सुव्यवस्थित शासन देकर उसकी बड़ी सेवा की।[४] काल क्रम से हर्ष थानेश्वर और कन्नौज दोनों का सम्राट घोषित हुआ। अपने प्रभाव और पराक्रम से प्राय समस्त उत्तरी भारत का शासन उसके अधीन आ गया था। इसके पश्चात हर्ष ने अपनी राज्य सीमा का विस्तार दक्षिण में करना चाहा। उत्तर में जिस प्रकार हर्ष ने अपना एक मात्र प्रभुत्व स्थापित किया था, ठीक उसी प्रकार दक्षिण में चालुक्य वंशीय पुलकेशिन द्वितीय ने सुदृढ़ शासन स्थापित किया था। हर्ष स्वयं विशाल सैन्य के साथ दक्षिण विजय के लिये निकला। पर पुलकेशिन द्वितीय की नर्मदा पर स्थित सुदृढ़ रक्षा शक्ति के सम्मुख हर्ष को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। हर्ष ने नर्मदा को ही दक्षिण की राज्य सीमा स्वीकार किया।[५]

हर्ष के शासन के अन्तिम दिनों तक उसके राज्य का विस्तार उत्तर में हिमालय की तराई (नैपाल सहित) तथा दक्षिण में नर्मदा तक हो गया था। इसके अतिरिक्त मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र उसके राज्य में सम्मिलित थे। सुदूर पूर्व में आसाम (कामरूप) उसके राज्य के अन्तर्गत था। वह अपने राज्य की देख-भाल के लिए निजी निरीक्षण पर विश्वास करता था।[६]

---

१ Dr R S Tripathi History or Kanauj, Page 73.

२ हर्ष चरितम्-पृष्ठ ४५०

३ Viscent A Simith The early History of India, 3rd Ed P 339

४ Dr R S Tripathi History or Kanauj, Page 75

५ Viscent A Smith · The early History of India, 3rd Ed P 840

६ Ibid, Page 341.

वह 'वर्षा' ऋतु को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में सैकड़ों अधिकारियों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता था। वह दुष्टों और अपराधियों को दण्ड देता तथा गुणियों और सज्जनों को पुरस्कृत करता था।[१]

हर्ष का शासनप्रबन्ध बहुत प्रशंसनीय तथा व्यवस्थित था। वह विद्वानों और गुणियों का सम्मान करता था। उसके शासनकाल में साहित्य और कला की उन्नति हुई। हर्ष स्वयं साहित्यिक रुचि सम्पन्न तथा कुशल लेखक था। शिक्षा का, विशेषकर ब्राह्मणों और कुछ बौद्ध भिक्षुकों में व्यापक प्रचार था। बुद्ध धर्म की ओर झुकाव होते हुए भी हिन्दू देवी देवताओं का वह आदर करता था। उसके शासनकाल में भयानक अपराध बहुत कम होते थे। पर रास्ते और सड़कें बहुत सुरक्षित नहीं थीं। हुएनचाग को मार्ग में कई बार डाकुओं ने लूटा था। भयानक अपराधों के लिये अपराधियों के अंग क्षत-विक्षत कर दिए जाते थे।

राज्यश्री असाधारण प्रतिभा सम्पन्न महिला थी। वह बौद्धों की समितियों और सिद्धान्तों की विदुषी थी तथा विभिन्न धर्मावलम्बियों के तर्क-सम्मत विवादों और शास्त्रार्थों को मनोयोग के साथ सुनती थी। कन्नौज की धर्म-सभा हर्ष के शासन काल की एक प्रमुख घटना है। हर्ष हुएनचाग से बंगाल की विजय यात्रा के समय मिला था। वह उसकी विद्वता और धार्मिक सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित तथा प्रसन्न था। उसके सिद्धान्तों के अधिकाधिक प्रचार के उद्देश्य से उसने कन्नौज की धर्म सभा का आयोजन किया था।[२] उसने विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न धर्म के अनुयायियों को चीनी बौद्ध विद्वान के धार्मिक सिद्धान्तों के विश्लेषण और व्याख्या से लाभ उठाने के लिए आमन्त्रित किया था।

गंगा के तट पर हर्ष की लम्बाई के बराबर बुद्ध की प्रतिमा सौ फीट लम्बे स्तम्भ पर प्रतिष्ठित की गई। एक अन्य बुद्ध की प्रतिमा के साथ प्रतिदिन जुलूस निकलता था। समस्त राजकीय वैभव से युक्त इस सभा का आयोजन हुआ था। एक अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना के साथ चौथे दिन इस समारोह का अन्त हुआ। अस्थायी विहार में, जो विशाल धन राशि खर्च कर बनवाया गया था, आग लग गई और उसका एक बड़ा भाग जलकर भस्म हो गया।

हर्ष अन्य राजकुमारों के साथ उस बड़े स्तूप पर से निरीक्षण के बाद जब सीढ़ियों से उतर रहा था, किसी धर्मान्ध ने उसकी हत्या के लिए छुरा से उस पर आक्रमण किया। वह हत्यारा पकड़ा गया और राजा ने स्वयं उससे पूछताछ की। वधिक ने अपना अपराध स्वीकार किया। उसने अपने वक्तव्य में यह स्वीकार किया

१ Vincent A Smith : Early History of India, 3rd Ed P. 342

२ India, Page 348

बार उसने शाक्यो पर आक्रमण करना चाहा, पर बुद्ध के समझाने से प्रत्येक बार रुक जाता था। चौथी बार वह न रुका। बुद्ध ने कहा—शाक्यों को अपने किये का फल भुगतना पड़ेगा। विड्डभ ने उन पर चढाई कर दी। कहते है कि उसने दूध पीते बच्चे को भी न छोड़ा।[1]

प्रसाद जी ने 'विड्डभ' को विरुद्धक, तथा शाक्य कुमारी वासमखत्तिया को शक्तिमती, तथा महामाया कल्पित नाम दिये हैं। प्रसनजित को जब महारानी के हीन कुल शील का ज्ञान हुआ, तो क्रुद्ध होकर उन्होने महारानी और राजकुमार विरुद्धक को कुछ काल के लिए अपदस्थ कर दिया था। पर महात्मा बुद्ध के सदुपदेश से उन्होने महारानी और राजकुमार को पुन पूर्व गौरव और अधिकार प्रदान किया। महात्मा बुद्ध को वह बहुत आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। समय समय पर वह महात्मा बुद्ध से आपत्तिकाल म सम्मति लिया करता था।

प्रसनजित के शासन काल म कोसल ने वृजिसघ पर आक्रमण किया था। उस समय की प्रचलित जन श्रुतियों क आधार पर प्रसेनजित के सेनापति बन्धुल की पत्नी मल्लिका को बहुत प्रतीक्षा के बाद गर्भाधान हुआ। उसका दोहद—गभकालीन इच्छा की पूर्ति के लिए वह मल्लिका को वेसलि (वैशाली) नगर के गणराज कुलो की अभिषेक मगल पोखरनी मे स्नान कराने और जल पिलाने के लिए ले गया। किसी भी बाहरी आदमी के लिए उस पोखरनी मे उतरना मौत स खेलना था। उस प्रसग म उसे लिच्छिवियो स युद्ध करना पड़ा। मल्लिका उस रथ की बागें थामे सारथी का काम कर रही थी।[2] प्रसाद जी ने इस स्थल को पावा नाम दिया है। पावा मल्लजनपद की राजधानी थी। यह स्थान कुशीनार के पूर्वोत्तर दस मील की दूरी पर सठियाव नामक स्थान के समीप स्थित है।

बन्धुल न अपन पराक्रम से उन सभी योद्धाओ को जो उस सरोवर की रक्षा कर रहे थे, पराजित कर अपनी स्त्री की इच्छा पूरी की। राजा प्रसनजित ने इस विश्वस्त और पराक्रमी सेनापति को, ईर्ष्या क कारण धोखे से मरवाया और उसके भानजे दीर्घकारायण को सेनापति नियुक्त किया था। इसके प्रोत्साहन से विड्डभ ने राजा के विरुद्ध विद्रोह किया। राजा को मत्रियो और कुलजनित क्लेशों से बहुत कष्ट सहना पड़ा। राजकुमार विड्डभ ने अपने पिता स कोसल राज बलपूर्वक ले लिया। इस घोर विपत्तिकाल म वृद्ध सम्राट कौसल से निष्कासित होकर अजातशत्रु की सहायता के लिए राजगृह तक गया, किन्तु इसके पूर्व कि उससे उनके दामाद अजातशत्रु स भेंट हो, वह नगर द्वार पर अत्यधिक थकावट मे गिर कर मर गया। अजातशत्रु न अपने श्वसुर का, उसके सम्मान मर्यादा के अनुकूल ही दाह सस्कार किया।

१ जयचन्द्र विद्यालकार—'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', जि० १—पृ० ४४९

२ वही।

मल्लिका को जिस समय अपने पति का निधन-समाचार प्राप्त हुआ उसने बुद्ध को शिष्यों सहित भिक्षा के लिये आमन्त्रित किया था। उसी दिन स्वाभाविक शान्ति और धैर्य के साथ मल्लिका ने बुद्ध को भिक्षा कराया। धैर्य के साथ निर्विकार भाव से उसने सभी कार्य किये। भोजनोपरान्त उसके पति की मृत्यु का समाचार अन्य लोगों को मिलने पर सबने उसकी मानसिक स्थिरता पर आश्चर्य प्रगट किया। उसके मन में प्रसेनजित के प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी और न प्रतिशोध की भावना ही थी। राजा को जब यह वृत्तान्त मालूम हुआ तो उसे मानसिक ग्लानि हुई। मल्लिका ने राजा को हृदय से क्षमा किया, पर दीर्घकारायण राजा के अमानवीय कार्य को न भूल सका। इसीलिए उसने विरुद्धक को राजा के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा दी।

उदयन

बुद्धकाल में वत्सराज उदयन की राजधानी कौशाम्बी थी। कौशाम्बी के ध्वसावशेष इलाहाबाद से लगभग तीस मील दक्षिण पश्चिम यमुना नदी के तट पर कौसम नामक गाव में प्राप्त हुये हैं। उदयन के जन्म तथा माता-पिता के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। पौरव राज उदयन का सम्बन्ध भरत वंश से था। कथा सरित्सागर के अनुसार उदयाद्रि पर्वत पर जमदग्नि नामक ऋषि के आश्रम के पास इनका जन्म हुआ। एक सर्प को बचाने के कारण उदयन को तीन अमूल्य वस्तुयें वीणा, ताम्बूली और अम्लान माला प्राप्त हुई। अन्त में सयोगवश पिता और पुत्र का मिलन हुआ। बौद्ध साहित्य में उदयन के जन्म की कथा अन्य प्रकार से वर्णित है। इनके जीवन-वृत्त के विषय में ग्यारहवीं शताब्दी के सोमदेव रचित कथासरित्सागर, भास के दो नाटक—स्वप्न वासवदत्ता और-प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, श्री हर्ष की रत्नावली एव प्रियदर्शिका में उल्लेख हुआ है।

'कथा सरित्सागर' में उदयन की तीन पत्नियों का वर्णन आया है—वासवदत्ता, बन्धुमती और पद्मावती। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' में इस कथा का बहुत ही रोचक वर्णन प्राप्त होता है। उसमें कल्पना का पुट तो अवश्य ही कुछ न कुछ है—पर पुरातात्विक प्रमाण के आधार पर उस कथा की सत्यता बहुत दूर तक प्रमाणित हो चुकी है। अवन्ति-राज प्रद्योत उस समय के शक्तिशाली राजा थे। इनकी राजधानी उज्जियिनी थी। अवन्ति तथा वत्स में परस्पर शत्रुता थी। आखेट-प्रिय उदयन वीणा के मधुर-राग से हाथियों को पकड़ने में बहुत निपुण था। हस्ति-कान्ति शिल्प और एक मन्त्र के प्रयोग द्वारा किसी भी हाथी को अपने अधीन कर लेता था। अवन्ति राज प्रद्योत ने काठ का एक विशालकाय हाथी निर्मित कर बन में छोड़ दिया। उस हाथी के पेट में प्रद्योत के सैनिक छिपे थे। उदयन विशाल-काय हाथी का वन-भ्रमण सुनकर उस पर अधिकार करने के

लिए चल पड़ा। उनके सहचर वन में पीछे छूट गये। प्रद्योत के सैनिकों ने उदयन को अकेला पाकर गिरफ्तार कर लिया। इस प्रकार षडयन्त्र द्वारा अवंति राज ने उदयन को बन्दीगृह में डाल दिया। कारावास में बहुत समय बीतने के पश्चात् प्रद्योत को यह ज्ञात हुआ कि उदयन वीणा वादन कला में बहुत निपुण है। उसने अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणा बजाने की शिक्षा का कार्य उदयन को दिया। उदयन और वासवदत्ता में प्रणय सम्बन्ध स्थापित हो गया। अपने विश्वास पात्र तथा नीति निपुण मन्त्री योग धरायण की चेष्टा से दोनों उज्जैन से भाग निकले। बाद में प्रद्योत ने अपने पुत्र गोपालक को भेजकर दोनों का विवाह कराया। शत्रु उदयन की अपेक्षा मित्र उदयन उसकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में अधिक सहायक सिद्ध हो सकता था।

पद्मावती से उदयन का विवाह राजनैतिक कारणों से हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार उदयन की केवल दो ही रानियों का वर्णन प्राप्त होता है—वासवदत्ता और पद्मावती।[1]

स्वप्न वासवदत्ता से यह ज्ञात होता है कि उदयन को शत्रु के आक्रमण से भयभीत होकर राज्य के सीमान्त ग्राम लावणक में शरण लेनी पड़ी थी। उसके शत्रुओं में कोशल का राजा आरुणी था—जो गंगा के उत्तरी तट पर शासन करता था। श्री हर्ष चरित 'रत्नावली' द्वारा यह ज्ञात होता है कि कोशल वत्स का शत्रु था। शत्रु संकट की गम्भीरता के कारण उसके मन्त्री यौगन्धरायण ने अपनी शक्ति को अपर्याप्त समझ कर मगध के शासक दर्शक की बहन पद्मावती से उदयन का विवाह आवश्यक समझा। उदयन अवन्तिकुमारी वासवदत्ता के प्रेम में इतना आसक्त था कि वासवदत्ता के जीवन काल में उदयन के दूसरे विवाह की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। जिस समय उदयन शिकार खेलने गया था यौगन्धरायण ने वासवदत्ता को महल से हटाकर उसके महल में आग लगवा दी। उदयन को मृगया से लौटने पर जब वासवदत्ता के जल मरने का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उसे मार्मिक कष्ट हुआ। किन्तु काल क्रम से उसका दुख शान्त हुआ और पद्मावती से उदयन का विवाह हुआ। बाद में भेद खुलने पर वासवदत्ता और उदयन का पुनर्मिलन हुआ।[2]

उदयन की तीसरी पत्नी वसुमती का कथा सरित्सागर में उल्लेख हुआ है। वासवदत्ता का भाई गोपालक इसे हरण कर लाया था और उसे अपनी बहन को सौंप दिया था। एक दिन स्नानागृह में उदयन से उसकी भेंट हो गई। उदयन ने

---

1 D R Bhandarkar Lectures on the Ancient History of India, page 59

2 Ibid page 63

उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वन्धुमती से विवाह कर लिया। आरम्भ मे वासवदत्ता बहुत क्रुद्ध हुई और वन्धुमती को कारा मे भेज दिया पर बाद मे दोनों के सम्बन्ध मे स्वाभाविक स्थिति आ गई। समझा जाता है कि हर्ष ने इसी वन्धुमती को अपने नाटको म रत्नावली और प्रियदर्शिका के नाम से चित्रित किया है। उसके दोनो नाटको की कथावस्तु इसी घटना से मिलती जुलती है, इसी के कारण ऐसा अनुमान होता है।[1]

माकन्दिक नामक परिव्राजक की कन्या माकन्दिका भी उदयन की रानियो मे थी। सवप्रथम उसके पिता ने बुद्ध से विवाह का प्रस्ताव किया—पर बुद्ध न उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद वह ब्राह्मण अपनी पुत्री को लेकर कौशाम्बी आया। उदयन ने उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उससे गन्धर्व विवाह कर लिया। पद्मावती बुद्ध को श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखती थी, जब मागन्धी बुद्ध से वैर भाव रखती थी। अनुपमा और मागन्धी ये दोनो नाम माकन्दिका के लिये प्रयुक्त हुए हैं। मागन्धी षड्यन्त्र द्वारा पद्मावती के प्रति उदयन के मन में विकार उत्पन्न करना चाहती थी। मागन्धी न उदयन की वीणा मे सर्प छिपाकर रखा, उसे अपने उद्देश्य मे कुछ दूर तक सफलता भी मिली पर पद्मावती के सतीत्व के कारण मागन्धी के सब षड्यन्त्र विफल हो गए।[2] वन्धुमती की कथा विस्तार के साथ कथा सरित्सागर म नही दी गई है—इसलिए अन्य नामों के साथ इसके सम्बन्ध स्थापित करने मे कठिनाई होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि वन्धुमती के ही नाम—रत्नावली, प्रियदर्शिका, अनुपमा, माकन्दिका और मागन्धी रहे होंगे।

आनन्द बुद्ध का चचेरा भाई तथा उनका प्रधान शिष्य था। बुद्ध की वृद्धावस्था म आनन्द न उनकी बड़ी सेवा की। बौद्ध धर्म मे उसे प्राधान्य प्राप्त था, तथा वह बौद्ध सिद्धान्तो का व्याख्याता था।

कल्पना का योग

इतिहासकार इस बात से सहमत है कि बिम्बसार की मृत्यु बन्दीगृह मे हुई। अन्तिम दिनो मे उस कारागृह की यातनायें सहनी पड़ी और भूख की ज्वाला म तड़प कर वह मरा। अजात को पुत्र पैदा होन पर पितृ-स्नेह और वात्सल्य का अनुभव हुआ, पर समय व्यतीत हो चुका था। उसके पहुचने पर वृद्ध पिता की मृत्यु हो चुकी थी। प्रसाद जी ने बिम्बसार के द्वारा अजात तथा उसकी माता छलना को क्षमा प्रदान कराया है। अजात की क्रूरता का वर्णन बौद्ध-साहित्य म विस्तार के साथ हुआ है। ऐसी स्थिति म यह सम्भव है कि उसन बिम्बसार को

---

१ परमेश्वरी लाल गुप्त—'प्रसाद के नाटक', पृष्ठ ४४

2 Dictionary or Pali Proper names, Vol 2nd, page 596

समुदित बल कोशा (न्पुष्यमित्रादच जित्वा)
क्षितिपि-चरण पीठे स्थापितो वामपाद. ।११। पंक्ति

तथा तत्कालीन परिस्थितियों को देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त को राज्यशासन शान्ति से नहीं प्राप्त हुआ। उसमें तथा उसके सौतेले भाई पुरुगुप्त मे संघर्ष हुआ। पुरुगुप्त राजमहिषी अनन्तदेवी का पुत्र था। अन्त में स्कन्दगुप्त की विजय हुई।[1] सैदपुर भितरी के स्तम्भलेख मे स्कन्द की माता का नाम नहीं दिया गया है। सम्भवत उसकी माता हीन कुटुम्ब की थी। श्री गुप्त से लेकर कुमारगुप्त तक सभी राजाओं और उनकी माताओं के नाम का उल्लेख है, पर स्कन्द की माता का नाम उसमे नहीं दिया गया है। इस स्तम्भ लेख मे—

'प्रथितविपुलयामा नामत स्कन्द गुप्त',

के पहले या बाद मे कहीं मातृनाम का उल्लेख न होने से यह सन्देह और भी पुष्ट हो जाता है। इस स्तम्भ लेख की तेरहवीं पंक्ति मे आशा है कि पिता की मृत्यु के बाद परिक्लान्त वंशलक्ष्मी को मुक्त तथा व्यवस्थित करने के लिए अपनी भुजाओं के बल से स्कन्द ने शत्रुओं का संहार किया। पूर्ववत वंश गौरव की स्थापना के बाद पुत्र की विजय से प्रसन्न अश्रुयुक्त माता से स्कन्द उसी प्रकार मिले जिस प्रकार शत्रुओं के संहार के बाद कृष्ण देवकी से मिले थे।

'पितरि दिवमुपेते विप्लुता वंशलक्ष्मी, भुजबल विजितारिर्य प्रतिष्ठाप्य भूय
जितमिति परितोषान्मातर सास्रनेत्रा हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेत ।'

सम्भवत. प्रसाद ने स्कन्द की माता देवकी नाम का सकेत यहीं से लिया है। स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से राज्य प्राप्त किया था। जूनागढ़ के अभिलेख से इस धारणा की पुष्टि होती है। सभी मनुष्यों को परित्याग कर कुललक्ष्मी ने स्वय स्कन्दगुप्त को वरण किया था —

'व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मी स्वय य वरयाचकार।'

युद्ध भूमि मे शत्रुओं को पराजित कर लौटने पर स्कन्द ने, डा० मजूमदार के अनुसार पुरुगुप्त से ही युद्ध किया और उसे पराजित कर राजगद्दी प्राप्त की।

'कुमारगुप्त के समय का मध्यभारत के गुना जिले के तुमैन ग्राम मे एक खंडित शिलालेख प्राप्त हुआ है—जिसमे घटोत्कच गुप्त के राज्य करने का उल्लेख है। सम्भवत. घटोत्कच गुप्त प्रथम कुमार गुप्त का पुत्र था और उसी से स्कन्दगुप्त को संघर्ष करना पड़ा है। स्कन्द और पुरुगुप्त की शत्रुता स्कन्द के राज्यारोहण से ही समाप्त नहीं हुई किन्तु उसकी मृत्यु के बाद तक यह क्रम चलता रहा। स्कन्दगुप्त के बाद राज्य का अधिकारी पुरुगुप्त अथवा उसके पुत्र हुए, जिन्होंने अभिलेखों मे

1 Dr. R. C Majumdar : Ancient India; Page 248

दी हुई वंशावली (आफीसियल रिकार्डस्) में अपने को कुमारगुप्त का वंश बतलाया है तथा स्कन्दगुप्त के नाम तक की चर्चा नहीं की है।[1]

पुष्यमित्रों की पराजय के बाद स्कन्दगुप्त को हूणों से कई युद्ध करने पड़े। हूण जाति ने मध्य एशिया में प्रबल सत्ता स्थापित कर ली थी। वहां से हूणों की एक शाखा ने, जिसे श्वेत हूण (White Huns) कहते हैं, परशिया और भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। पामीर के पठार से होते हुए दुर्दंर्ष हूणों ने भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। हूणों के भयंकर आक्रमण को रोमन साम्राज्य भी न सम्भाल सका—पर गुप्त साम्राज्य स्कन्द के युद्ध-कौशल के कारण अपने स्थान पर अडिग रहा। पुष्यमित्रों से युद्ध और उन्हें पराजित करने के कारण स्कन्द को युद्ध-कला का पूर्ण अनुभव हो चुका था। हूणों से भयंकर युद्ध रहा। सैदपुर भितरी जिला गाजीपुर के स्तम्भलेख से मालूम होता है :

'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य'.—

—अर्थात् स्कन्द ने अपने बाहुबल से हूणों में आतंक पैदा कर दिया था—युद्ध भूमि में भयंकर आवर्त बन गया तथा पृथ्वी कांपने लगी।[2]

स्कन्द ने अपने पिता की कीर्ति को स्थायी बनाने के अभिप्राय से विजय के उपलक्ष में एक स्तम्भ निर्मित कराया तथा उसके ऊपर विष्णु भगवान की प्रतिमा स्थापित की। भितरी अभिलेख का अंतिम अंश इस प्रकार है—

अपि भगवतो मूर्तिरियं यश्चात्र संस्थित,
उभय निर्दिदेशासौ पितु पुण्याय पुण्य धी।

स्कन्द ने यह विजय अपने शासन के प्रारम्भ में ही प्राप्त की थी—क्योंकि गुप्त संवत् १३८ तथा ई० सन् ४५८ का दूसरा अभिलेख जूनागढ़ में प्राप्त हुआ है—जिससे सुदूर पश्चिम काठियावाड़ तक उसके राज्य का निष्कंटक विस्तार सिद्ध होता है। जूनागढ़ के लेख के दो भाग हैं। पहले भाग से ज्ञात होता है कि पर्णदत्त को काठियावाड़ का शासक (गवर्नर) नियुक्त किया, जो उसका उत्तरदायित्व वहन करने में सर्वथा समर्थ था—

'आ ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्त भारस्य तस्योद्वहने समर्थ।'[3]

पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को जूनागढ़ का अधिकारी नियुक्त किया। चक्रपालित गुण और कर्म में अपने पिता के ही अनुरूप था।

सन् ४५५-५६ ई० में वर्षा की अधिकता से सुदर्शन नामक झील का बांध

---

1 Dr R C Majumdar · Ancient India, Page 249

२ वासुदेव उपाध्याय 'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० ७१

३ वही, पृ० ६४

टूट गया था। यह बांध चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में सिंचाई के लिए निर्मित कराया गया था। पर्णदत्त ने इस समय उस बांध की मरम्मत कराई और वहाँ के लोगों की कष्ट और विपत्ति से रक्षा की। दूसरे भाग से ज्ञात होता है कि चक्रपालित ने सन् ४५७ ई० में चक्रभृत नामक विष्णु मन्दिर बनवाया। जूनागढ़ का अभिलेख यह भी प्रमाणित करता है कि अपने भुजाओं के बल से प्राप्त राज्य की रक्षा के लिए—तथा शत्रुओं को दबाए रखने के अभिप्राय से अपने राज्य के प्रत्येक प्रान्त में अधिकारी नियुक्त किये थे—

चतुरुदधि जलान्ता स्फीता पर्यन्त-देशाम।
अवनिभवनतारियें चकारात्मसस्याम्।[1]

कहौम-लेख, यह अभिलेख गोरखपुर जिले में कहौम नामक गाँव में है, से यह विदित होता है कि मद्र नामक किसी जैनी ने उक्त ककुभ गाँव में पाँच तीर्थंकरों की मूर्तियाँ और एक स्तम्भ बनवाया था। यह जैन, ब्राह्मण, गुरु और सन्यासियों का भक्त था। इस लेख का समय सन् ४६० ई० है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्कन्द के राज्य की सीमा के अन्दर पूर्वी और पश्चिमी प्रान्त सम्मिलित थे। तीसरी पंक्ति में स्कन्द के राज्य की उपमा इन्द्र से दी गई है—

'राज्ये शक्रोपमस्य क्षितिप शत-पते स्कन्दगुप्तस्य शान्ते।'

इन्दौर के ताम्रलेख से जिसका समय सन् ४६५ ई० है, यह प्रमाणित होता है कि स्कन्द गुप्त का सामन्त विषयपति शर्वनाग—'विषयपति शर्वनागस्य' 'अन्तर्वेद्याम् भोगाभिवृद्धये वर्तमाने' गंगा यमुना के बीच के देश का स्वामी था। उस समय किसी देवविष्णु नामक चतुर्वेदी ब्राह्मण ने इन्द्रपुर के सूर्य मन्दिर में दीपक जलाने के लिए अक्षयदान दिया था। इस समय तक गुप्त शासन में पूर्ण शान्ति विराज रही थी। इस ताम्र पत्र में स्कन्दगुप्त की उपाधि परम भट्टारक, महाराजाधिराज—श्री स्कन्दगुप्तस्य लिखी है। कहौम वाले शिलालेख में क्षितिप-शतपति की उपाधि से वह विभूषित है। यह इन्दौर बुलन्दशहर जिले की अनुपशहर तहसील में है। इस लेख में इनका पुराना नाम इन्द्रपुर और इन्द्रपुरक लिखा गया है।

गुप्तकाल का एक लेख गढ़वा में प्राप्त हुआ है। इसमें यद्यपि राजा का नाम नहीं दिया गया है, तथापि दिये गये संवत से अनुमान किया जा सकता है कि यह लेख भी स्कन्दगुप्त का है। यह लेख विष्णु मन्दिर के फर्श में चुने हुए एक पत्थर पर था। आजकल यह कलकत्ते के अजायबघर में है। सन् ४६७-६८ ई० के इस लेख में भी यह प्रमाणित होता है कि गुप्त शासन में इस काल तक पूर्ण शान्ति विराज रही थी।

---

1. वासुदेव उपाध्याय- प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन', पृष्ठ ६३

'कथासरित्सागर' के अठारवें भाग मे उज्जैन के राजा महेन्द्रादित्य के समय मे म्लेच्छो के आक्रमण की चर्चा हुई है। महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य ने म्लेच्छो को पराजित कर देश की रक्षा की थी। गुप्तकालीन सिक्को के अनुसार कुमार गुप्त प्रथम की महेन्द्रादित्य तथा स्कन्दगुप्त की विक्रमादित्य उपाधिया थीं। इस भाति उक्त कथानक का सम्बन्ध कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कन्दगुप्त से ज्ञात होता है।

श्री जान एलन का अनुमान है कि यद्यपि स्कन्दगुप्त ने अपने शासन काल के आरम्भ म हूणो को पराजित कर दिया था—किन्तु अन्तिम दिनो म गुप्त राज्य का पश्चिमी प्रान्त स्वाधीन हो गया था, क्योंकि चादी के गरुडाकित सिक्के पहले की अपेक्षा बहुत कम मिलते थे। इसके उत्तराधिकारियो के समय तो ऐसे सिक्को का सवथा अभाव हो गया था। स्कन्दगुप्त के बाद हूणो के आक्रमण के कारण गुप्त साम्राज्य की नीव हिल गई थी। किन्तु दामोदरपुर से कुमारगुप्त प्रथम और बुधगुप्त के प्राप्त सिक्को से इस मत मे सन्देह होने लगता है। इन सिक्को से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि स्कन्दगुप्त और उनके उत्तराधिकारियो के समय भी पुण्ड्रवधन (उत्तरी बगाल) पर गुप्त राजाओ का ही अधिकार था। कोसम (कौशाम्बी) स मिले भीमवर्मा के लेख मे यद्यपि गुप्त राजा का नाम नही है तथापि उसमे गुप्त सवत के होने से यह प्रमाणित होता है कि वह प्रदेश उस समय स्कन्दगुप्त के ही अधीन था। जहा तक सोने और चादी के सिक्को का सम्बन्ध है स्कन्द के शासन के प्रारम्भ कालीन ढाले हुए सिक्के उसके पूर्वजो के सिक्को से बहुत मिलते हैं, परन्तु इसके राज्य के उत्तर कालीन सिक्के, विशेषकर पूर्वी प्रान्त के सिक्के निम्न कोटि के सोने के बने हैं। हूण तथा अन्य युद्धो के कारण गुप्त साम्राज्य के आर्थिक साधनो को बडा आघात पहुचा। यही कारण है कि स्कन्दगुप्त के समय के ढले हुए सोने के सिक्के पहले की अपेक्षा केवल आकार मे ही छोटे नही है बल्कि एक ही प्रकार के है जबकि उसके पूवजो के समय के सिक्के कई प्रकार के और बडे है।[1]

स्कन्द के राज्य के आरम्भकाल के सिक्के धनुष और लक्ष्मी से युक्त है। गरुण और वृषभ अकित सिक्को पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' लिखा गया है। स्कन्द की अन्य उपाधिया भी उसके सिक्कों से प्राप्त होती हैं।

पुरातत्व से उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर स्कन्दगुप्त को विरक्त तथा भौतिक समृद्धियो से विमुख और उदासीन सिद्ध करना कठिन जान पडता है। प्रसाद जी ने स्कन्द के चरित्र चित्रण म कल्पना का अत्यधिक आश्रय लिया है, जो स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सवथा अनुकूल है।

---

१ Dr R C Majumdar, Ancient India, page 250
और 'पाटली पुत्र की कथा' डा० सत्यकेतु विद्यालकार, पृ० ४४०

पुरुगुप्त के विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता कि वह कब राजगद्दी पर बैठा। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही वह राजगद्दी पर बैठा और पुष्यमित्रों को पराजित करने के बाद स्कन्द ने वापस आकर उससे बलपूर्वक राजसिंहासन हस्तगत कर लिया। अथवा स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् स्वाभाविक रूप से राज्य का अधिकारी हुआ, या वैध उत्तराधिकारी को अपदस्थ कर उसने राज्याधिकार प्राप्त किया। निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पुरुगुप्त का शासनकाल कम समय तक रहा। उसके बाद उसका पुत्र बुद्धगुप्त उत्तराधिकारी हुआ। स्कन्द ने नश्वर संसार की असारता से विरक्त होकर पुरुगुप्त के लिए राज्य त्याग दिया था—इसमें सन्देह है।

फैजाबाद जिला के 'करमदण्डा' नामक स्थान पर कुमारगुप्त प्रथम के समय का महादेव का लिंग प्राप्त हुआ है। यह गुप्त संवत् ११७ ई०, सन् ४३६ का है। इस लेख में कुमारामात्य का नाम है जो कुमारगुप्त प्रथम के समय महाबलाधिकृत था। पृथ्वीसेन का पिता शिखरस्वामी कुमारगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मन्त्री और कुमारामात्य था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्री और कुमारामात्य का पद वंश परम्परा से चला करता था।

'श्री चन्द्रगुप्तस्यमन्त्री कुमारामात्य शिखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्र पृथिवीषणो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्य।'[1]

मन्दसोर में काव्यात्मक शैली में एक लम्बा प्रशस्ति लेख मिला है। इस लेख के द्वारा दशपुर में सूर्य मन्दिर बनवाने का वर्णन प्राप्त होता है। यह नगरी मालवा में धन धान्य से पूर्ण थी। आरम्भ में कुमार गुप्त की ओर से विश्ववर्मा यहां का शासक था—बभूव गोप्तानृप विश्ववर्मा। इसके बाद उसका पुत्र बंधुवर्मा वहां का प्रान्तपति (गवर्नर) नियुक्त हुआ। लाट देश से आये शिल्पियों तथा वैश्यों के कारण यह नगर शिल्प, कला और व्यापार का केन्द्र बन गया था। इन्होंने ही इस भव्य सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया।

गोविन्दगुप्त कुमार गुप्त प्रथम का बड़ा भाई था। बसाढ़ (वैशाली) की खुदाई से प्राप्त उस मुहर से इसका प्रमाण मिलता है जिसमें ध्रुवस्वामिनी ने अपने को गोविन्दगुप्त की माता तथा चन्द्रगुप्त की पत्नी कहा है। सम्भवतः इस काल तक कुमारगुप्त को युवराजपद नहीं प्राप्त हुआ था। यदि कुमार गुप्त को युवराज-पद प्राप्त होता तो वह अपने को कुमारगुप्त की माता बनना अधिक पसन्द करती।

मंदसोर में मालव संवत् ५२४ का एक लेख प्राप्त हुआ है—जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय, गोविन्दगुप्त तथा प्रभाकर नामक एक शासक और उसके सेनापति दत्तभट्ट का नाम है। जिस समय यह लेख प्राप्त हुआ, उस समय उसका पूर्ण उद्धार नहीं

१ वासुदेव उपाध्याय—'प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन', पृ० ५५

हो पाया था। फलत. अपूर्ण पाठ के आधार पर राखालदास बन्द्योपाध्याय ने अनुमान किया था कि गोविन्दगुप्त अपने भाई के समय मे मालवा का उपरिक था और कुमार गुप्त की मृत्यु के पश्चात वह स्वतन्त्र हो गया। इसी आधार पर गोविंद गुप्त के भाई से रुठ कर चलेजाने की कल्पना प्रसाद जी ने उपस्थित की है। पर इस शिलालेख के सम्पूर्ण अभिलेख के अध्ययन से अब इस प्रकार की कल्पना के लिये कोई स्थान नही रह जाता। इसमे इतना ही ज्ञात होता है कि गोविन्द गुप्त क सेनापति वायुरक्षित के पुत्र दत्तभट्ट ने उक्त लेख को उत्कीर्ण कराया था और उस समय (अर्थात स० ५३४ से पूर्व) गोविन्दगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी। इस प्रकार निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि गोविन्दगुप्त स्कन्दगुप्त के समय जीवित थे।[1]

स्कन्दगुप्त का शासन पश्चिम मे सौराष्ट्र तक विस्तृत करना असगत जान पडता है। सम्भव है चन्द्रगुप्त के बाद कुछ काल तक शासन करने के पश्चात गोविन्दगुप्त की मृत्यु हो गई है।

कालिदास

कालिदास के विषय मे विभिन्न विद्वानो की भिन्न धारणायें और विचार है। कालिदास के समय के विषय मे बहुत विद्वान इस मत से सहमत हैं कि कालिदास गुप्तकाल म पैदा हुए थे। गुप्तकालीन वैभव और शान्तिमय वातावरण इनकी काव्य रचना के सर्वथा अनुकूल था। इन्हे गुप्तकालीन मानने वाले विद्वानो मे भी मतैक्य नही है। पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक अपनी सम्पादित पुस्तक मेघदूत की भूमिका मे इन्हे स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। डा० रामकृष्ण भण्डारकर तथा रामावतार शर्मा और अन्य विद्वानो ने इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन माना है। श्री विजयचन्द्र मजूमदार की धारणा है कि कालीदास, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के ही समकालीन थे।[2]

मद्रास प्रान्त म धाराधीश भोजराज का 'श्रृगार प्रकाश' नामक ग्रन्थ मिला है। उसके आठवें प्रकाश मे दिए एक श्लोक से ऐसा ज्ञात होता है कि कालिदास दूत बनकर कुन्तलेश्वर नामक राजा की सभा मे गए थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य क यहा लौटकर उन्होने सन्देश दिया कि कुन्तलेश्वर तुम्हारे ऊपर राज्य का भार छोडकर अन्तःपुर म स्त्रियो के साथ आमोद प्रमोद और आनन्द म समय व्यतीत करता है। इस आशय का श्लोक भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' और राजशेखर की 'काव्य मीमासा' म उद्धृत है। 'काव्य मीमासा' के ११ वें अध्याय म किंचित परिवर्तन के साथ वह श्लोक उद्धृत किया है—

१ परमेश्वरीलाल गुप्त 'प्रसाद के नाटक', पृष्ठ १६४

२ Journal Royal Asiatic Society, 1909, Page 731.

'पिबतु मधु सुगन्धीन्याननानि प्रियाणाम्
मयि विनिहित भारः कुन्तलानामधीशः ।'

अर्थात् राज्य का भार मेरे ऊपर छोड़कर कुन्तलेश्वर प्रिय-मुख सुगन्धि का पान करे। सरस्वती कण्ठाभरण' में 'पिबति' दिया गया है। यह कुन्तलेश्वर चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाती वाकाटक द्वितीय प्रवरसेन होना चाहिए। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक घराने में द्वितीय रुद्रसेन से किया था। प्रवरसेन के बाल्यकाल में चन्द्रगुप्त की इच्छा और सलाह के अनुसार राज्य का कार्य सञ्चालित होता था। प्रवरसेन के बड़े होने पर राज्य की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चन्द्रगुप्त ने कालीदास को दूत बनाकर विदर्भ देश भेजा होगा। वाकाटक राजधानी के समीप रामगिरि पर कालिदास ने मेघदूत की रचना की। इन्होंने चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय राजदूत का कार्य किया था।[1]

बलदेव उपाध्याय कालिदास को ई० पू० प्रथम शताब्दी का मानते हैं। पर आज यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन थे और कुमार गुप्त के समय तक थे। विजयचन्द्र मजूमदार और विन्सेन्ट स्मिथ उन्हें स्कन्द के समय का मानते हैं। मातृगुप्त को काश्मीर का शासनाधिकार प्राप्त हुआ था और कालिदास ने दौत्य कार्य किया था पर दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं, इस पर विद्वानों में मतभेद है। सम्भवतः विक्रमादित्य नाम के साम्य का आधार लेकर प्रसाद जी ने दोनों नामों का सम्बन्ध जोड़ दिया है। कुमारदास संस्कृत के प्रतिभाशाली कवि हैं। इनकी रचना 'जानकी हरण' का पूर्ण अंश आज तक प्रकाशित नहीं हो सका है—यद्यपि मद्रास में सम्पूर्ण ग्रन्थ का हस्तलेख प्राप्त है। सिंहल के राष्ट्रीय इतिहास ग्रन्थ 'महावंश' में कुमार धातुसेन नामक राजा का नाम मिलता है। आलोचकों का मत है कि प्रसिद्ध कवि कुमारदास और राजा कुमार धातुसेन दोनों एक ही व्यक्ति हैं, परन्तु इस मत के समर्थन में कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। यदि दोनों एक ही व्यक्ति होते तो कोई कारण नहीं जान पड़ता कि महावंश में कवि के नाम का उल्लेख नहीं मिलता।[2]

कुमारदास के 'जानकी हरण' की कालिदास ने, कहा जाता है, खूब प्रशंसा की थी। किंवदन्तियों तथा सिंहल की पुस्तकों के आधार पर दोनों कवियों की सम-सामयिकता के प्रमाण प्राप्त होते हैं—पर इस विषय में आज भी विद्वानों में मतभेद है।

भटार्क—वलभी के मैत्रक वंश के संस्थापक रूप में भटार्क का उल्लेख मिलता है। इसके पुत्र ने अपने लेख में परम भट्टारक पादानुध्यात कहा है—इससे ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध गुप्तवंश से था। भटार्क सम्भवतः स्कन्दगुप्त का

१ म० म० वासुदेव विष्णु मिराशी—'कालिदास', पृष्ठ ३९
२. बलदेव उपाध्याय—'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० २२३

सेनापति था-क्योंकि महाबलाधिकृत होने पर उसके वंशज उसे सेनापति न कहकर महासेनापति कहते। स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद ही उसने मैत्रक वंश की स्थापना की होगी क्योंकि सौराष्ट्र स्कन्द के शासन के अधीन था और पर्णदत्त वहां का शासक था।

बन्धुवर्मा-यह मालव का शासक था। मालव गुप्त साम्राज्य के अधीन करद था-इसने स्कन्द को अपना राज्य सौंप दिया-इसका समर्थन इतिहास से नहीं होता। स्कन्दगुप्त के शासन के समय सम्भवतः बन्धुवर्मा मालवा का शासक था। गुप्त साम्राज्य के अधीन करद होने के कारण ही प्रसाद जी ने राज्य समर्पण की कल्पना की है-जिससे एक राष्ट्रीयता की उदात्त भूमिका प्रस्तुत हो सके। भीमवर्मा की स्थिति स्कन्द के शासन के समय सन्दिग्ध है।

प्रसाद जी ने इस नाटक में पूर्ण स्वतन्त्रता से वस्तु विधान में कल्पना का प्रयोग किया है। इतिहास में कुमारगुप्त को विलासी और भोगलिप्त प्रमाणित करना कठिन जान पड़ता है। कुछ ऐतिहासिकों ने, कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के शासन के अन्तिम समय में हुये हूण आक्रमणों के कारण तथा उन सिक्कों को देखकर जिनमें वृद्ध राजा तथा युवती रानी की आकृतियां अंकित हैं, उसे विलासी चित्रित किया है-पर अन्य विद्वान इस मान्यता से सहमत नहीं हैं।

प्रसाद ने स्वयं लिखा है- 'पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि जहाँ तक सम्भव हो सका है न होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलम्ब लेना ही पड़ा है, केवल घटना की परम्परा ठीक करने के लिये।। इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु विधान में कल्पना का प्रयोग किया गया है।

कल्पना और ऐतिहासिकता को लेकर कल्पित पात्रों की ऐतिहासिक संगति के विषय में वे स्वयं कहते हैं-'इसमें प्रपंच बुद्धि और मुद्गल कल्पित पात्र हैं। स्त्री पात्रों में स्कन्द की जननी का नाम मैंने देवकी रक्खा है, स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में हतरिपुरिव कृष्णो देवकी मम्युपेन' मिलता है। सम्भव है कि स्कन्द की माता के नाम देवकी ही से कवि को यह उपमा सूझी हो। देवसेना और जयमाला वास्तविक और कल्पित पात्र दोनों हो सकते हैं। विजया, कमला, रामा और मालिनी जैसी किसी दूसरी नाम धारिणी स्त्री की भी उस काल में सम्भावना है, तब भी ये कल्पित हैं।'

प्रसाद ने यहां कल्पना का प्रयोग कुछ अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक किया है, ऐतिहासिकता के बन्धन को सीमित मात्रा में ही स्वीकार किया है- वहां वस्तु संगठन बड़ा ही सुसंगठित हुआ है तथा उदात्त पात्रों की सृष्टि हुई है। विशिष्ट नारी पात्रों के निर्माण में उनको अभूतपूर्व सफलता मिली है। यही कारण है कि स्कन्द के चरित्र का वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय पक्षों के विविध रूपों का मार्मिक चित्रण बन सका है। राष्ट्रीय पक्ष-जिसमें राष्ट्र का उद्धार ही उसका लक्ष्य रह जाता है और

वैयक्तिक पक्ष में स्कन्द के अन्तर्द्वन्द का उद्घाटन नाटककार की कल्पना का परिणाम है।

स्कन्द और देवसेना सम्बन्धी कथानक यदि पौराणिक पीठिका को ध्यान में रखते हुये देखा जाय तो असंगतियाँ दूर हो जाती हैं। स्कन्द का राष्ट्रीय पक्ष- शत्रुओं का संहार इतिहास सम्मत है। पौराणिक स्कन्द देव सेनापति थे। वे देवों के सेनानी थे। साथ ही देवसेना उनकी प्रेयसी का भी नाम था। स्कन्द, कार्तिकेय, कुमार-अविवाहित थे। पार्वती जी ने ऋद्धि-सिद्धि का विवाह गणेश से किया। पृथ्वी की परिक्रमा से लौटने के बाद स्कन्द ने देखा कि गणेश का विवाह हो गया है तो उन्होंने भीष्म प्रतिज्ञा की कि मैं आजन्म कुमारा ही रहूंगा। स्कन्दगुप्त' नाटक का नायक स्कन्द शत्रुओं का समूल नाश कर देश की रक्षा करता है। अपना कर्तव्य पूरा करने के बाद अन्त में कौमार व्रत स्वीकार करता है। देवसेना के प्रति उसके हृदय में सात्विक प्रणय भावना है। किन्तु परिस्थितियों तथा मानसिक संघर्षों के द्वारा वह व्यथित और पीड़ित है। देवसेना का त्याग और प्रणय का निर्वाह दैवी भूमिका को स्पर्श करता है[1]। स्कन्द राज्य त्याग कर उदारता और उच्चशील का परिचय देता है।

प्रसाद पुराण और उपनिषद के गम्भीर अध्येता थे। ऐसी स्थिति में यदि स्कन्द का पौराणिक स्वरूप ध्यान में रखते हुये उन्होंने इतिहास और कल्पना का प्रयोग किया हो तो स्वाभाविक ही है।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त मौर्य भारतवर्ष का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट है जिसने अपने पौरुष और पराक्रम के द्वारा चाणक्य नामक ब्राह्मण की नीति कुशलता का आश्रय लेकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इसके प्रारंभिक जीवन के विषय में प्रामाणिक तथ्य के अभाव के कारण विभिन्न धारणायें फैली हुई हैं। यह स्वाभाविक है कि यदि साधारण कोटि का व्यक्ति ऐतिहासिक महत्व प्राप्त कर लेता है और उसके जीवन के विषय में प्रामाणिक वृत्त नहीं मालूम है तो अनेक किम्वदन्तियां और काल्पनिक घटनायें उनके जीवन के साथ सम्बद्ध हो जाती हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के जन्म और जाति आदि के विषय में भी अनेक जनश्रुतियाँ फैली हुई हैं, पर आज यह निर्भ्रान्त रूप से प्रमाणित हो चुका है कि वह वर्ण से क्षत्रिय था। अनेक विघ्नों और कठिनाइयों को झेलकर अपने पराक्रम से महत्वाकांक्षी चन्द्रगुप्त ने बृहत्साम्राज्य की स्थापना की थी।

पौराणिक प्रमाणों के आधार पर कुछ लोग चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र वंश में उत्पन्न मानते हैं। शैशुनाग वंश के विनाश और नन्दवंश की स्थापना के साथ

1 आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र-'स्कन्द और देवसेना' निबन्ध द्रष्टव्य है।

पुराणों के लेख के अनुसार तत प्रभृति राजान भविष्या शूद्र योनय भविष्य में शूद्र राजा होगे—का सम्ब ध केवल नन्दवंश के राजाओ से है। पुराणो म महापद्म नन्द को सवक्षत्रान्तक सब क्षत्रियो का उत्पादक या उत्सादक भी कहा गया है। बहुत से विद्वानों ने नन्द राजा की पत्नी मुरा के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण मुरा शब्द से मौर्य की उत्पत्ति मानी है। पर इस मान्यता का कोई प्रामाणिक आधार नही है कि चन्द्रगुप्त की माता का नाम मुरा था और वह रखैल थी किन्तु V A Smith लिखते हैं कि But it is perhaps more probable that the dynasties of Mouryas and Nandas were not connected by blood

तात्पर्य यह है कि अधिक सम्भव है कि नन्दो और मौर्यों का कोई रक्त सम्बंध नही था। Maxmuller भी लिखते हैं The staetment of wilford that Mourya meant in Sanskrit the offspring of a barber and Sudra woman has never been proved मुरा शूद्र तक ही न रही एक नापित भी मान गया। मौर्य शब्द की व्याख्या करने वालो ने कैसा भ्रम फैलाया गया है। मुरा शब्द से मौर और मौरेय बन सकता है न कि मौर्य १।

छठी और सातवी शताब्दी की रचना मुद्राराक्षस नामक नाटक मे चन्द्रगुप्त के लिए वृषल शब्द का प्रयोग किया गया है। पर विवेचन से यह प्रमाणित हुआ है कि इस शब्द का प्रयोग तुच्छता और अप्रतिष्ठा का द्योतक है। जन्मजात शूद्र के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग नही हुआ है। वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा करने वालो के लिये इस शब्द का प्रयोग प्राय किया गया है। मनुस्मृति के अनुसार

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातय
वृषलत्व गतालोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।
वृषोहि भगवान धर्मस्तस्यय कुरुतेह्यलम
वृषल त विदुर्देवास्तस्म दधर्मनलोपयेत ।

उसी को वृषल की संज्ञा दी गई है, जिसने धार्मिक क्रियाओं का अनादर किया है। कथासरित्सागर और वृहत्कथा मंजरी जो दोनों ग्यारहवीं शताब्दी की रचनायें हैं भिन्न प्रकार का कथानक दिया गया है। कथासरित्सागर के अनुसार नन्दराज की मृत्यु के पश्चात इन्द्रदत्त नामक व्यक्ति ने योग विद्या की सहायता से उसके मृत शरीर मे प्रवेश कर राज्य हस्तगत कर लिया। बाद मे वह योगानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मृत नन्द की रानी से उसने विवाह किया और उससे हिरण्यगुप्त नाम की सन्तान पैदा हुई। नन्द के वास्तविक पुत्र चन्द्रगुप्त से योगानन्द और उसका पुत्र हिरण्यगुप्त दोनों ही घृणा करते थे। यह स्वाभाविक ही था क्योकि उन्हें

---

१ चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका पृ० ११ १२

चन्द्रगुप्त से भय था कि भविष्य मे राज्य का अधिकारी कहीं वही न हो जाय ? मृत नन्दराज के प्राचीन मन्त्री शकटार ने चाणक्य नामक ब्राह्मण की सहायता से योग नन्द और उसके पुत्र हिरण्यगुप्त का वध कर दिया तथा चन्द्रगुप्त को राजा तथा चाणक्य को मन्त्री नियुक्त किया। स्वय शकटार ने सन्यास धारण किया। 'वृहत्कथामन्जरी' मे दिया कथानक भी बहुत कुछ इससे मिलता जुलता है। इन पुस्तको के अनुसार चन्द्रगुप्त नन्दवशीय सिद्ध होता है। पर इन दोनो ग्रथो तथा 'मुद्राराक्षस' मे दिये कथानक को ऐतिहासिक स्वीकार करना अनुचित होगा। पूर्वोक्त तीनों पुस्तकें 'गुणाढ्य' की प्राचीन रचना 'वृहत्कथा' पर आधारित हैं। 'वृहत्कथा' आज अनुपलब्ध है। अत इनके आधार पर चन्द्रगुप्त के वश का निर्णय करना अनुचित जान पडता है। इनम आये हुए कुछ ऐतिहासिक नामो के अतिरिक्त परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता है।

बौद्ध साहित्य चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय सिद्ध करता है। बौद्ध साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'महावश' की टीका मे चन्द्रगुप्त को मौर्य नगर के राजवश का राजकुमार बतलाया गया है। इसके अनुसार महात्मा बुद्ध के जीवन काल मे ही शाक्य वश की एक उप-शाखा ने कोसल के अत्याचारी राजा विडूडभ के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए भाग कर हिमालय के एकान्त प्रदेश मे शरण ली। यह स्थान मयूरो के लिये प्रसिद्ध था। मयूरो से प्रतिध्वनित देश म रहने के कारण ये मौर्य कहलाये। दूसरी कथा के अनुसार यह नगर मयूरों की गर्दन के रग की ईटो से बना था, इसलिए ऐसे नगर के निर्माण करने वाले व्यक्ति मौर्य कहलाये।[1]

महावश के अनुसार चाणक्य ने नवें नन्द (धननन्द) का विनाश कर मौर्य क्षत्रिय चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का सम्राट बनाया।

'मोरियान खत्तियान वसे जात सिरीधर
चन्द्रगुत्तो ति पञ्जत्त चणक्को ब्राह्मणोततो।
नवम धननन्दन्त घातेत्वा चण्डकोधसा
सकले जम्बूदीपम्हि रज्ज समभिसिंचिसो।

'महापरिनिब्बानसुत्त' के उल्लेख के अनुसार महात्मा बुद्ध के देहावसान के बाद पिप्पली कानन के मौर्यो ने भी कुशी नगर के मल्लो के पास यह सन्देश भेजा कि हम भी क्षत्रिय हैं—इसलिये आपके समान ही हमें भी भगवान बुद्ध के शरीर का भस्मभाग प्राप्त करने का अधिकार है।

भगवापि खत्तियो भयमपि खत्तिया। भयमपि अरहाम भगवतो सरीरान भाग।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य एक स्वर से चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय प्रमाणित करता है।

1. Dr R. K Mukherjee : Chandra Gupta Maurya and His Times, Page -4

जैन परम्परा के अनुसार 'मौर्य पोषक ग्राम' के ग्राम-प्रमुख की कन्या से चन्द्रगुप्त का जन्म सिद्ध होता है। जैन ग्रन्थ में नन्द को अकुलीन स्त्री से नापित द्वारा उत्पन्न बतलाया गया है। इससे पिता और माता दोनों पक्षों से ही नन्द नीच कुल जन्म सिद्ध होता है।[1]

नौ नन्दों में प्रथम नन्द को नापित कहा गया है।[2] बौद्ध साहित्य में इसका प्रमाण मिलता है कि पराजित नन्द को चाणक्य ने अनुमति दी कि वह एक रथ में जितना सामान ले जा सकता है, ले जाय। उसकी दो स्त्रियाँ और एक कन्या थी। उसकी पुत्री प्रथम दर्शन में ही चन्द्रगुप्त पर मुग्ध हो गई। उसके पिता ने चन्द्रगुप्त से परिणय के लिए अनुमति दे दी क्योंकि यह परम्परागत नियम था कि क्षत्रिय कन्या अपने मनोनुकूल पुरुष को वरण करे—

प्राय क्षत्रिय कन्याना सस्यते हि स्वयवर ।

इस आधार पर नन्द भी क्षत्रिय प्रमाणित होता है, और नन्द कुमारी के साथ उसका विवाह भी हुआ था।[3]

बौद्ध और जैन साक्ष्य मौर्यों को मयूरों से सम्बद्ध करते है, और तत्कालीन स्मारक इसका समर्थन करते हैं। नन्दनगढ़ के अशोक स्तम्भ के अधो भाग में पृथ्वी तल से नीचे मयूर का चिन्ह प्राप्त हुआ है। सांची के विशाल स्तम्भ पर अशोक के जीवन वृत्त के साथ मयूर मूर्ति भी अनेक स्थानों पर उत्कीर्ण है। फुश,(Foucher) सर जान मार्शल (Sir john Marshall) और (Grunwedel) ग्रुनवेडेल इस मत से सहमत हैं कि मयूर मौर्यों का वश प्रतीक था।[4]

उपर्युक्त बौद्ध और जैन साहित्य तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाणों को देखने से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अभिजात क्षत्रिय कुल में पैदा हुआ था। वह ब्राह्मण धर्मावलम्बी नहीं था। जैन परम्पराओं एव दक्षिण भारत के कतिपय अभिलेखों से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त जैन था। उसने सिल्यूकस की कन्या से परिणय किया था। इससे भी ब्राह्मण व्यवस्थापकों की कटु आलोचना का पात्र बना था।

बाल्य-जीवन

बौद्ध काल के सोलह महाजनपदों के अतिरिक्त पिप्पली-कानन का मोरिय

---

१ परिशिष्ट पर्वन—अध्याय ८, पृ० २३० (द्वारा हेमचन्द्र)

२ आवश्यक सूत्र-पृ० ६९३

३ परिशिष्ट पर्वन, अध्याय ८, पृ० ३२०

4 R K Mukherjee - Chandra Gupta and His Times, p 15

गण भी एक जनपद था। उत्तरी बिहार में नेपाल की तराई के समीप वज्जिमहाजनपद के पड़ोस में मोरिय जनपद था। अजातशत्रु ने वज्जि जनपद को अपने अधीन कर लिया था। मगध के उग्र साम्राज्यवाद के कारण मोरिय जनपद भी अन्य गण राज्यों के समान इसके अधीन था। नन्दवंशीय राजा धननन्द यहाँ का शासक था।

मोरियगण राजकुल की एक रानी अपने भाई बन्धु सहित मगध सम्राट के कोप से बचने के लिये छिपकर पाटलिपुत्र में अपना जीवन बिता रही थी। इस दशा में कुमार चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। उसकी माता ने राजकर्मचारियों के भय से अपने नवजात शिशु को एक ग्वाले के सुपुर्द कर दिया। मोरिय गण के राजकुमार चन्द्रगुप्त का पालन पोषण अपने सम वयस्क ग्वाल बालों के साथ होने लगा।

एक बार चन्द्रगुप्त अन्य बालकों के साथ 'राजकिलम' नामक खेल खेल रहा था। इस खेल में वह बड़ी कुशलता से साधिकार राजा की भूमिका निभा रहा था। अन्य बालक उसके आदेशों को बड़ी तत्परता से कार्यान्वित कर रहे थे। न्यायाधीश के आसन पर बैठकर वह अभियुक्तों के अपराध के अनुसार दण्ड की व्यवस्था कर रहा था। दूसरे लड़के उसके आदेशों को बड़ी तत्परता से कार्यान्वित कर रहे थे। कुछ अपराधियों को यह दण्ड दिया गया था कि उनके हाथ पैर काट लिये जाय। राज-कर्मचारियों के यह कहने पर कि हम लोगों के पास कुल्हाड़े नहीं हैं, चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी कि लकड़ी के डंडे बकरों की सींग जोड़कर कुल्हाड़े तैयार कर लिये जाँय। राजाज्ञा का पालन शीघ्र हुआ, अभियुक्त के हाथ पैर अभिनय स्वरूप काटे गये, पुन जोड़ भी दिये गये। चाणक्य नामक ब्राह्मण इस खेल को ध्यान से देख रहा था। चन्द्रगुप्त की कार्य कुशलता और दृढ़ता से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने इस बालक को शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा देकर भावी कार्यक्रम के उपयुक्त बनाने का निश्चय किया। यह कहानी भिन्न-भिन्न रूपों में दी गई है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में इस कहानी को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है—'चाणक्य ने ठीक-ठीक ब्राह्मण की तरह उस बालक राजा के पास जाकर याचना की—'राजन, मुझे दूध पीने के लिए गऊ चाहिए।' बालक ने राजोचित उदारता का अभिनय करते हुए सामने चरती हुई गौओं को दिखलाकर कहा—इनमें से जितनी इच्छा हो तुम ले लो।' चन्द्रगुप्त ने दृढ़ता के साथ विश्वास दिलाया कि आज्ञा का पालन होगा।

चाणक्य लड़के के साथ उसके घर गया। उसके संरक्षक ग्वाले को एक हजार कार्षापण देकर बोला—'मैं तुम्हारे पुत्र को सब विद्यायें सिखाऊंगा। तुम इसे मेरे साथ कर दो। ग्वाला इसके लिये तैयार हो गया। चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपने

साथ ले गया। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की संरक्षकता में सब विद्याओं का यथाविधि अध्ययन किया।[2]

चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में जैसा प्रसाद जी ने लिखा है—'चाणक्य ने चन्द्रगुप्त की माँ को उसे किसी प्रकार राज-कुल में भेजने की सलाह दी। चन्द्रगुप्त की माता उसे डरते हुए राज कुल में ले गयी। वहाँ उसकी बुद्धि की परीक्षा हुई। सिंहलद्वीप के राजा द्वारा भेजे हुए सिंह को बिना पिंजड़ा तोड़े ही उसने गलाकर निकाल दिया। बाद में किसी कारणवश राजा से अनबन होने के कारण उसे पाटलीपुत्र छोड़ना पड़ा।

चन्द्रगुप्त की भेंट चाणक्य से चाहे जिस परिस्थिति में हुई हो, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उसकी शिक्षा दीक्षा तक्षशिला के गुरुकुल में हुई जो उस समय अभिजात वर्ग और राजकुमारों की उच्च शिक्षा के लिए समस्त भारत में विख्यात था। चन्द्रगुप्त आठ नौ वर्ष की अवस्था में तक्षशिला गया होगा और सात या आठ वर्ष वहां रहकर ज्ञान-विज्ञान की व्यापक शिक्षा प्राप्त की होगी। यह निर्भ्रान्ति सत्य है कि चाणक्य ने उसके आरम्भिक जीवन के निर्माण और विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

तक्षशिला के सैनिक विद्यालय और स्वस्थ वातावरण में अध्ययन के कारण चन्द्रगुप्त भारत के विभिन्न राजकुमारों के सम्पर्क में आया वैसे विशिष्ट वातावरण तथा कुलीन सम्पर्क के कारण चन्द्रगुप्त जैसे महत्वाकांक्षी के लिए यह सर्वथा सम्भव था कि उस समय के सर्वश्रेष्ठ सैनिक नेता—सिकन्दर से सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए मिला हो।[3]

विद्वानों में चाणक्य के निवास स्थान के विषय में मतभेद है। जैन ग्रन्थों में सभी भारतीय चरित्रों को जैन सांचे में ढालने का असफल प्रयास मिलता है। 'श्रवणबेलगोला' वाले लेख के द्वारा, जो किसी जैन मुनि का है, चन्द्रगुप्त को भी राज्य छोड़कर यति धर्म ग्रहण करने का प्रमाण उपस्थित किया जाता है। अनेकों ने तो यहाँ तक कह डाला कि उसका साथी चाणक्य भी जैन था।[1] बौद्ध विवरण के अनुसार चाणक्य तक्षशिला का निवासी था। इतिहास के विद्वान चाणक्य का निवास स्थान तक्षशिला सिद्ध करते हैं।[4] प्रसाद जी का अनुमान है कि चाणक्य मगध के ब्राह्मण थे। क्योंकि मगध में नन्द की राजसभा में उनका अपमान हुआ था। उनकी जन्मभूमि पाटलीपुत्र ही थी।

१ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—'पाटलीपुत्र की कथा', पृ० १०१, १०२
2. Dr R K. Mukherjee Chandra Gupta Mourya and His Times, page 17
३. चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका—पृष्ठ ४९
४. डा० राधाकुमुद मुकर्जी और डा० [illegible] विद्यालंकार

चाणक्य का तक्षशिला और पाटली पुत्र दोनो स्थानों में समीप का सम्बन्ध रहा है। 'महावंशटीका' से ज्ञान होता है कि चाणक्य तक्षशिला से पाटलीपुत्र ज्ञान और शास्त्र चर्चा के अभिप्राय से आया था - विवाद पर्येषन्तो पुप्फ पुरं गन्त्वा। उस समय पाटलीपुत्र ज्ञान विज्ञान के केन्द्र के साथ राजनैतिक शक्ति का भी केन्द्र था। चाणक्य बहुत प्रगाढ विद्वान और दूरदर्शी नेता था। जिस समय वह पाटलीपुत्र आया वहां का शासन नवें नन्दवंशीय राजा घननन्द के हाथ मे था। वह अपने अत्याचार और लोलुपता के लिए प्रसिद्ध था। चमड़ा, गोंद, पेड पत्थर पर टैक्स लगाकर उसने विशाल वैभव इकट्ठा किया था। किन्तु चाणक्य ने उसे एक दान-शील नृप के रूप मे पाया। उसने एक दानशाला स्थापित की थी जिसकी व्यवस्था एक संघ के द्वारा होती थी तथा संघ का सभापति ब्राह्मण होता था। सभापति एक करोड सिक्के तक दान दे सकता था।

चाणक्य इस संघ का सभापति इसलिए नही हो सका कि वह बड़ा कुरूप था और उसके आगे के दो दांत टूटे हुए थे। संघ-ब्राह्मण के आसन पर बैठे हुए कुरूप ब्राह्मण को देखकर राजा घननन्द ने पूछा—तुम कौन हो ? जो इस आसन पर आ बैठे हो। चाणक्य ने अपनी मर्यादा के अनुकूल उत्तर दिया—'यह मैं हूं।' घननन्द इस उत्तर से बहुत अप्रसन्न हुआ और चाणक्य को वहां से अपमानित होकर जाना पड़ा। उस उद्धत राजा के विनाश का श्राप देकर अपनी रक्षा के लिये चाणक्य किसी प्रकार वहां से निकल आया और अपने उद्देश्य की पूर्ति मे नन्दकुल के समूल विनाश मे तल्लीन हो गया। इस अवस्था मे अपमानित होकर जब वह जा रहा था—संयोगवश बालक चन्द्रगुप्त से उसकी भेंट हुई—जो भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई।

चन्द्रगुप्त के पुरुषार्थ और कौशल तथा चाणक्य की दूरदर्शिता ने मिलकर पहले मगध विजय किया अथवा पंजाब पर सर्व प्रथम अपना आधिपत्य स्थापित किया—इसमें मतभेद है। यूनानी ग्रन्थों ने एक मात्र पंजाब-विजय का उल्लेख किया है। भारतीय ग्रन्थों के अनुसार केवल मगध विजय का ही वर्णन प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मगध से ही चन्द्रगुप्त ने अपना विजय अभियान आरम्भ किया था। 'महावंश टीका' से यह ज्ञात होता है कि चाणक्य ने एक शक्तिशाली सेना चन्द्रगुप्त को दी थी। उसने इस सैन्य बल से ग्रामों और नगरों को जीतना प्रारम्भ किया। जनता ने इस युद्ध का विरोध किया और सारी सेना को घेर कर छिन्न-भिन्न कर दिया। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने भाग कर वन मे शरण ली। जन-साधारण की भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेश परिवर्तन कर वे दोनों घूमने निकले। एक दिन वे किसी गांव मे ठहरे हुए थे, वहां एक स्त्री मालपुवा बनाकर अपने लड़के को खिला रही थी। वह लड़का चारों ओर के किनारों को छोड़कर केवल बीच का ही भाग खाता था। इसे देखकर उसकी मां ने कहा—तुम्हारा व्यवहार

चन्द्रगुप्त के समान है। जैसे तुम केवल बीच का ही भाग खा रहे हो वैसे ही चन्द्रगुप्त सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा तो रखता है, पर सीमा प्रान्तों को छोड़कर राज्य के मध्य भाग पर ही आक्रमण द्वारा आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। यही कारण है कि उसे पराजित होना पड़ता है। यदि उसे सम्राट बनना है तो पहले सीमाप्रान्त को जीतकर मध्य भाग पर आक्रमण करना चाहिये। यह सुनकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पुनः सेना एकत्र की। पहले उन्होंने सीमाप्रान्त को जीता, पुनः मगध पर आक्रमण किया।[1]

मगध साम्राज्य के उत्तर में इस समय भीषण उथल-पुथल मची हुई थी। सिकन्दर के आक्रमण से गान्धार और पंजाब के विविध जनपद त्रस्त और आतंकित थे। चन्द्रगुप्त ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया। चाणक्य से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर उसके सम्मुख सर्वप्रथम कार्य यह था कि वह भारत को विदेशियों के आक्रमण से मुक्त करे। इसके पूर्व वह सिकन्दर की सहायता से मगध पर विजय प्राप्त करने के अभिप्राय से मिला था। पर चन्द्रगुप्त की स्पष्ट बातें सुनकर सिकन्दर उससे क्रुद्ध हो गया और उसे मार डालने की भी आज्ञा दी थी। पर चन्द्रगुप्त अपने पराक्रम और शौर्य से वहां से सुरक्षित निकल आया था।

सिकन्दर ने व्यास नदी तक अपना राज्य स्थापित किया था। गान्धार जनपद की राजधानी तक्षशिला के राजा आम्भि ने बिना युद्ध किये ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। झेलम के पूर्व में केकय देश का राजा पुरु बड़ा स्वाभिमानी और वीर था। झेलम तट पर दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। पुरु यद्यपि इस युद्ध में पराजित हुआ, पर सिकन्दर के हृदय में पुरु की वीरता और शौर्य के प्रति पूर्ण सम्मान का भाव उदय हो गया था। केकय राज्य का भार पुरु को ही समर्पित कर सिकन्दर ने कठ, क्षुद्रक, मालव आदि गण राज्यों को पराजित किया। मालव और क्षुद्रक सम्मिलित होकर सिकन्दर से युद्ध करने को प्रस्तुत हो रहे थे। उनके पास नियमित रूप से सुगठित सेना नहीं थी। वे अपने सैनिकों को एकत्र कर रहे थे। सिकन्दर का आक्रमण बड़े वेग से हुआ। क्षुद्रकों की सेना तो पहुंच भी न पाई थी। मालवों ने सिकन्दर का सामना बड़े साहस से किया, पर मालव कृषकों को शत्रु सेना ने खेतों में ही काट दिया। इस युद्ध में सिकन्दर की छाती में घाव लगा और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। स्वस्थ होने पर सिकन्दर ने मालव क्षुद्रक संघ से समझौता किया। इनके सौ प्रमुख व्यक्तियों का सिकन्दर ने स्वागत, समारोह से किया।[2]

१. महावंश टीका—पृष्ठ १२३, एपेन्डिक्स १
२ जयचन्द्र विद्यालंकार—'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', जिल्द २, पृष्ठ ६२०-६२१

सम्मिलित प्रयत्न के अभाव तथा सबके अलग-अलग युद्ध करने के कारण इन गण राज्यों को सिकन्दर के सम्मुख पराजित होना पड़ा। इस प्रकार वह व्यास नदी तक तो आ पहुंचा, पर इसके पूर्व बढ़ने का साहस उसे नहीं हुआ। इसके पूर्व यौधेयगण था और उसके बाद विस्तृत मगध साम्राज्य। मध्य पंजाब के गण राज्यों ने बड़े साहस के साथ युद्ध किया था इसलिए सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ कर वीर यौधेयगण और मगध की सेनाओं से युद्ध करना अस्वीकार कर दिया। सिकन्दर की महत्वाकांक्षा जगद्विजय का स्वप्न देख रही थी। वह केवल योद्धा नहीं था, वह वीरों का सम्मान भी करता था। साधु सन्तों के प्रति उसके मन में उदार भावना थी। वह तक्षशिला के साधुमहात्माओं से मिला था। तक्षशिला में वह दंडभिस नामक महात्मा से मिला था'। यवन लेखकों के अनुसार वह कालानास नामक महात्मा को प्रलोभन देकर अपने साथ ले गया था। दण्डभिस ने अपने आश्रम पर सिकन्दर को उसकी क्रूरतापूर्ण विजय के लिए भर्त्सना की थी। संसार को जीतने के साथ-साथ वह सभी सभ्य जातियों में सद्भावना और मैत्री स्थापित करना चाहता था। यूनानी, पारसी और भारतीय आर्यों के सम्बन्ध को उसने पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर पुष्ट किया। ज्ञान और व्यापार के लिए भी उसने केन्द्रों की स्थापना की थी।

उत्तर पश्चिम के विजित प्रदेशों पर शासन करने के लिए फिलिप्स नामक सेनापति की अधीनता में वह ग्रीक सेना छोड़ गया था। फिलिप्स के नियंत्रण में आम्भि तथा पुरुक्षत्र नियुक्त किए गए थे। लौटते समय मार्ग में ही सन् ३२३ ई० पूर्व बेबीलोन नगरी में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। इसके बाद सिकन्दर का विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा। भारतीय प्रदेशों में, जो सिकन्दर के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, विद्रोह की आग भड़क उठी। फिलिप्स की हत्या हुई चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने ग्रीक शासन के प्रति हुए विद्रोह का नेतृत्व बड़ी सावधानी और सफलता से किया। सब घटनायें सगठित रूप में हुईं। इसकी पृष्ठभूमि में चाणक्य की कूटनीति कार्य कर रही थी। चन्द्रगुप्त को दैवी शक्ति की सहायता और प्रेरणा प्राप्त थी। सिकन्दर के सामने से वह अपने पराक्रम और पौरुष से सुरक्षित निकल आया था। एक बार जब वह सोया था तो एक वृहदाकार सिंह आया, उसने चन्द्रगुप्त के पसीने को धीरे-धीरे चाट कर जगाया और चला गया। ऐसे ही एक जंगली हाथी ने युद्ध में सहायता दी थी।[1]

चन्द्रगुप्त ने यूनानियों द्वारा विजित प्रदेश पर अधिकार स्थापित कर मगध की ओर ध्यान दिया। सिकन्दर के आक्रमण से उत्पन्न पंजाब की अशान्ति और

---

1. Chandra Gupta Mourya and his times: Dr. K K. Mukherjee, P. 32

अव्यवस्था उसके अनुकूल सिद्ध हुई। अपने सैन्य बल का श्रेष्ठतम भाग उसने पंजाब में संगठित किया था जिसकी सहायता से मगध के राजा धननन्द पर उसने विजय प्राप्त की। रुद्रदमन के शिलालेख से यह प्रमाणित होता है कि उसने गुजरात को भी अपने अधीन कर लिया था। प्राचीन राज्य अवन्ती पर जिसकी राजधानी उज्जैन थी, उसका अधिकार स्थापित हो गया था।[1]

पुरानी जनश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त ने आरट्टों की सहायता से नन्दों से राज्य हस्तगत कर लिया था। पंजाब और सिन्ध के कुछ विशेष अथवा सभी राष्ट्र आरट्ट कहलाते थे। शायद उस शब्द का अर्थ है—अराष्ट्र अर्थात् बिना राजा के राज्य। ये सभी प्रदेश अलग-अलग थे। किसी एक संगठित शासन के अधीन नहीं थे।[2]

चन्द्रगुप्त ने उत्तरी पश्चिमी प्रान्त को स्वाधीन कर वहां विशाल सैन्य संगठन किया। इसके पश्चात उसने मगध पर आक्रमण किया। महा भयंकर युद्ध के बाद नन्दों का नाश हुआ और मगध पर चन्द्रगुप्त का राज्य स्थापित हुआ। नन्दों की पराजय के बाद भी नन्द सम्राट के प्राचीन और अनुभवी मन्त्री राक्षस ने युद्ध जारी रक्खा। चाणक्य की दूरदर्शिता के सामने उसकी कोई चाल सफल नहीं हुई। राक्षस ने बाहीकों के राजा पर्वतक के पुत्र मलयकेतु तथा अन्य सहयोगियों के साथ चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने की योजना तैयार की। चाणक्य ने उसके सहयोगियों में फूट डालकर उन्हें संगठित नहीं होने दिया। उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों से जिन सेनाओं ने पाटलीपुत्र पर अधिकार प्राप्त किया था, उनका नेतृत्व पर्वतक के हाथ में था। वह आधे राज्य का दावेदार था। राक्षस ने उसे पूरे मगध साम्राज्य का राजा बनाने का प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया था। इधर चाणक्य ने भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की रक्षा के लिए बहुभाषाविद गुप्तचरों का जाल सा बिछा दिया था। राक्षस का कोई गुप्तचर चन्द्रगुप्त को किसी प्रकार हानि न कर सके इसकी पूरी व्यवस्था कर दी थी। पर्वतक का वध कराकर उसके पुत्र मलयकेतु की गतिविधियों की जानकारी के लिये उसने गुप्तचर नियुक्त कर दिये थे।

राक्षस ने अपना परिवार पाटलीपुत्र में सेठ चन्दनदास के यहां छोड़ रक्खा था। चाणक्य द्वारा नियुक्त एक गुप्तचर ने उसे राक्षस की पत्नी की अंगुली से गिरी

1. Rhys Davids . Buddhist India, P 177-178
2. Mocrindle J. W : Invasion of India By Alexender : P 406

हुई तथा राक्षस नाम अंकित एक मुद्रा दी थी। चाणक्य ने इस मुद्रा की सहायता से नीति-युद्ध में राक्षस को पराजित किया था।[1]

चाणक्य ने इस मुद्रा से अंकित एक कल्पित पत्र, जिसकी प्रतिलिपि राक्षस के मित्र शकटदास ने की थी, मलयकेतु के शिविर में सिद्धार्थक द्वारा भेजा। सिद्धार्थक चाणक्य का विश्वासपात्र गुप्तचर था। शकटदास को केवल प्रदर्शन के लिए मृत्यु की आज्ञा दी गई थी, साथ ही राक्षस का विश्वास प्राप्त करने के लिए सिद्धार्थक द्वारा उसकी रक्षा भी की गयी। इस प्रकार राक्षस को सिद्धार्थक पर पूरा विश्वास हो गया क्योंकि उसके मित्र शकटदास की उसने रक्षा की थी। चन्दनदास अभी भी राक्षस के प्रति श्रद्धाभाव रखता था। कूटनीति-विशारद राक्षस भी मौन नहीं था, उसके गुप्तचर भी विविध वेशों में अपना कार्य कर रहे थे। वह चन्द्रगुप्त के सेनापतियों में फूट डालकर उसे राजच्युत करने के प्रयत्न में लगा था। राक्षस ने चन्द्रगुप्त की हत्या के लिए भी चेष्टायें कीं। पहले विषकन्या भेजी गयी, नगर तोरण का निर्माण इस भांति कराया गया कि वह चन्द्रगुप्त पर गिर पड़े और वह दब कर मर जाये। एक बर्बरक को गुप्त क्षुरिका देकर तैनात किया गया कि वह जुलूस में चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करे। राक्षस का गुप्तचर वैद्य नियुक्त हुआ, जिसने भोजन में विष देकर चन्द्रगुप्त की हत्या का प्रयत्न किया। पर चाणक्य की जागरूकता के सामने राक्षस की एक न चली। उसके सब प्रयत्न व्यर्थ गये और चन्द्रगुप्त का बाल भी बांका न हुआ।[2]

राक्षस और चाणक्य की कूटनीतिक चालें एक दूसरे को पराजित करने के सतत प्रयत्न कर रही थीं। राक्षस चाणक्य और चन्द्रगुप्त में फूट डालने की चेष्टा कर रहा था तो चाणक्य मलयकेतु को राक्षस के विरुद्ध करने में प्रयत्नशील था। अन्त में चाणक्य की विजय हुई। राक्षस की मुद्रा से अंकित वह पत्र मलयकेतु के हाथ आ गया। सिद्धार्थक ने मलयकेतु से यह रहस्य खोला कि यह पत्र उसे राक्षस ने चन्द्रगुप्त के पास पहुंचाने के लिए भेजा था। उस पत्र द्वारा मलयकेतु को यह विश्वास हो गया कि राक्षस चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है। मलयकेतु और राक्षस की फूट चन्द्रगुप्त के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुई। उसने मलयकेतु को विश्वास दिलाने की चेष्टा की पर उसके सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। राक्षस निराश होकर अपने मित्र चन्दनदास की खबर लेने के लिए वेश बदल कर पाटलीपुत्र आया। चाणक्य के गुप्तचरों ने राक्षस को यह समाचार दिया कि चन्दनदास को आज ही फांसी होने वाली है। राक्षस ने हताश होकर अपने मित्र की रक्षा के लिए आत्म समर्पण कर दिया। इन दो नीति कुशल आचार्यों में परस्पर सद्भावना स्थापित होने से चाणक्य का उद्देश्य सिद्ध हो गया। चाणक्य की सलाह से अमात्य राक्षस ने चन्द्रगुप्त का मन्त्री पद स्वीकार किया।

१. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—'पाटलीपुत्र की कथा, पृष्ठ ११३
२. वही, पृष्ठ ११४

जिस समय चन्द्रगुप्त अपने नए राज्य को सुदृढ करने मे व्यस्त था, उसी समय सिकन्दर के अन्यतम सेनापति सेल्यूकस मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियाई प्रदेशो मे अपने शासन को सुव्यवस्थित करने मे लीन था। सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके सेनापतियो ने अपना पृथक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसका विशाल साम्राज्य अनेक भागो मे विभक्त हो गया। सिकन्दर के दो सेनापति सिल्यूकस और एंटिगोनस मे प्रतिद्वन्दिता हुई। इनमे कई वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। अन्त मे विजय श्री सिल्यूकस के हाथ लगी। सन् ३०५ ई० पूर्व सिल्यूकस ने मैसिडोनियन साम्राज्य के खोए हुए भारतीय प्रदेशो पर पुन: अधिकार करने के लिए एक विशाल सैन्य-बल के साथ भारत पर आक्रमण किया। सिकन्दर की भाति वह भी भारत विजय का स्वप्न देख रहा था। सिन्धु नदी तक वह बिना विघ्न-बाधा के बढता गया। इधर चन्द्रगुप्त भी सक्रिय और सावधान था तथा चाणक्य जैसा नीतिविशारद उसका संरक्षक। सिन्धु के तट पर दोनो सेनाओ मे घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध मे सिल्यूकस विकेटर पराजित हुआ और विवश होकर उसे सन्धि करनी पडी सन्धि की शर्तों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को ५०० हाथी दिये और सिल्यूकस ने चार प्रान्त हेरात (एरिया), कन्दहार (आर्कोसिया) काबुलघाटी (परोपनिसद) तथा बलूचिस्तान (गद्रोसिया) चन्द्रगुप्त को दिए। सन्धि को स्थायी बनाने के अभिप्राय से सिल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त से किया। उसका नाम एथिना था।[1]

ध्रुवस्वामिनी

विशाखदत्त कृत देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक के अब तक जो उद्धरण प्राप्त है, उनसे यह स्पष्ट हो गया है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त ने कुछ समय तक शासन किया था। रामगुप्त निर्बल, कामी तथा अयोग्य शासक था। उसका विवाह ध्रुवदेवी से हुआ था पर पति के नपुंसक और निर्बल होने के कारण उसे बडी ग्लानि तथा मानसिक पीडा होती थी। रामगुप्त की निर्बलता से लाभ उठाकर साम्राज्य के अनेक सामन्तो ने विद्रोह का झडा खडा किया। शाहानुशाह शकमुरुण्ड राज्य जो समुद्रगुप्त की शक्ति के कारण आत्म निवेदन, उपहार कन्योपायन आदि प्रयत्नो से उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे, अब रामगुप्त की दुर्बलता से लाभ उठाकर गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करने लगे। हिमालय की उपत्यका मे शकराज और रामगुप्त मे युद्ध हुआ। इस युद्ध मे रामगुप्त पराजित हुआ। शकराज ने सन्धि का प्रस्ताव किया, जिसकी शर्ते किसी भी राजा के लिए, विशेषकर गुप्त वशी राजा के लिए, जिसमे समुद्रगुप्त जैसा पराक्रमी शासक हो चुका था, बहुत ही अपमानजनक थी। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय इस स्थिति से समझौता करने के लिए किसी भी दशा मे

१. जनार्दन भट्ट—'मौर्यकालीन भारत', पृष्ठ ११५

प्रस्तुत नहीं था। गुप्तकुल की लक्ष्मी शकराज को सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए समर्पित कर दी जाय, यह शर्त चन्द्रगुप्त को सर्वथा अमान्य थी। कविवर बाण भट्ट ने सातवीं शताब्दी की रचना 'हर्ष चरित' के छठे उच्छ्वास में लिखा है-

'अरि पुरेच परकलत्रकामुक कामिनी वेषगुप्तश्चन्द्रगुप्त शकपतिमशातयत् इति' अर्थात् शत्रु के नगर में पर स्त्री की कामना करने वाले शकराज का स्त्रीवेश में अपने को छिपाकर चन्द्रगुप्त ने वध किया। हर्ष चरित के टीकाकार शंकराचार्य ने उक्त वाक्य की व्याख्या इस प्रकार की है—

'शकानामाचार्य शकाधिपति चन्द्रगुप्तभ्रातृजाया ध्रुव देवी प्रार्थयमान
चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवी वेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादित।'

शकों का आचार्य चन्द्रगुप्त के भाई की स्त्री पर आसक्त था। ध्रुवदेवी का वेष धारण कर चन्द्रगुप्त ने उस शकपति को मार डाला। गुप्त कालीन शिलालेख तथा वैशाली की मुद्रा इस बात के प्रमाण हैं कि महारानी ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी तथा गोविन्द गुप्त और कुमार गुप्त की माता थी राष्ट्र कूटवंश के राजा प्रथम अमोघवर्ष के 'सजान' में प्राप्त सन् ८७१ ई० के ताम्रलेख में इस मत की पुष्टि होती है।

'हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवी चदीनस्तथा।
लक्ष कोटिमलेखयत् किल कलौ दाता स गुप्तानय।'[1]

अर्थात् जिसने भाई की हत्याकर राज्य और ध्रुवदेवी को हस्तगत किया और लाख मांगने पर करोड़ दान दिया। इस प्रकार का दानवीर वह दीन गुप्तवंशी राजा कलियुग में बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस श्लोक में गुप्त वंशी राजा का नाम नहीं दिया है—फिर भी चन्द्रगुप्त द्वितीय को छोड़कर किसी अन्य राजा की कल्पना नहीं की जा सकती है।

'शृंगार प्रकाश' के स्त्री वेष विह्नुत चन्द्रगुप्त शत्रो स्कन्धावारम् अरिपुर शकपतिवधायागमत्' से चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही समर्थन होता है।

'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के अन्य अवतरण डा० सिलवालेवी ने 'जर्नल एशियाटिक' में सन् १९२३ में नाट्य दर्पण से अवतरित किया था—

प्रकृतीनादवसनाय शकस्य ध्रुवदेवी सम्प्रदानेऽभ्युपगते राजारामगुप्तेन
अरिवधार्थं यियासु प्रतिपन्न ध्रुवदेवीनेपथ्य कुमार चन्द्रगुप्त

विज्ञापयन्नुच्यते यथा-प्रतिष्ठोत्तिष्ठ नसत्वहम् त्वाम् परित्यक्तुमुत्सहे—

रामगुप्त ने, अपनी प्रजा को सान्त्वना देने के लिए चन्द्रगुप्त से, जो ध्रुवदेवी का वेष धारण कर शत्रु का वध करने के लिए जाने को उद्यत था, कहा कि तुम्हारा

१. एपिग्राफिका इंडिका, ग्रन्थ १८, पृष्ठ २४८

परित्याग में नहीं सह सकता। यह उद्धरण भी इस बात का प्रमाण है कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी की शत्रु से रक्षा की।

राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में वक्रोक्त्य मुक्तक के उदाहरण में दो श्लोक दिए हैं, जिसका अभिप्राय इस प्रकार है जिस हिमालय की गति अवरुद्ध हो जाने पर उत्साह भग्न हो रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को देकर लौट आया था, उसी हिमालय की गुफाओं में जो किन्नरों के गान से गुंजित रहता है कार्तिकेय नगर की स्त्रियां चन्द्रगुप्त की कीर्ति गाया करती हैं—

दत्वा रुद्धगति खसाधिपतये देवी ध्रुवस्वामिनी
यस्मात्खण्डित साहसो निवर्तते श्री शर्म गुप्तो (रामगुप्त) नृप
तस्मिन्नेव हिमालये गुरु गुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव 'कार्तिकेय' नगर स्त्रीणां गणे कीर्तित ।

बारहवीं शताब्दी में चक्रपाणिदत्त नामक एक व्यक्ति ने आयुर्वेद दीपिका नाम से 'चरकसंहिता' की टीका लिखी। उसमें उन्होंने विमान स्थान के चौथे अध्याय के दसवें सूत्र 'उपधिमनुबन्धेन' की टीका करते हुए लिखा है 'उपेत्यधीयते इति उपधि छद्म इत्यर्थ अनुबन्धेन उत्तरकालीनफलेन, उत्तरकाल हि आत्मादिवधेन फलेन ज्ञायते यदयमुन्मत्त छद्म प्रचारी च द्रगुप्त इति। इसमें भाई के वध के लिए चन्द्रगुप्त द्वारा उन्मत्त रूप छद्मवेष धारण किये जाने का उल्लेख है। तेरहवीं शताब्दी में अबुलहसन अली ने अपनी पुस्तक 'मजमलुत्तवारीख' में इस घटना का वर्णन किया है। इस पुस्तक के अनुसार रवाल (रामगुप्त) और बरकमारीस (विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त) दो भाई थे। रवाल के शासन काल में स्वयंवर में बरकमारीस को एक राजकुमारी मिली। वह राजकुमारी को लेकर घर आया तो रवाल उस पर मोहित हो गया और उससे विवाह कर लिया। रवाल पर उसके पिता के शत्रु ने आक्रमण कर पराजित किया। रवाल ने सन्धि के लिए प्रार्थना की। इसके बाद सन्धि की शर्तें तथा बरकमारीस द्वारा रवाल की हत्या आदि घटनायें इस कथानक के प्राय समान ही हैं।[1]

भारवि विरचित 'किरातार्जुनीयम्' के सत्तरहवें सर्ग के चौथे श्लोक में इस कथा की ओर संकेत किया गया है—

वशाचितत्वादभिमानवत्या सम्प्राप्नया मत्प्रियतामसुभ्य
समक्षमादित्सनया परेण वध्वेव कीर्त्या परितप्यमान ।

वश मर्यादा के कारण तथा स्वाभिमान से युक्त ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को प्राणों से भी प्रिय है। सामने ही उसके अपहृत किए जाने के कारण चन्द्रगुप्त (अर्जुन के रूप में चित्रित है) दुखी है। पुरातत्व सम्बन्धी नवीनतम प्रमाणों के आधार पर

१ परमेश्वरीलाल गुप्त 'प्रसाद के नाटक' पृष्ठ १२८, १२९

रामगुप्त के विषय में कुछ और नवीन बातें मालूम हुई हैं। पूर्वी मालवा में रामगुप्त नाम अंकित गोल तांबे के सिक्के मिले हैं। उन पर एक ओर पूछ उठाये सिंह की प्रतिमा है, दूसरी ओर रामगुप्त का चित्र है। मध्यप्रदेश के सागर जिले के 'एरण' तथा विदिशा जिले की खुदाई में रामगुप्त के बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं। इन स्थानों पर गरुण चिन्ह अंकित कुछ नये सिक्के मिले हैं। गुप्त शासक वैष्णव थे अतः उनके सिक्कों पर गरुण का चिन्ह होना स्वाभाविक है। इस वंश के सोने, चांदी और तांबों के सिक्कों पर गरुण चिन्ह अंकित रहता है।

इन दोनों प्रकार के सिंह और गरुण अंकित सिक्कों के आकार और भार में भिन्नता है। उस समय विभिन्न प्रकार के सांचे काम में लाये जाते थे। वर्तुलाकार और तिकोने दोनों प्रकार के सिक्के ढलते थे। तिकोने सिक्कों पर 'मा' लिखा हुआ मिलता है। रामगुप्त के तांबे के सिक्के नागों तथा मालवा के स्थानीय शासकों के सिक्कों के समान है। सम्भवतः स्थानीय शासकों ने मालवा पर गुप्तों का शासन स्थापित होने के पूर्व ये सिक्के जारी किये थे। इन पर रामगुप्त की प्रतिमा नहीं है, एक ओर गरुण अथवा सिंह की मूर्ति है तथा दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में राजा का नाम दिया गया है। मालवा में प्राप्त सिक्कों का आकार छोटा है अतः इन पर राजाओं की प्रतिमा अंकित नहीं की गई है। रामगुप्त के एरण और विदिशा में प्राप्त सिक्के तथा एरण का शिलालेख इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पूर्वी मालवा को जीतकर समुद्रगुप्त ने अपने शासन में सम्मिलित कर लिया था और इसे अपना सम्भोग नगर (Pleasure town) बनाया था।

सम्भवतः रामगुप्त अपने पिता के शासन के अन्तिम दिनों में पूर्वी मालवा की देखभाल करने के लिये नियुक्त किया गया था जिसे उसके पिता ने कुछ समय पहले जीता था। इस प्रदेश की अव्यवस्थित राजनैतिक स्थिति के कारण, अपने पिता की मृत्यु के बाद भी रामगुप्त को यहां रहना पड़ा हो। अपनी पारिवारिक परम्परा के अनुसार सम्भवतः रामगुप्त ने भी गरुणांकित सिक्के प्रचलित किये हों। इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि गोविन्द गुप्त और घटोत्कच गुप्त मालवा के शासक नियुक्त हुये थे। अपने बड़े भाई गोविन्द गुप्त की मृत्यु के बाद घटोत्कच गुप्त यहां का शासक नियुक्त हुआ था।

शकराज कुमार श्रीधर वर्मा के एरण और सांची के प्राप्त शिलालेख तथा पश्चिमी क्षत्रपों के चांदी के सिक्कों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस शकराज ने ध्रुवस्वामिनी को मांग की थी, उसकी तथा रामगुप्त की हत्या चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा एरण या विदिशा में ही हुई।

रामगुप्त के नाम के सोने के सिक्के उपलब्ध नहीं हैं, तथा गुप्त वंशावली में उसका नाम नहीं आया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम गुप्त साम्राज्य

के वैभव पूर्ण दिनों में वह टक्साल जिसमे सोने के सिक्के ढलते होंगे, वह केवल पटना मे रही होगी। दूसरा कारण यह हो सकता है कि पिता की मृत्यु के बाद राज्य की अशान्त स्थिति के कारण वह पटना तक न पहुच पाया हो। एरण और प्रयाग के शिलालेख इस बात के साक्षी हैं कि उस समय राज्य म अशान्ति थी। रामगुप्त ने कुछ समय तक ही शासन किया था। उसकी कायरता और नपुसकता गुप्तवश के लिये कलक थी। इस कारण भी सम्भवत गुप्तवशावली मे उसका नाम न आया हो। शकराज और रामगुप्त की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्वय पाटलीपुत्र का राज्य सम्भाला। रामगुप्त के शासन और उसके जीवन के विषय मे डा० डी० आर० भण्डारकर, अल्तेकर तथा अन्य इतिहास वेत्ताओं ने प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[1]

रामगुप्त की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया। शास्त्रीय विधान की दृष्टि से यदि पति क्लीब है, तो उसके जीवन काल मे ही स्त्री का दूसरा विवाह समर्थित है।[2] रामगुप्त विचार और कार्य प्रत्येक दृष्टि मे पुरुषत्व-विहीन था। चन्द्रगुप्त स्त्रैण रामगुप्त के जीवन काल मे ही यदि ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लेता, तो वह भी शास्त्र के अनुकूल ही होता। पर चन्द्रगुप्त ने तो रामगुप्त की मृत्यु के बाद ही विवाह किया, जो सवदा शास्त्र सम्मत था।

नाटक के प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्तित्व सम्पन्न है। नारी पात्रो म कोमा और मन्दाकिनी कल्पित पात्र हैं। कोमा का चरित्र भावना और दशन के ताने बाने से बुना हुआ है। प्रसाद को जहा कहीं अवसर मिला है—पात्रो के चरित्र का विकास काव्य और दार्शनिक तत्वो के सयोग से किया है। उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनुकूल ही इन पात्रो की सृष्टि हुई है। यह नाटक यद्यपि एक सामयिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है, जो जीवन की यथार्थता के अत्यन्त समीप है तथा जो युग की ज्वलन्त समस्या है, फिर भी प्रसाद के रोमेण्टिक रूप की झाकी कोमा के कुसुम सदृश सुकुमार भावों के चित्रण म झलक उठती है।

---

१ प्रो० के० डी० वाजपेयी के निबन्ध सागर विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका 'मध्यभारती' से।

२ पाराशर स्मृति—नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेच पतिते पतौ।
पचस्वापत्सुनारीणा पतिरन्यो विधियते ॥
चाणक्य कामन्द—नीचत्व परदेशवा प्रस्थिता राजकिल्विषा।
प्राणाभिहन्तार पतितस्त्याज्य क्लीवोऽपिवा पति ॥
नारद वाक्य—अपत्यार्थम् स्त्रिय सृष्टा स्त्रीक्षेत्रवीजिनो नरा।
क्षेत्र बीजवते देय नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक की कथा का आधार पौराणिक है। 'महाभारत' में यह घटना विभिन्न स्थलों में बिखरी हुई है, प्रसाद ने जिस रूप में इसे प्रस्तुत किया है उस रूप में एक स्थान पर 'महाभारत' में उपलब्ध नहीं होती है। इसके सूत्र पुराण और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतस्ततः बिखरे हुए हैं, जिन्हें नाटककार ने अपने कौशल से इस रूप में प्रस्तुत किया है।

नाग-क्षत्रिय संघर्ष, तथा ब्राह्मण और जनमेजय के विरोध को लेकर इस कथानक का आकार खड़ा किया गया है। परीक्षित की हत्या में काश्यप की लोलुपता कारण थी। इसका वर्णन महाभारत में आया है। जनमेजय के पूछने पर मंत्रियों ने उनके पिता परीक्षित की मृत्यु का विवरण दिया। वे एक बार जंगल में मृगया खेलने गये थे। उन्होंने एक हिरण को बाण मारा और और उसका पीछा करते हुए दूर तक वन में चले गये। उन्हें वन में एक मौनी ऋषि मिले। परीक्षित के प्रश्न करने पर वे कुछ न बोले। क्रुद्ध होकर परीक्षित ने एक मरा साँप ऋषि के कंधे पर फेंक दिया। मौनी ऋषि तो कुछ न बोले पर उनके पुत्र शृंगी ऋषि को जब यह वृत्तान्त मालूम हुआ, तो क्रोधाभिभूत हो हाथ में जल लेकर उन्होंने परीक्षित को शाप दिया कि जिसने मेरे निरपराध पिता के कन्धे पर मरा साँप फेंका है, उसे सात दिन के अन्दर तक्षक नाग अपने विष से भस्म कर देगा। सातवें दिन आते हुये तक्षक को मार्ग में काश्यप नामक ब्राह्मण जो परीक्षित को उसी समय मृत्यु के बाद जीवित करने के उद्देश्य से आ रहा था, मिला। तक्षक को यह ज्ञात होने पर, काश्यप के विद्या-बल की परीक्षा के लिये उसने एक हरे वृक्ष को डस दिया। उसके विष से वृक्ष सूख गया, पर काश्यप ने अपने मन्त्र बल से उसे पुनः पूर्वावस्था में ला दिया। तक्षक ने लोलुप काश्यप को मुँह माँगा धन देकर लौटा सातवें दिन निश्चित समय पर परीक्षित के भवन में छल से प्रवेश कर उन्हें जला दिया। पिता की मृत्यु का विवरण पाकर जनमेजय को क्षोभ हुआ तथा उन्होंने ब्राह्मणों की अनुमति से नाग यज्ञ करने की प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा के अनुसार नाग यज्ञ प्रारम्भ हुआ। नाग यज्ञ में च्यवन वंशी चण्ड भार्गव होता था। नाम लेकर आहुति देने पर बड़े बड़े सर्प आकर यज्ञ कुण्ड में गिरने लगे। तक्षक भयभीत होकर देवराज इन्द्र की शरण में रहने लगा। त्रस्त वासुकि ने अपनी बहन मनसा जिसका नाम जरत्कारु भी था, से निवेदन किया किया कि सर्वनाश से तुम्हारा पुत्र आस्तीक ही नागकुल की रक्षा कर सकता है। इसके बाद जरत्कारु ऋषि की पत्नी जरत्कारु ने आस्तीक को समझाकर नाग कुल की रक्षा के लिए भेजा। उसकी असाधारण योग्यता और विनम्रता के प्रभाव से सर्प यज्ञ बन्द हुआ और नागों की रक्षा हुई।

खाण्डव वन जलाने की कथा 'महाभारत' के आदि पर्व मे आई है। अग्निदेव को ब्रह्मा ने कृष्ण और अर्जुन की सहायता से खाण्डव वन जलाने का उपदेश दिया था। इन्द्र ने खाण्डव वन की रक्षा के लिए निरन्तर घोर वर्षा कर सतत् प्रयत्न किया पर अन्त मे उन्हे विवश होकर रक्षा का प्रयत्न स्थगित करना पड़ा। तक्षक पहले से ही कुरुक्षेत्र चला गया था। उसके अतिरिक्त छ और बच गये जिनमे तक्षक पुत्र अश्वसेन, मयदानव तथा चार शाङ्र्ग पक्षी।

उत्तक मुनि की कथा वमपर्व मे आई है, जब उन्होंने कुवलाश्व को धुधु नामक दैत्य के वध की आज्ञा दी है। उत्तक ऋषि की कथा 'महाभारत' के आश्वमेधिक पर्व मे भी आई है। इस कथा के अनुसार ये महर्षि गौतम के शिष्य थे। उन्हें गौतम के आश्रम में विद्याध्ययन करते प्राय सौ वर्ष बीत गये। वृद्धावस्था में उन्होंने गुरु से घर जाने की आज्ञा मागी। उत्तक को अपने श्वेत बालों को देख कर अपनी अवस्था का स्मरण आया और वे बहुत दुखी हुए। गुरु के आशीर्वाद से उन्हें यौवन प्राप्त हुआ। महर्षि गौतम तो प्रसन्न थे ही। उत्तक ने गुरुपत्नी अहल्या से गुरु दक्षिणा के लिये आग्रह किया। कई बार कहने के पश्चात् अहल्या ने राजा सौदास की रानी का दिव्य मणि कुण्डल मांगा।

राजा सौदास ब्राह्मण के शाप से मनुष्य-भक्षी हो गये थे। राजा की आज्ञा पाकर मदयन्ती के पास महर्षि उत्तक पहुंचे। उन दिव्य मणि-कुण्डलों को जिनको नाग और देवता सभी प्राप्त करना चाहते थे, लेकर वे सप्रसन्न लौट रहे थे। मार्ग मे भूख से व्याकुल होकर वे बेल के वृक्ष पर चढ गये। बेल गिरने से मृगछाला की गाठ खुल गयी और मणि कुण्डल गिर गया। उन्हें लेकर ऐरावत कुल मे उत्पन्न एक नाग पाताल में प्रवेश कर गया। उत्तक पाताल म प्रवेश करने के लिये खोदने लगे। उत्तक के भय से पृथ्वी कांपने लगी। वहां इन्द्र ने आकर उन्हे वज्र दिया, जिसकी सहायता से पृथ्वी खोदकर वह पाताल पहुचे। वहा अश्व वेषधारी अग्निदेव की सहायता से मणि-कुण्डल प्राप्त हुआ। गुरुपत्नी ने अभीप्सित मणि-कुण्डल पाकर उत्तक को आशीर्वाद दिया।

इसी प्रकार जरत्कारु ऋषि और उनके पुत्र आस्तीक की कथा महाभारत मे पृथक दी हुई है। जरा शब्द का अर्थ है क्षय, कारु का अर्थ है दारुण। ऋषि ने तपस्या के द्वारा अपने हृष्ट पुष्ट शरीर को जीर्ण शीर्ण बना दिया था। इसी कारण वासुकि नाग की बहन मनसा का नाम भी जरत्कारु पडा था। यह परीक्षित का शासन काल था। ऋषि जरत्कारु जहा शाम होती वहीं रह जाते थे तथा वायु पीकर जीवित रहते थे। जरत्कारु ऋषि ने अपने पितरो को दुख से मुक्त करने के लिए अपने ही नाम की कन्या से विवाह करने का उन्हें वचन दिया। उनकी यह भी प्रतिज्ञा थी कि वे अपनी स्त्री के भरण-पोषण उत्तरदायी नही होगे। उन्होंने वन मे जाकर पितरों के नाम पर कन्या की भीख मागी। वासुकि नाग के सरदारो

ने उन्हें सूचना दी। वासुकि ने कन्या का नाम बतलाया तथा भरण-पोषण का भार भी अपने ऊपर लिया। विवाह के पश्चात् वासुकि के यहाँ ऋषि अपनी पत्नी के साथ सानन्द रहने लगे। एक दिन सूर्यास्त के समय उनकी पत्नी ने अग्नि-होम का समय देखकर उन्हें जगा दिया। ऋषि इस पर क्रुद्ध हो गये। वासुकि ने अपने शाप ग्रस्त परिवार की रक्षा की भावना से यह विवाह किया था। ऋषि पत्नी की सन्तान ही नाग परिवार को शाप मुक्त कर सकती थी। समय आने पर तेजस्वी सन्तान हुई, जिसका नाम आस्तीक पड़ा। क्रुद्ध होकर जाते समय ऋषि ने अपनी दुखी पत्नी से भावी सन्तान के विषय मे आश्वस्त कर दिया था।

महाभारत युद्ध मे कौरवो को पराजित कर शासन सूत्र पाण्डवों के हाथ मे आ गया था, किन्तु उनकी शक्ति क्षीण हो गई थी। पाण्डवो के पीछे परीक्षित राज्य का अधिकारी हुआ। भारत युद्ध के बाद समस्त आर्यावर्त और विशेषकर पजाब शक्ति हीन हो गया था। गान्धार देश के नागों के उत्पात का उस समय के इतिहास मे उल्लेख है। तक्षशिला पर उन्होने अधिकार कर लिया था। पजाब लाघ कर हस्तिनापुर तक उनका आक्रमण होने लगा था। कुरु राज्य इतना शक्तिहीन हो गया कि राजा परीक्षित को उन्होंने मार डाला। परीक्षित के बाद उनका पुत्र जनमेजय राज्य का अधिकारी हुआ। वह एक शक्तिशाली और दृढ़ राजा था। उसने तक्षशिला पर चढ़ाई की और नागो की शक्ति को समूल नष्ट कर दिया।[1]

महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय १५०) मे लिखा मिलता है कि सम्राट जनमेजय से अकस्मात् एक ब्रह्म हत्या हो गई, जिस पर उन्हें प्रायश्चित स्वरूप अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा। 'शतपथ' ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि उस अश्वमेध के आचार्य इन्द्रोत देवाप शौनक थे। इस अश्वमेध यज्ञ मे कुछ विघ्न भी उपस्थित हुये थे जिसके कारण जनमेजय और ब्राह्मणो मे अनबन हो गई थी। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र के तृतीय अध्याय मे 'कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषुविक्रान्त.' लिखा है। काश्यप यदि हृदय से परीक्षित के शुभ-चिन्तक होते तो तक्षक के कारण उनकी हत्या नहीं हुई होती।

'ऐतरेय ब्राह्मण' से यह ज्ञात होता है कि जनमेजय ने यज्ञ मे काश्यप पुरोहितों को छोड दिया था और तुरकावषेय ऋषि ने ऐन्द्र महाभिषेक कराया था। खाण्डव वन से निर्वासित नाग और असतुष्ट काश्यप ने मिलकर जनमेजय के विरुद्ध ऐसा ज्ञात होता है कि एक भारी षडयन्त्र रचा था। नाग विद्रोह और ब्राह्मण इन दो घटनाओ को काश्यप के द्वारा एक सूत्र मे नाटककार ने जोड दिया है।

---

१. जयचन्द्र विद्यालकार : भारतीय इतिहास की रूप रेखा, पृष्ठ ३३४ द्वितीय सस्करण।

पुरुषों में माणवक और त्रिविक्रम तथा स्त्रियों में दामिनी और शीला ये चार कल्पित पात्र हैं। इन पात्रों से मूल घटनाओं का सम्बन्ध सूत्र जोड़ने का काम लिया गया है। इनमें से दो एक का केवल नाम ही कल्पित है, जैसे वेद की पत्नी दामिनी। उनके चरित्र और व्यक्तित्व का भारतीय इतिहास में बहुत कुछ अस्तित्व प्राप्त है।'[1]



१. जनमेजय का नाग यज्ञ प्राक्कथन।

४ प्रसाद के नाटकों की सांस्कृतिक वस्तु

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता का तत्त्व प्रमुख है। वह अन्तर्मुखी है। विविधता में एकत्व की भावना उसकी प्रमुख विशेषता है। चैतन्य प्राप्ति उसका उद्देश्य है। भारतीय संस्कृति का मूल एक अव्यक्त के व्यक्त रूप जगत की एकता में है। इस अद्वैत भाव के कारण उसमें कट्टरता का अभाव है। नाना रूप-आकार-युक्त जगत के मूल में एक अव्यक्त तत्त्व की कल्पना के कारण बाह्य की विविधता में भी एकत्व का भाव भारतीय संस्कृति की विशिष्ट देन है। उदारता और सहिष्णुता इस एकत्व की भावना के प्रतिफल हैं। समन्वय भावना के कारण उदारता उसका प्रमुख उपादान है। पशु-पक्षी, जड़-चेतन सबके सुख की कामना, बिना किसी वैर-भाव के सबके लिए ही की गई है। यही कारण है कि 'सर्वेसुखिनः सन्तु—मा काश्चित् दुखभाग्भवेत्' की यह घोषणा करती है।

संस्कृति से उन सब संस्कारों का बोध होता है जिनकी सहायता से समाज अपने सामूहिक जीवन का निर्वाह करता है। यह समष्टिगत समान अनुभवों से पैदा होती है। दृष्टि-विशेष से कोई समुदाय जीवन के विविध प्रश्नों पर विचार करता है तथा गतिशील जीवन में सदा नवीन समस्यायें पैदा होती हैं और उन पर विचार करने के लिए समुदाय विशेष प्राचीन संस्कारों तथा वर्तमान अनुभवों की सहायता से किसी निष्कर्ष पर पहुंचता है। समुदाय विशेष का यह निर्णय काल-सापेक्ष्य होता है। जीवन की सापेक्ष्यता में किसी वर्ग विशेष का निर्णय सदा एक समान रहता है। पर यह परिवर्तन इतना सूक्ष्म और धीरे धीरे होता है जिसे सहसा अनुभूत कर लेना कठिन होता है। देश और काल की परिस्थितियों के परिवर्तन का प्रभाव संस्कृति पर पड़ता है। इस प्रकार संस्कृति एक गतिशील तत्त्व है। यह विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणों को सूचित करती है जो

सार्वत्रिक और व्यापक रहते हुए भी उस समूह की विशिष्टता प्रगट करते हैं और जिन पर उनके जीवन मे अधिक बल दिया जाता है।

विशिष्ट देश के निवासियो की संस्कृति मे उनकी अपनी पृथकता सुरक्षित रहते हुए भी उसमे सार्वत्रिक और सार्वभौमत्व विद्यमान रहते हैं। सभ्यता और संस्कृति इन दोनो शब्दो का अत्यधिक प्रचार होते हुए भी दोनो के अर्थ और प्रयोग म अन्तर है। दोनो मे परस्पर पार्थक्य होते हुए भी ये एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। संस्कृति को अपनाने मे शताब्दिया व्यतीत हो जाती हैं, जबकि सभ्यता का अनुकरण करने म अधिक विलम्ब नही लगता है। संस्कृति का सम्बन्ध धार्मिक विश्वासो से होते हुए भी यह आवश्यक नही है कि एक धम के दो अनुयायियों का सास्कृतिक स्वरूप भी पूणत एक हो।

भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत आर्य ऋषियों और मुनियो के चिन्तन और मनन से प्रारम्भ होता है पर उन मूल स्रोत मे काल और परिस्थिति के परिवतन स विभिन्न सहायक धारायें मिल गई हैं। इसके तल मे वे बूदें भी हैं, जिनके स्रोत देश के बाहर हैं। शताब्दियो पूव से इस देश म विदेशियों का आगमन प्रारम्भ हो गया था। अनेक जातिया उपजातिया आकर यहा के मूल आर्य स्रोत मे मिली और उन्होने इस सास्कृतिक निर्माण मे योगदान दिया। इन सब प्रभावो को अपने म समेटते हुए भी भारतीय संस्कृति का अपना विशिष्ट रूप सुरक्षित है।

प्रसाद के नाटकों मे भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का उद्घाटन हुआ है। भारतीय इतिहास के विभिन्न कालो म परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार संस्कृति के स्वरूप मे भी परिवतन आया है। इनमे युगीन समस्याओ के चित्रण के साथ संस्कृति की विकास रेखायें भी उभर कर आयी हैं। प्राचीन ऐतिहासिक परिवेश म आधुनिक युग की सास्कृतिक समस्याओ का संकेत भली-भाँति किया गया है। नाट्य साहित्य के द्वन्द्व की भूमिका पर स्थित रहने के कारण विभिन्न परिस्थितियों की अवतारणा द्वारा संस्कृति के दोनो पक्षो उदात्त तथा हीन अवस्थाओ का चित्रण हुआ है। घटना संवाद तथा पात्रों के माध्यम और कहीं स्वतन्त्र रूप से भी संस्कृति के स्वरूप का उद्घाटन हुआ है। संघषमूलक स्थितियों के वणन द्वारा नाटककार को व्यापक भूमिका मिल गयी है—जिसम एक ओर तो पौरुष और अदम्य उत्साह का वणन हुआ है तथा दूसरी ओर जीवन के सुकुमार पक्ष, प्रेम, करुणा और उदारता के मार्मिक पक्ष सामने आते हैं। बौद्ध और ब्राह्मण संस्कृति की उत्थान और पतन मूलक स्थितिया जीवन की प्रशस्त भूमिका पर साकार हो उठी है। दोनो संस्कृतियो का कहीं चरम विकसित रूप तथा साथ ही हीन रूप भी प्राप्त होता है। संस्कृति के दोनो पक्ष बाह्य तथा अतर प्रसाद के नाटकों मे विशदता से मुखरित हुए हैं। सास्कृतिक चित्रो को पूणता प्रदान करने तथा सभी पात्रो का यथासम्भव पूण चित्र उद्घाटित करने के कारण नाटको का कथानक

नाट्य विधान की दृष्टि से बोझिल हो गया है। 'जीवन के सभी क्षेत्रों के उल्लेख का यह प्रयास जहाँ सास्कृतिक प्रतिबिम्ब दर्शन का श्रेय लेता है, वहा रेखाचित्र और रगों के विनिमय का व्यापार नाट्य-वस्तु को अतिशय शोभावान और आकर्षक बना देता है, किन्तु इससे कभी-कभी नाटक की कथा-वस्तु पर औपन्यासिक रगत चढ जाती है। वस्तु सकलन की सीमा का अतिक्रमण इसी प्रक्रिया का परिणाम है।'[१] प्रसाद के नाटकों मे सास्कृतिक प्रतिबिम्ब-दर्शन की गरिमा के साथ कथानक मे जटिलता आ गई है।

प्रसाद के आरम्भिक प्रयासो में भी सास्कृतिक चित्र हमे देखने के लिए प्राप्त होते हैं। दुर्योधन द्वैत सरोवर के समीप शत्रु द्वारा पराजित और बन्दी कर लिया जाता है। जिस दुर्योधन की घृणित स्वार्थपरता के कारण युधिष्ठिर को अपने भाइयों सहित किसी प्रकार जीवन के दिन कष्ट और अभाव मे व्यतीत करने पड़ते है, वही धर्मराज दुर्योधन के बन्दी होने से व्यथित हो उठते हैं। कौरवो की दुरभि-सन्धि का रहस्य खुलने पर भी उनके मन में कोई विकार नहीं पैदा होता है। दुर्योधन और युधिष्ठिर सस्कृति के असत् और सत्पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक आसुरी वृत्तियों को सम्मुख लाता है तो दूसरा दैवी प्रवृत्तियो के अनुसरण की प्रेरणा देता है।

यदि आत्म स्वीकृति के साथ मनुष्य अपने कार्यों पर पश्चात्ताप करता है तो वह पुन शुद्ध और पुन पवित्र माना जाता है। अपने दुष्कर्मों को भली भांति समझ कर उन पर ग्लानि प्रगट करना तथा उनसे विरत होने के कारण मनुष्य की आत्मा शुद्ध होती है। जयचन्द ने प्रायश्चित तो किया पर आत्म हत्या द्वारा प्रायश्चित करना बहुत श्रेयस्कर नहीं माना गया है।

प्रयोग कालीन नाटको मे सर्व प्रथम 'राज्यश्री' की रचना प्रसाद जी ने की। इसमे नाटककार ने विरोध धर्मी पात्रो के मुख से सस्कृति के श्रेष्ठ और हीनतम चित्र प्रस्तुत किये हैं। दुखी और निराश 'राज्यश्री' व्यथित होकर मर्यादा की रक्षा के लिए मृत्यु की सुखद कल्पना करती है। जीवन का अत कर देना, विपन्न अवस्था मे अपमान भय से कुल का नाम बतलाने की अपेक्षा वह अच्छा समझती है। अपने भाई हर्ष से युद्ध के दुष्परिणाम तथा हिंसा की भर्त्सना मे उसकी पर-दुख कातरता मूर्त रूप धारण कर लेती है। उसका यह वाक्य 'हर्ष ! विचार करो, तुमने मेरे सदृश कितनी स्त्रियों को दुखिया बनाया। तुम्हें क्या हो गया था ?' सूचित करता है कि स्वय वैधव्य दुख सहन करते हुए भी दूसरी स्त्रियो की वैधव्य कल्पना से भी वह मर्माहत हो उठती है। क्षमा की मानो वह दैवी प्रतिमा है। उसे लोक सेवा और त्याग के भाव जन्म से ही प्राप्त है। राज्यश्री ने जिस दृष्टि-

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जयशकर प्रसाद, पृष्ठ १०२

कोण से जीवन को देखा है, और उसे व्यावहारिक जीवन में उतारा है, वह उसकी सांस्कृतिक उच्चता और सदाशयता है। दूसरी ओर सुरमा के विकृत संस्कार और उच्छृंखलता की झांकी प्रस्तुत कर नाटककार ने संस्कृति का हीन पक्ष भी प्रस्तुत किया है। नाटककार दुष्कर्म और उच्छृंखल विलासिता की पराजय द्वारा संयम और धर्म को श्रेयस्कर सिद्ध करता है। सुरमा को अपने कर्मों पर पश्चाताप होता है और संसार से सन्यास लेती है।

क्षमा और त्याग संस्कृति के ऐसे तत्व हैं जिनसे हिंसक अहिंसक, तथा भोगी त्यागी बनता है। क्रूर और घातक विकट घोष जो कभी अशान्तिमय उपदेशों का उपहास करता है तथा शान्ति को धनी और दरिद्रों के भीख मांगने में देखता है और उसे धिक्कारता है, वह भी अन्त में विरक्त हो महाश्रमण के पैर पकड़ता है और उनसे क्षमा-याचना करता है। यौवन की उद्दाम वासना को तृप्त करने के लिए वह कृत्याकृत्य सब कुछ करता है। उसकी क्रूरता इस सीमा तक पहुंचती है कि लाल रक्त देखने में उसे आनन्द आता है। पर वह भी बौद्ध महात्मा के व्यक्तित्व और शान्त वातावरण से प्रभावित होकर कहता है—मेरे वध की आज्ञा दीजिए। आह! प्राण जल रहे हैं। रोम रोम से चिनगारियाँ निकल रही हैं। दण्ड! हे भगवान! *यह है करुणा त्याग की गरिमा, जिसका उद्घोष भारतीय संस्कृति करती है।*

भारत की राजन्य संस्कृति में सुख भोग आदर्श रूप से स्वीकृत नहीं है। उसका आदर्श है जगत के जीवन को सुखी बनाना। हर्ष कहता है—'मुझे और न चाहिये। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूं, राजधर्म का पालन कर सकूं तो कृत कृत्य हो जाऊंगा। अपना समस्त वैभव जिसके लिये उस पर आक्रमण हुआ था त्याग कर वह प्राणदान देने को भी प्रस्तुत है। यह है राजन्य संस्कृति का आदर्श जिसे उद्देश्य मानकर वह शासन भार स्वीकार करता है। परिणाम यह होता है कि सब समवेत स्वर से करुणा-कादम्बिनि की वर्षा से इस जगत को सींचने के लिए प्रार्थना करते हैं।

'विशाख' में प्रसाद ने करुणा और न्याय की क्रूरता और अन्याय पर विजय दिखलाई है। बौद्ध संस्कृति के ह्रास के लक्षण दिखाई पड़ने लगे हैं। बौद्ध विहार, विहार और विलास के केन्द्र हो गए हैं। विहार अपनी प्रमुख विलासिता को छिपाने के लिए झूठ बोलता है। बौद्ध भिक्षुओं में मिथ्याडम्बर घर कर गया था। वे उपकार और दुःख दूर करने के नाम पर गरीबों को धोखा देते थे।

प्र[illegible]र [illegible]ृपति नरदेव से राजधर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सत्ता का र[illegible] दानों स[illegible] और पीड़ितों की रक्षा के लिए होना चाहिए। राज व्यवस्था के [illegible] होना है। स[illegible] लिए सहिष्णुता और अहिंसा का प्रयोग क्रूर दण्ड विधान की विशदता से मुखरित हुए युद्ध होता है। राजा की वास्तविक राज्य प्राप्ति उस समय पात्रों का यथासम्भव पूर्ण [illegible] और आत्म शासन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।

सुकुमार और मार्मिक भावों की पोषिका ही नहीं है, समय आने पर वह चण्डी की सी भयानक और दुर्धर्ष भी हो उठती है।

क्षत्राणी के लिये पुष्प की सुकुमारता तथा युद्ध की भीषणता दोनों में सम-भाव के उदाहरण भारतीय इतिहास में उपलब्ध होते हैं। सतीत्व और मर्यादा की रक्षा के लिए प्रसन्न-वदन वे मृत्यु का आलिंगन करती हैं। युद्ध की भीषणता से अधीर विजया को लक्ष्य कर जयमाला कहती है—'स्वर्ण रत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं। श्रेष्ठि कन्ये, हम क्षत्राणी हैं, चिर संगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर स्नेह है।'

विरोधी पात्रों की सर्जना द्वारा, उदाहरण स्वरूप देवसेना और विजया के चरित्र के माध्यम से प्रेम और त्याग की सजीव प्रतिमा देवसेना तथा चचला लक्ष्मी के समान अतृप्त वासना की पूर्ति में भ्रमणशील विजया को प्रस्तुत, कर प्रसाद ने संस्कृति को दोनों पक्षों का चित्रण किया है। इसी प्रकार एक ओर अनन्त देवी तथा दूसरी ओर देवकी और कमला के चरित्र हैं। भटार्क और पर्णदत्त दोनों ही शूर और पराक्रमी हैं, पर भटार्क संस्कृति के दुर्बल तथा पर्णदत्त सबल तथा पुष्ट पक्ष को प्रस्तुत करता है। नाटककार क्षमाशीलता तथा विश्व हित की कामना, जो विश्व संस्कृति के भूषण हैं, की स्थापना की चर्चा बार-बार करता है, तो एक ओर छल, प्रपंच, दुरभि सन्धि के जो उच्च संस्कृति के कलंक हैं, उदाहरण प्रस्तुत करता है।

ऐतिहासिक नाटक चन्द्रगुप्त में भी बौद्ध और ब्राह्मण संस्कृतियों के उदात्त और हीन पक्षों का उद्घाटन एक वृहत चित्रपट पर हुआ है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था पर आधारित हिन्दू संस्कृति में बाह्य भेद रहते हुए भी शाश्वत तत्वों का विवेचन किया गया है। चन्द्रगुप्त को नायक रूप में सामने रखकर चाणक्य के द्वारा हिन्दू रीति नीति तथा संस्कृति का व्यापक रूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें संघर्ष की प्रधानता है, धर्म के द्वारा उद्देश्य प्राप्ति में पूर्ण आस्था और विश्वास है। प्रवृत्ति मार्ग का पूर्णतः समर्थन करते हुए भी अन्त में संसार के संघर्ष से, आत्मा के उत्थान तथा विश्व-हित के लिये, निवृत्त होने का सन्देश है।

ब्राह्मणत्व की गरिमा को किसी-किसी रूप में प्रसाद जी ने अपने प्रायः अन्य नाटकों में भी प्रस्तुत किया है पर ब्राह्मण संस्कृति के उदात्त और ओजस्वी रूप तथा प्रवृत्ति निवृत्ति के उदाहरण जैसा चन्द्रगुप्त नाटक में प्रस्तुत किया है, शायद अन्य नाटकों में वैसा रूप उपलब्ध नहीं होता है। चाणक्य और दाण्ड्यायन के चरित्र में असत और सत् पक्षों का प्रस्फुटन बड़ी मार्मिकता से हुआ है। चाणक्य मानव व्यवहार के लिए बौद्ध धर्म की शिक्षा को अपूर्ण मानता है। ब्राह्मणत्व पर उसकी इतनी आस्था और प्रगाढ़ विश्वास है कि उसकी दृष्टि में ब्राह्मण के अतिरिक्त राष्ट्र का शुभ चिन्तन कोई नहीं कर सकता। जो बौद्ध श्रमण एक जीव की हत्या से डरता

है, वह आपत्ति से देश की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होगा। यह उसकी दृढ़ मान्यता है। यह मत यद्यपि चाणक्य की अतिवादिता को सूचित करता है फिर भी उसके विश्वास और उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा को प्रसाद ने सजीव रूप देकर प्रस्तुत किया है। नन्द की सभा से निष्कासित होते समय वह जो प्रतिज्ञा करता है, ध्यान देने योग्य है—'खींच ले ब्राह्मण की शिखा ? शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते ! खींच ले ! परन्तु यह शिखा नन्द कुल की काल सर्पिणी है, वह तब तक न बन्धन में होगी, जब तक नन्द कुल निःशेष न होगा।' ब्राह्मण जहाँ सदा शान्ति और व्यवस्था का विधान करता है, वहीं इस प्रकार कठोर प्रतिज्ञा भी कर सकता है। इस प्रकार भयकर प्रतिज्ञा करने के बाद चाणक्य सिद्धि पर ध्यान देता है, किसी प्रकार साधन अपनाने में वह सकोच नहीं करता। चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने में उसे तनिक भी सन्देह नहीं है। ब्राह्मणत्व को इतना अधिकार प्राप्त है कि वह पात्र के अनुसार इतर वर्णों की सृष्टि कर ले। राजन्य संस्कृति से पूर्ण मनुष्य को मूर्द्धाभिषिक्त करना वह धर्म समझता है। ब्राह्मणत्व के इस स्वरूप को सिद्ध करने के लिए किसी भी साधन द्वारा अत्याचारी शूद्र राजा के अन्त के लिए वह दृढ प्रतिज्ञ है। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के बाद उसे संस्कृति के सरक्षक का ज्ञान होता है। वह प्रार्थना करता है—भगवान सविता तुम्हारा आलोक जगत् का मगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य सागर निष्तरंग है और ज्ञान ज्योति निर्मल है, तो क्या मेरा कुलाल-चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका ? ठीक तो, प्रभात-पवन के साथ सबकी सुख कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव ! आज मैं धन्य हूँ।' इस स्वरूप में वह ब्राह्मण-संस्कृति के सत्पक्ष को प्रस्तुत करता है, जिसमें उसको प्रकाश स्वरूप आत्म तत्व का ज्ञान होता है, और सबकी सुख कामना का भाव निहित है।

लौकिक सघर्ष और उसमें सफलता प्राप्त करने के बाद जीवन के अन्तिम चरण में संन्यासाश्रम का विधान किया गया है। इसमें आत्मोत्थान तथा जागतिक साम्य का भाव निहित है। चाणक्य शत्रु से प्रतिशोध तथा दृढ मौर्य साम्राज्य स्थापित कर लेने के बाद अपने किये अभिनय पर पश्चाताप करता है तथा संन्यासाश्रम में प्रवेश करता है।

प्रसाद ने तात्कालीन समाज के सुकृत तथा विकृत पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये विविध प्रकार के पात्रों की अवतारणा की है। सिंहरण, मालविका और अलका चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में चाणक्य की नीति कौशल की सहायता से राष्ट्रीय संस्कृति की स्थापना के प्रयत्न में तल्लीन है। इस राष्ट्रीय संस्कृति में समस्त देश को एक केन्द्रीय शासन में सगठित तथा व्यवस्थित करना है। इससे राष्ट्र के विभिन्न प्रदेश अलग रह

कर निर्बल न रहे, जिससे किसी विदेशी शक्ति का संगठित होकर सामना किया जा सके। इस प्रकार की राष्ट्रीय संस्कृति में देश सशक्त रहता है और उसकी स्वाधीनता पर आंच नहीं आती। चाणक्य ने विभिन्न स्थलों पर इस आशय को व्यक्त किया है। दाण्ड्यायन के प्रत्येक शब्द में संस्कृति का सार्वभौम स्वरूप मुखर उठा है। परमात्म विभूति को छोड़ कर अन्य किसी वस्तु का आकर्षण उनके लिए तुच्छ तथा हेय है। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना प्रसाद के नाटकों की निजी विशेषता है। सांस्कृतिक उत्कर्ष की साधना को दृष्टि पथ में रख कर निर्मित हुआ उनका साहित्यिक उत्साह, उनकी नाट्य कृतियों में अनोखी ऊंचाइयों तक पहुंच गया है। चन्द्रगुप्त नाटक में बहुत से पात्रों का निर्माण उस काल के एक सांस्कृतिक जीवन की सर्वांगीण प्रतिष्ठा की दृष्टि से किया गया है [१]।

राजन्य संस्कृति से हीन राजा को अपने पद से च्युत होना पड़ता है, इसका दृष्टान्त प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में रामगुप्त के पतन से दिया है। विष्णु का औतार राजा यदि अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ है, पुरुषार्थ विहीन है, बाह्य आक्रमण तथा अन्तर की अशान्ति से राष्ट्र की रक्षा नहीं कर पाता है, तो जनता को यह अधिकार प्राप्त है कि उसे राज पद से पृथक कर दे।

लोकमंगल तथा सुव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए राजा का वध भी अनुचित नहीं माना गया है। सामाजिक जीवन में यदि नारी की मर्यादा सुरक्षित नहीं है और उसका सतीत्व संकट में है तो उसके लिए पुनर्लग्न का विधान किया गया है। पुनर्लग्न और नपुंसक पति से मुक्ति का विधान भारतीय शास्त्रों से समर्थित है। प्रसाद ने अपने नाट्य साहित्य में जीवन की विभिन्न समस्याओं का सांस्कृतिक समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है—'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में विवाह विच्छेद पर उनका दृष्टिकोण उन्हें स्पष्ट रूप से संस्कृति का सजग द्रष्टा घोषित करता है [२]। नारी

भारतीय संस्कृति में नारी को सामाजिक स्वातन्त्र्य प्राप्त थी। वह अनावश्यक प्रतिबन्ध तथा रूढ़ियों से मुक्त थी। पति के सहधर्मिणी स्वरूप उसके अग्निहोम तथा अन्य सामाजिक कार्यों में भाग लेती थी। जब तक संस्कृति विकासोन्मुख थी, वह रूढ़ि तथा दासता से मुक्त अपने कर्तव्य का निर्वाह करती थी। अलका, कार्नेलिया तथा मालविका का चरित्र रूढ़ि-मुक्त तथा युगीन परिस्थितियों के अनुकूल है। प्रेम और कर्तव्य का निर्वाह वे सब कुछ त्याग कर, करती है। वे राष्ट्र और समाज के प्रति कर्तव्य का पालन अपनी वैयक्तिक इच्छा आकांक्षाओं का दमन कर करती है। भारतीय संस्कृति के विकासोन्मुख तत्व इन नारी पात्रों के विचार, कार्य और संवादों में मुखर हो उठे हैं।

---

१ आचार्य बाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १७१।

२ आचार्य बाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १७२।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि प्रसाद ने संस्कृति के विभिन्न स्वरूप को पूर्ण व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया है। इन नाटको मे संस्कृति के शाश्वत तत्व भी आये हैं—पर साथ ही भारतीय परिवेश को ध्यान मे रखते हुए उनका अपना विशिष्ट निजी व्यक्तित्व भी सुरक्षित है। पौराणिक काल से लेकर गुप्त कालीन शासन तक संस्कृति मे विकास की जो रेखायें हैं उनका समावेश करते हुए आधुनिक युग की सांस्कृतिक समस्याओ को शान्ति और अहिंसा के द्वारा सुलझाना तथा अखड मानवता की स्थापना आदि ऐसे प्रश्न हैं—जिनका संतोष जनक समाधान आज भी उतना ही आवश्यक है, जितना प्राचीन काल मे था।



5

प्रसाद के नाटकों का दार्शनिक पक्ष



दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति है—दृश्यते येन तत् दर्शनम्। जिससे दर्शन किया जाय, देखा जाय और समझा जाय, वह दर्शन है। जिस साधन द्वारा तात्विक विषय का परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाय वह दर्शन है। दर्शन में विचार और चिन्तन पक्ष की प्रधानता रहती है जिसके द्वारा हम किसी निश्चय पर पहुचते हैं। इस शब्द की व्यापकता केवल आध्यात्मिकता तक ही सीमित नही है। सांसारिक विषय भी, जहां वैचारिक पक्ष की आवश्यकता प्रबल हो उठती है, जिनके विश्लेषण और विवेचन द्वारा हम तत्व को हृदयगम करते हैं दर्शन की परिधि के अन्दर आती है। प्रसाद जी के नाटकों में दर्शन का प्रयोग विविध स्थलों पर भिन्न भिन्न मतवादों के रूप में उपलब्ध होता है। विभिन्न शास्त्रीय दार्शनिक चिन्तन से वे प्रभावित दिखलाई पड़ते हैं, साथ ही जीवन और जगत की व्यावहारिक भूमिका पर बड़ी सूक्ष्मता से अपने विचार व्यक्त करते हैं।

इनके नाटकों में शैवागम का ईश्वराद्वयवाद, शांकरअद्वैत का शांत ब्रह्मवाद, योगाचार बौद्धों का विज्ञानाद्वयवाद और बौद्धमत के शून्याद्वयवाद का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है। इनमें योगाचार बौद्धों के विज्ञानाद्वयवाद का, जिसमें बाह्य जगत को चित्तवृत्ति अर्थात् चैतन्य विज्ञान के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व स्वीकृत नही हुआ है—खण्डनकर बौद्ध मत के शून्याद्वयवाद की स्थापना हुई। शून्याद्वयवाद में शून्य की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत हुई है। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल बाह्य-दृश्य जगत ही शून्य नही है—

नसत् नासत् नसदसत् सदसत् चोभयात्मकम्
चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व माध्यमिका विदुः

शाकर अद्वैत के शान्त ब्रह्मवाद मे ब्रह्माश्रित माया को जडात्मक माना गया है। वह विश्व को अनिर्वचनीय की सज्ञा देता है। अत तात्विक दृष्टि से शान्त ब्रह्मवाद तथा शून्याद्वयवाद मे बहुत अन्तर नहीं है। शैवागम के ईश्वराद्वयवाद मे शक्ति तत्व को महामाया और चित्स्वरूपा कहा गया है। प्रसाद इस दर्शन से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। बौद्ध दर्शन के सर्व दुख, सर्वक्षणिक, सर्वमनात्म की चर्चा इनके साहित्य मे बार बार आती है। बौद्धो की महायान शाखा के वैचारिक पक्ष को हीनयान दर्शन की अपेक्षा ये अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। हीनयानियो के यहा व्यक्ति के निर्वाण पर बल दिया गया है, जब महायान दर्शन लोक-सेवा और समष्टि की मुक्ति की कामना करता है। महाकरुण और बोधिसत्व के मूल मे महायान सम्प्रदाय की लोक सेवा की भावना कार्य करती है। प्रसाद ने आस्तिक जीवन के सघर्षो से विरक्त होकर ससार त्याग का उपदेश नहीं दिया है। उन्होने सदा निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा दी है—राज्यश्री म कुमार राजा सम्राट हर्ष को अपनी भेंट प्रस्तुत करते हुए कहते है—'उसी धर्म की रक्षा के लिए बोधि सत्व का व्रत ग्रहण कीजिये। आप भिक्षु होकर लोक का कल्याण नही कर सकते—राजदण्ड से ही आपका कर्त्तव्य पूरा होगा। लोक-सेवा छोडकर आप व्रत भग न कीजिए।' हर्ष ने सब कुछ दान देकर राजदण्ड ग्रहण करने के प्रति उदासीनता प्रगट की थी। प्रसाद ने बोधिसत्व का व्रत ग्रहण करने के लिये उसे प्रेरणा दी है जिससे समिष्ट का हित हो। लोक-सेवा और सर्व-साधारण की मुक्ति का भाव इसके मूल म प्रमुख है।

प्रसाद ने दर्शन के प्रवृत्ति पक्ष को अपनाया और व्यावहारिक जगत मे रह कर कर्म करते हुए योग कर्मसु कौशलम् पर बल दिया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो परस्पर सम्बद्ध हैं, फिर भी प्रसाद ने निवृत्ति मार्ग को अपने नाटको मे कही प्रश्रय नहीं दिया है। 'कर्मण्यकर्म च य पश्येत् अकर्मणि च कर्म य' गीता के इस वचन के अनुसार कर्म करते हुए निष्काम-भाव मुक्ति का साधक होता है। प्रसाद ने इस मत को ही स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त किया है। कर्म त्याग कर जो मन से फल की चिन्ता करता है, वह निवृत्त होते हुए प्रवृत्ति मार्ग का ही अनुयायी है। प्रसाद ने इस प्रकार के प्रवृत्ति मार्ग का कही समर्थन नहीं किया है। उन्होने गीता के निष्काम योग की चर्चा विभिन्न स्थलो पर की है। राज्यश्री सम्राट हर्ष से निवदन करती है— 'भाई ! यहा त्याग का प्रश्न नही है। यह लोकसेवा है। एसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त की उत्तमाश्री है।' वास्तविक त्याग वही है जिसम कर्मफल क अनाश्रित होकर कार्य किया जाय। गीता मे इस प्रकार के त्याग को सन्यास और योग की सज्ञा दी गई है—

> अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य
> सन्यासी च योगी च नच निरग्निर्न चाक्रिय ।

निष्क्रिय और निरग्नि कभी सन्यासी अथवा त्यागी नहीं हो सकता है। सुएनच्वांग

कहता है—'मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव भूमि हो सकती है।' यद्यपि यहां अमिताभ का प्रयोग सामान्य बुद्ध के अर्थ मे हुआ है, फिर भी महायान-दर्शन मे पांचध्यानी बुद्धो मे तीसरे ध्यानी बुद्ध के लिये 'अमिताभ' का प्रयोग होता है। दार्शनिक आचार्यों के यहा केवल एक पक्ष का समर्थन तथा अन्य पक्ष का खण्डन प्राप्त होता है, पर प्रायोगिक व्यक्तियो मे, जो साधना के पक्ष मे हैं, जैसे कवि तथा भक्त आदि, सब दर्शनो के तत्व उपलब्ध होते हैं। जैसे विशाख मे प्रसाद ने बौद्ध भिक्षुओ से ससार को आनन्द रूप कहलवाया है—

तू खोजता किसे, अरे आनन्द रूप है

किसने कहा कि झूठ है ससार कूप है।'

बौद्धमत के शून्याद्वयवाद मे शून्य के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व स्वीकृत नही है, यहा बौद्ध भिक्षु ससार के झूठ होने मे स देह करता है और उसके आनन्द स्वरूप की कल्पना करता है। शांकर मत और शैवागम मे परतत्व को आनन्द स्वरूप माना गया है। बौद्ध विहार का साधु भी ससार को आनन्द स्वरूप मानता है। यह कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि व्यावहारिक भूमिका पर साधना के क्षेत्र मे विभिन्न सिद्धान्तों का रूप मिश्रित हो जाता है। यहां बौद्ध भिक्षु ने ससार के आनन्द स्वरूप की जो कल्पना की है, उसके मूल मे प्रायोगिक साधना मे विभिन्न तत्वों के मिश्रण का ही भाव निहित है। सिद्धान्तो की व्याख्या मे केवल आचार्यों के यहाँ ही विरोध नही दिखलाई पडता। अत यदि बौद्ध भिक्षु इस प्रकार ससार की आनन्दमयता का राग अलापता है और उसके मिथ्या होने म विरोध करता है तो भी सिद्धान्त से कोई विरोध नही आता।

प्रसाद ने प्रेम और करुणा को लोक-जीवन के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित कर उन्हें मानव हृदय के विकास का साधन माना है। प्रेम को केवल वैयक्तिक भूमिका पर ही नहीं स्वीकार किया है वरन् उसे वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठाकर व्यावहारिक जीवन की विस्तृत और उदात्त भूमिका पर स्थापित किया है, जिसमे वह केवल ऐकान्तिक और भौतिक न बन सके। इस करुणा मूलक प्रेम को उन्होने मानवता के सीमन्त की रोरी कहा है। विशेष काम के अन्तरग रूप को उन्होंने समुद्ध प्रेम माना है। मजाजो इश्क हकीकी इश्क का सोपान होता है। उन्होंने प्रेम के इस स्वरूप को, जो मानव के अन्तर को विकसित करता है तथा जो धर्म का विरोधी नहीं है, स्वीकार किया है।[1] बौद्ध दर्शन के प्रेम को जो ससार के दृश्य पदार्थों तक ही सीमित नहीं है तथा ससार से पृथक व्यक्ति के वैराग्य का

१ डा० राममूर्ति त्रिपाठी : प्रसाद और काम—निबन्ध, पृ० १४

विरोधी है उन्होंने अपने नाटकों में उतारा है–प्रमावेश से उद्भूत करुणा जैसा अग्रज ने कहा है–सभी चेतन प्राणियों के कष्टों को दूर करती है–

It removes (Ranjati) all sufferings which spring up from numerous causes from all sentient beings there fore compassion is called intense love In this way it stre tches into our phenomenal world into the universe for the object of your love is the whole universe But at the same time it stretches beyond the phenomenal world because it is not for any body or any thing but is the part of nature of enlightenment (Bodhi) [1]

इस प्रकार प्रेम से जीव के सभी कष्ट दूर होते हैं। यह अतिशय प्रेम केवल इस भौतिक दृश्य जगत तक ही सीमित नही है। इसकी व्यापकता स्थूल संसार का अतिक्रमण करती है यह ज्ञान का प्रकाश का एक अंग है। नाटककार ने इस करुणाजन्य प्रेम को जो काम के अन्तरंग रूप को समृद्ध करता है विभिन्न स्थलों में चित्रित किया है। पुरुष और नारी के प्रेम को उन्होंने चित्त शक्ति का माध्यम माना है। विशाख में प्रेमानन्द का यह वाक्य जब तक भुक्त भोग कर चित्त उसमें नही उपराम होता मनुष्य पूर्ण वैराग्य नही पाता है इस कर्मयोग के व्यावहारिक रूप ही का अनुकरण करना चाहिए इस मान्यता का समर्थन करता है। ब्राह्मण दर्शन में संन्यास का विधान निम्नलिखित क्रम से किया गया है

ब्रह्मचर्य रीभूत्वा गृही भवेत गृहीभूत्वा वनीभवेत वनीभूत्वा प्रव्रजेत। आश्रममूलक इस व्यवस्था में गार्हस्थ्य जीवन के उपरान्त विराग का भाव आता है। इस क्रम के अपवाद स्वरूप ऐसे दृष्टान्त भी प्राप्त होते हैं जहां संस्कार वश आरम्भ में ही संन्यास का भाव जागृत हुआ है। प्रमानन्द का यह वक्तव्य– इसका कारण केवल संस्कार है। इसीलिए वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नहीं जब वह अन्तरात्मा में विकसित हो जब उलझन की गांठ सुलझ जावे उसी समय हृदय स्वतः शान्त दमय हो जाता है अनायास उद्बुद्ध संन्यास भाव को पुष्ट करता है।

उपनिषद वाक्य यदहरेवविरत तदहरेव प्रव्रजेत के अनुसार जिस समय वैराग्य भाव का उदय हो उसी समय संसार से विरक्त होना चाहिए। राग जिसे बौद्ध दर्शन करुणा की संज्ञा देता है जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बद्ध है। वह भौतिक सफलता के साथ मानव हृदय के विकास का साधन होता है। प्रेम के इस पक्ष पर प्रसाद ने बहुत बल दिया है। वे विशाख में कहते हैं– हृदय कमल जब विकसित होता है तब चेतना बराबर आनन्द मकरन्द पान किया करती है जिसमे

१ युगनद्ध–By Dr Herbent V Guenther, Page 49 50

नशा टूटने न पावे। सत्कर्म हृदय को विमल बनाता है और हृदय में उच्च वृत्तिया स्थान पाने लगती हैं, इसलिए सत्कर्म कर्मयोग को आदर्श बनाना आत्मा की उन्नति का मार्ग स्वच्छ और प्रशस्त करना है।' प्रसाद ने वह त्याग, जो जगत की उपेक्षा करता है तथा सासारिक सघर्षो से मुख मोड लेता है, कहीं नही अपनाया है।

प्रसाद जी सफल दाम्पत्य जीवन के निर्वाह के लिए प्रेम को आवश्यक तत्व मानते हैं। उच्छृखल प्रेम मानव जीवन मे सुख और शान्ति नही ला सकता। यह बन्धन विहीन प्रेम जीवन को अव्यवस्थित और अशान्त कर देता है। इस तथ्य को उन्मुक्त प्रेम का उपासक आनन्द 'एक घूट' मे स्वीकार करता है। उसे अपने स देश की सारहीनता का ज्ञान होता है और वह कहता है— मेरे कल्पित सन्देश मे सत्य का कितना अश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हू। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।' इस उच्छृखल प्रेम को बाधने के मूल मे प्रसाद जी की दृष्टि जागतिक जीवन मे सन्तुलन और उसकी सफलता पर केन्द्रित है। पुरुष और नारी के सम्बन्ध को उन्होंने केवल दो प्राणियो के सम्बन्ध के रूप मे न स्वीकार कर बहुत व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया है—'Great compassion (Mahakarna) is the means or ethod (Upaya) by which man's highest aim may be realized Method is though of as the male aspect of the one Psychologically speaking it corresponds to the desire and to the resolve to be active in this world and to work for the solvation of all sentient beings'[1] उपाय और करुणा मानो स्त्री और पुरुष के प्रतीक हैं, जिनके प्रयोग से मानव जीवन को मोक्ष प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे उदात्त नारी पात्रो के प्रेम और करुणा के चित्रण द्वारा दुखी ससार को सुखमय बनाने की ओर सकेत करते हैं। पुरुष और नारी के सम्मिलित प्रयत्न से सामरस्य की स्थिति आती है। इन दोनो मे बाह्यत विभिन्न और विरोधी ज्ञात होने वाले तत्व सवेदनात्मक ऐक्य मे बधकर समरसता की दशा उत्पन्न करते हैं—

'In the same way as salt dissolves into water, so also the spirit that takes its proper spouse (transcends all boundaries) It penetrates into the essential, emotional moving unity (Samarasa) (of what seems to be separate and distinct), if it is constantly united with her'[2]

१ युगनद्ध, पृष्ठ ४९ By Dr Herber V. Guenther
२. वही, पृष्ठ ३३

बौद्ध दर्शन के 'सर्वं दुखम्' की चर्चा उनके नाटको मे बहुधा आती है, मल्लिका इस स्थिति को स्पष्ट करती है—'तुमने ससार को दुखमय बतलाया और उससे छूटने का उपाय भी सिखाया, कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की, अपवित्रो को अपनाया, दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को प्लावित किया—अमिताभ, तुम्हारी जय हो।' कर्तव्य के अनुरोध से बौद्ध साहित्य मे चार आर्य सत्यो की कल्पना की गई है—दुख, दुखसमुदय (कारण) दुखनिरोध, दुख निरोधगामिनी प्रतिपदा। ससार को दुखमय कहने के बाद उसके कारण तथा उससे मुक्ति पर भी विचार किया गया है।

बौद्ध दर्शन की पारिभाषिक पदावली का प्रयोग प्रसाद के नाटको मे यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। मूल बौद्धदर्शन मे पच स्कन्ध की कल्पना की गई है जिसमे रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान आते हैं। इन्द्रिय जन्य अनुभूति को वेदना कहते हैं। यह तृष्णा की जननी है, जिससे सभी दुख उत्पन्न होते हैं। सज्ञा से किसी वस्तु के साक्षात्कार का बोध होता है। 'वेदना और सज्ञाओ का दुख अनुभव करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। हमे अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। दूसरो के मलिन कर्मों के विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पडती है।'

बौद्धों की 'त्रिरत्न' कल्पना के अनुसार शील, समाधि और प्रज्ञा तीन तत्व स्वीकृत हैं। प्रज्ञा-व्यक्ति मूलक राग द्वेष से ऊपर प्रतिष्ठित है। वह निरपेक्ष तथा निर्लिप्त होकर न्याय का समर्थन करती है। प्रज्ञा के इस स्वरूप की अभिव्यक्ति इन पक्तियो मे हुई है, गौतम बिम्बसार को उपदेश देते हैं—'राजन् शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से वह सब दृश्य देखती है। तब भी इन सासारिक झगडो मे उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो। यही न्याय का समर्थन है। तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्व से प्रेरित होकर समस्त सदाचारो की नीव विश्व मे स्थापित करती है।'

विश्व साम्य उसकी अखण्डता, तथा निष्काम कर्म द्वारा ससार मे प्रवृत्त होने का वर्णन विविध परिस्थितियो मे भिन्न भिन्न पात्रो द्वारा प्रसाद जी ने बार-बार कराया है। ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के गहन अध्ययन और मनन के बाद उन्होने कर्मवाद के व्यावहारिक पक्ष को—जिसमे लोकहित, विश्व मानवता, तथा विश्व मैत्री के भाव निहित हैं, अपनाया है। विपरीत परिस्थितियो और पराजय के बाद प्रसाद के पात्र निराश अवश्य हो जाते हैं, वे ससार की नश्वरता तथा विघ्नों से टूटते हुए दिखाई पडते हैं, पर अन्त मे कर्त्तव्य कर्म मे पूरी शक्ति के साथ जुट जाते हैं। कर्म यदि कठोर है, उसमे हिंसा का भाव है, फिर भी यदि उद्देश्य पवित्र है और कठोर कर्म के करने से सद्धर्म की स्थापना होती है तो परिणाम की चिन्ता किये बिना उसे अवश्य पूरा करना चाहिये। श्रीकृष्ण अर्जुन से खाण्डव दाह के समय सकोच और सन्देह प्रगट करने पर कहते हैं—'विश्व मात्र

एक अखण्ड व्यापार है। उसमे किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ नही है। परमात्मा के इस कार्यमय शरीर मे किस अंग का बढा हुआ और निरर्थक अंश लेकर कौन-सी कमी पूरी करनी चाहिए, यह सब लोग नहीं जानते। इसी से निजत्व और परकीयत्व के दुख का अनुभव होता है। विश्व मात्र को एक रूप मे देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान का कार्य समझ कर करो, तुम मुक्त हो। बस अर्जुन, इस विषम व्यापार को सम करो। दुर्वृत्त प्राणियो का हटाया जाना ही अच्छे विचारो की रक्षा है। आत्म सत्ता के प्रचारक सकुचित भावों को भस्म करो। लगा दो इसमे आग।'[1] इस प्रकार हिंसा और क्रूरता भी साधन रूप मे साम्य और अखण्ड मानवता की स्थापना के लिए गृहीत हैं।

शैवागम के अनुसार शिव प म तत्व है। वह 'स्वेच्छया स्वामित्ती विश्वोन्मीलनम्' के सिद्धान्त पर अपनी इच्छा से अपने ही आधार पर विश्व का उन्मीलन करता है। प्रसाद की शैवी दृष्टि मे यह विश्व लीला है और लीला के लिए ही एक मे कल्पित अभाव वश अभाव विषयक इच्छा की पूर्ति के लिए द्वैत का उन्मीलन होता है—परिणामस्वरूप विविध रूप और आकार युक्त सृष्टि का निर्माण होता है। इन समस्त क्रियाकलापो के मूल म इच्छा शक्ति काम करती है। सृष्टि के उद्भव और विकास दोनों ही काम-इच्छा मूलक हैं। शिव की लीला का विजृम्भण यह विश्व है। उसकी इच्छा स्वतन्त्र है, वह अभाव मूलक नही है। कल्पित अभाव की पूर्ति के लिए चराचर विश्व का निर्माण होता है। शैवागम मे विवेकमूलक व्यवस्था सृष्टि के विकास मे बाधक होती है। सहज-साधना मे विधि-निषेध का विधान नही है। लीला स्वरूप विश्व के आनन्द म विधि निषेध की व्यवस्था मानव की स्वाभाविक गतिविधि पर नियन्त्रण रखती है। नियत्रण के कारण सृष्टि की सहज लीला मे बाधा पडती है तो मनुष्य कृत्रिम साधनो का प्रयोग करता है और छिपकर उस खेल को खेलना चाहता है जिसे विधान की दृष्टि म अपराध कहते हैं। इस प्रकार असन्तोष और अपराधो की सृष्टि होती है। विवेक 'कामना' में कहता है—'परन्तु युवक, हम लोग आज तक उसे पिता समझते थे। और हम लोग कोई अपराध नही करते। कहते हैं केवल खेल। खेल का कोई दण्ड नही। यह न्याय और अन्याय क्या ? अपराध और अच्छे कर्म क्या हैं, हम लोग नही जानते। हम खेलते हैं और खेल मे एक दूसरे के सहायक हैं। इसमे न्याय का कोई कार्य नहीं। पिता अपने बच्चों का खेल देखता है, फिर कोप क्यों ?' यह है स्वाभाविक स्थिति, जिसकी अभिव्यक्ति प्रसाद की इन तीन पक्तियो मे हुई है—'यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।' इच्छा-शक्ति, काम-शक्ति को विकासोन्मुख अथवा मोक्षोन्मुख करने के लिए सहज-साधना की आवश्यकता होती है।

---

१. जनमेजय का नाग यज्ञ, पृष्ठ १४

'यत्र यत्र मनो गच्छेत् तत्र तत्र शिव पदम्' की प्राप्ति के लिए शैवागम मे सहज साधना का विधान है। इस प्रक्रिया मे यदि व्याघक होता है तो दुख और अशान्ति पैदा होती है। विवेक उस स्थिति का चित्रण करता है, जब सहज मार्ग र विघ्न उपस्थित होते हैं तो किस प्रकार अशान्ति और छल प्रपच की सृष्टि होती है, अन्त म सबका औचित्य की सीमा के अतिक्रमण करने मे विनाश होता है, पुन प्राकृतिक क्रीडा रूप जगत उद्भूत होता है—खेला था और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हस कर। इस विराट विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सबको एक मे मिलाकर खेलने की सुखद क्रीडा भूल जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व। मनुष्यता की रक्षा के लिए पाशव वृत्तियो का दमन करने के लिए राज्य की अवधारणा हो गई, परन्तु उसकी आड मे दुर्दमनीय नवीन अपराधो की सृष्टि हुई। आत्म प्रतारको, उस दिन की प्रतीक्षा मे कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा शासित और शासको का भेद विलीन होकर विराट विश्व, जाति और देश के वर्णो से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन-क्रीडा का अभिनय करेगा।'

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है, पर बुद्ध ने केवल अहकारमूलक आत्मवाद का खडन किया है। यदि बौद्ध दर्शन मे विश्वात्मवाद की स्थिति को अस्वीकार किया जायेगा तो महाकरुणा की कल्पना निरर्थक सिद्ध होगी। सर्व क्षणिक के अनुसार यदि दूसरे ही क्षण दृष्ट तत्व अदृश्य हो जाता है, तो करुणा का आलम्बन ही न रहेगा। ऐसी स्थिति मे विश्व मैत्री, विश्व करुणा का आधार ही समाप्त हो जाएगा। यहा बुद्ध दर्शन उपनिषद् के नेति-नेति से सहमत है, पर विश्वात्मवाद की स्थिति स्वीकार करता है। यह दर्शन अनात्मवादी इसलिए कहा गया कि बुद्ध ने जिस अहकार मूलक आत्मवाद का खण्डन किया वही पक्ष उभरकर सामने आया। यही कारण है कि बुद्ध दर्शन को अनात्मवादी कहा गया। धातुसेन के मुख से नाटककार ने 'स्कन्दगुप्त' म इस मत को व्यक्त किया है—अहकार मूलक आत्मवाद का खडन कर गौतम न विश्वात्मवाद को नष्ट नही किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदो के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियो का कथित सिद्धान्त मध्यमा प्रतिपदा के नाम से, ससार मे प्रचारित हुआ, व्यक्ति रूप म आत्मा के सदृश कुछ नही है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यो?'

लोकजीवन के व्यावहारिक पक्ष को सामने रखने के कारण ही बुद्ध ने वैदिकी हिंसा और जैनियों की अहिंसा—इन दो अतियो को सामने रखकर मध्यमा प्रतिपदा का सिद्धान्त अपनाया। वैदिकी हिंसा का स्वरूप यज्ञादि कर्मकाडों के कारण बहुत भयानक हो चुका था—इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जैनियो की अहिंसा भी अति

की सीमा अतिक्रमण करने के कारण व्यावहारिक जीवन में अग्राह्य हो चली थी। मध्यम मार्ग लोक जीवन के अनुकूल पक्ष था।

महायान सम्प्रदाय का लक्ष्य बोधि सत्व की प्राप्ति है—वहां समष्टि के मोक्ष पर बल दिया जाता है, जबकी श्रावक यान अथवा हीनयान में व्यक्ति को बुद्धत्व प्राप्त करने पर बल दिया गया है। प्रख्यातकीर्ति ब्राह्मण और बौद्धों के कलह को शान्त करने के लिए कहता है—'क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइये, कौन आता है, किसे बोधि सत्व होने की इच्छा है ?'

स्कन्द बौद्धदर्शन के दुखवाद और संसार की क्षण भंगुरता में साथ साथ निष्काम कर्मवाद के सिद्धान्त से भी प्रभावित दिखलाई पड़ता है। वह बौद्धों के निर्माण और योगियों की समाधि की कामना करता है। उसकी यह अभिलाषा है कि नीति और सदाचार का आश्रय पाकर गुप्त साम्राज्य हरा भरा रहे और कोई इसका योग्य संरक्षक हो, वह स्वयं उसे निष्कंटक कर पृथक हो जाना चाहता है उसका यह विचार निष्काम कर्मयोग के अनुकूल है।

नाटक के प्रधान पात्रों के माध्यम से प्रसाद विवेक, वैराग्य, कर्त्तव्यपरायणता और विश्व प्रेम के भाव व्यक्त करते हैं जो उनके वैचारिक पक्ष को प्रगट करते हैं। युगीन सामाजिक और दार्शनिक विचार परम्पराओं के निदर्शन उनके प्रायः सभी नाटकों में उपलब्ध होते हैं। 'दर्शन को प्रसाद ने सर्वत्र अपने साथ रखने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में भी दर्शन है। कहीं कहीं उनकी दार्शनिकता उनकी नाटकीय कलात्मकता में विघ्न भी उपस्थित करती हैं, फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ा।'[1] वे इस संसार को केवल दुख और निराशा का ही क्षेत्र नहीं स्वीकार करते, वरन् इस संसार के स्वर्ग होने की कल्पना करते हैं। उनका विचार है कि—'इस पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा, विश्व—नियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है।'

राजनीति-दर्शन में प्रसाद भारत की तत्कालीन परिस्थितियों, गांधी के सत्य और अहिंसा को सम्मुख रखकर बुद्ध की करुणा और क्षमा को व्यापक जीवन में उतारना चाहते हैं। असत् और आसुरी प्रवृत्तियों पर सद् और दैवी प्रवृत्तियों की विजय को प्रसाद ने अनेक स्थलों पर चित्रित किया है। क्षमा और करुणा के बल पर घोर हिंसक और क्रूर का भी हृदय परिवर्तित होता है और वह अहिंसा और कोमलता का अनुयायी होता है। 'विशाख' में प्रेमानन्द की करुणा और क्षमा के सम्मुख क्रूर और कामी राजशक्ति पराजित होती है और अन्त में उसे क्षमा की भिक्षा

---

१ आचार्य वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृ० १५३।

मिलती है। 'राज्यश्री' में सुरमा और विकट घोष जैसे पात्र जिनमे वासना और सासारिक सुख भोग की दुर्दमनीय इच्छा है, अन्त म राज्यश्री और बौद्ध महात्मा के प्रभाव से काषाय ग्रहण कर जगत की मगल-कामना में प्रवृत्त होते है। अजातशत्रु के प्राय सभी हिंसक और दुष्ट पात्र सत्य और अहिंसा के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हैं।

राजनीति के क्षेत्र म क्षमा और करुणा का इतना व्यापक प्रयोग गाधी युग को छोड कर शायद ही कहीं हुआ हो। गाधी की राजनैतिक दार्शनिकता मे हिंसा और क्रूरता से घृणा करने का उपदेश दिया जाता है, हिंसक और क्रूर स नहीं। राज्यश्री अपने भाई के हत्यारे के लिए क्षमा याचना करती है। 'अजातशत्रु मे महात्मा बुद्ध की करुणा इतनी व्यापक है कि वहा किसी के लिए कहीं प्रतिबन्ध नही है। वासवी की उदारता और सदाशयता के सम्मुख छलना के सभी षडयन्त्र विफल सिद्ध होते हैं। मागन्धी उद्दाम वासना की अतृप्ति के कारण गौतम से प्रतिशोध लेना चाहती है, पर उसे पतिव्रता पद्मावती से पराजित होना पडता है और अन्त म गौतम बुद्ध की शरण मे ही वह आश्रय पाती है। मल्लिका की करुणा और उदारता के सम्मुख कोशल नरेश को भी अपनी कलुषित भावना स्वीकार करनी पडती है। देवी मल्लिका के स्वाभाविक वात्सल्य स्नेह के स्पर्श से अजात जैसा रक्तलोलुप स्वभावत नत मस्तक हो जाता है और क्रूरता से कुछ समय के लिए विरत हो जाता है। प्रसाद ने राजनीति को केवल शासन-व्यवस्था तक ही सीमित नही रक्खा। उन्होंने राजनीति को करुणा और धर्म से सयुक्त कर मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा है, जिसम स्वार्थ, कपट और अनाचार के लिए स्थान नही है। उन्हे राजाओं और राजकुमारो की वैयक्तिक सीमा स ऊपर उठा कर वे करुणा और त्याग के द्वारा जन साधारण की मगल-कामना का प्रबल साधन मानते हैं।

चाणक्य जैसा बुद्धिवादी पात्र जो केवल सिद्धि देखता है, किसी प्रकार के साधन प्रयुक्त करने म उसे तनिक सकोच नहीं, वह भी अन्त म सघर्षों से विराम लेकर आत्मा की शान्ति ढूढता है। किये हुए कर्म का योग मनुष्य को भोगना ही पडता है। तामुराशीयन कर्म के अनुसार वह कहता है—'तो क्या मेरा कर्म कुल ल चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका। ठीक तो, प्रभ त-पवन के साथ सबकी सुख कामना शान्ति का आलिगन कर रही है। देव! आज मैं धन्य हू।' प्रतिशोध लेना उसक जीवन का लक्ष्य था, पर अपने सभी कार्य पूरा कर लने के बाद वह मौर्य सेनापति को क्षमा करता है और उसके साथ आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने के लिये सन्यास ग्रहण करता है। प्रसाद के राजनीतिक आदर्श म क्षमा और त्याग मूलक राजनीति-दर्शन का बहुत बडा योगदान है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' म व्यास की दार्शनिकता के कारण दो जातियो-नागो और आर्यों म शान्ति स्थापित होती है और वे सन्धि-सूत्र मे आबद्ध होते हैं। ब्राह्मण अकारण निर्वासन दण्ड पाकर भी राजा को क्षमा करते हैं।

प्रसाद राजनैतिक सन्धि-विग्रह को अस्थायी मानते हैं। स्नेह और सद्भावना के द्वारा राजनैतिक सम्बन्धों को स्थायी बनाने के लिये वे सतत् प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं। अत राज्य स्थापित करना और दो राजाओ के स्वार्थ, सघर्ष से ऊपर उठ कर दो विरोधी शक्तियो को स्नेह सूत्र मे बाधने की योजना करते हैं। इतिहास यद्यपि इसमे बाधक सिद्ध हो सकता है पर ऐतिहासिक घटनाओ के अनुकूल होने से तो यह कार्य और भी सरल हो जाता है। चाणक्य का यह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है—'सन्धि पत्र स्वार्थों से प्रबल नही होते, हस्ताक्षर तलवारों को रोकने म असमर्थ प्रमाणित होंगे। तुम दोनो सम्राट हो, शस्त्र व्यवसायी हो, फिर भी सघर्ष हो जाना कोई आश्चर्य की बात न होगी। अतएव, दो बालुका पूर्ण कगारो के बीच मे एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक है।' ऐसा ज्ञात होता है कि राजनीति के इस वैचारिक पक्ष का समाधान वे कही इतिहास सम्मत उदाहरण देकर तथा कहीं कल्पना के द्वारा करना चाहते हैं।

प्रसाद ने ऐसे दार्शनिक पात्रों की अवतारणा की है—जिन्ह राग-द्वेष तथा सासारिक आकर्षण, सत्य से विचलित नही कर सकते। दाण्ड्यायन भूमा के सुख के सामने भौतिक आकर्षणों को तुच्छ समझते हैं। भूमा वह परम तत्व है जिसकी प्राप्ति होने पर किसी प्रकार का अभाव नही रह जाता। भूमा का शाब्दिक अर्थ है बहुत्व इसकी व्युत्पत्ति है—बहो भाव, बहु से इमनिच् प्रत्यय होकर इसकी सिद्धि होती है। छान्दोग्य उपनिषद् मे—'नाल्पे सुखमस्ति, भूमैवसुखम्' कहा गया है। भूमा के सुख का महर्षि दाण्ड्यायन को आभास मात्र हुआ है, अत नश्वर और आकर्षक पदार्थ उन्हे अभिभूत नहीं कर सकते। प्रसाद की राजनीति ब्राह्मण और बौद्ध दर्शन के उन तत्वो से दीप्त है, जिनसे इस ससार मे शाश्वत सुख और शान्ति की स्थापना होती है। स्कन्दगुप्त की देवसेना प्रेम, त्याग और सुख सहने की असीम शक्ति से प्रकाशित हो रही है। 'प्रेम मूलक दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए प्रसाद ने नारी चरित्रों का निर्माण किया है'[1]। जैसा आरम्भ मे कहा गया है कि बौद्ध दर्शन मे प्रेम और करुणा दोनो को समानार्थक कहा गया है। Compassion and intense love अर्थात् करुणा और प्रेमातिशयता के चित्र को प्रसाद ने नारी पात्रो मे चित्रित किया है। मल्लिका की प्रेममूलक करुणा, सभी अपराधियों के लिए क्षमा याचना करती है। अजातशत्रु की वासवी, देवदत्त जैसे स्वार्थी तथा सघभेद करने वाले को भी कारागृह से मुक्त करवा देती है। स्कद की माता देवकी की, महाभिषेक के समय एक-मात्र आकाक्षा है कि 'तुम्हारा शासन—दण्ड क्षमा के सकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमा प्रार्थिनी हू।' कापालिक प्रपचबुद्धि जब देवसेना का बध करना चाहता है उस काल के शब्द—'विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूगी। उसे भ्रम

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशकर प्रसाद पृ०, १५३

है, यदि वह छूट जाता   ' देवसेना के हृदय की उदारता और त्याग की भावना को अभिव्यक्त करते है। अपने जीवन का सर्वस्व विजया के लिये समर्पित कर देती है। केवल उसकी शका को दूर करने के लिये जीवित रहने की इच्छा व्यक्त करती है। प्रेम मूलक दर्शन को प्रसाद जी ने बड़ी व्यापक और सुकुमार भूमिका पर अवतरित किया है जिसके द्वारा जीवन और जगत के उदात्त कार्य निष्पन्न होते है। जयमाला व्यष्टि और समष्टि पर अपने विचार व्यक्त करते हुये विश्व प्रेम और सर्वहित कामना को परम धर्म मानती है, पर उसे अपने पर भी प्रेम है। अन्त मे व्यष्टि प्रेम को समष्टि हित के लिए परित्याग कर देती है।

नियति—ब्राह्मण दर्शन में कर्म के तीन प्रकार कहे गये हैं—क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध। भोगो-मुख कर्म को प्रारब्ध कहते है, नियति क्रियमाण कर्म का नियमण करती है पर प्रारब्ध कर्म से वह स्वय नियन्त्रित होती है। क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध कार्य का चक्र चला करता है। शैवागम मे पाँच तत्व स्वीकृत हैं, जिन्हें पचकंचुक की सज्ञा दी गई है। ये है—राग, कला, अविद्या और नियति। ये पच कंचुक सर्वज्ञ, सर्वकर्ता जीवात्मा को आवृत्त करने वाले हैं। प्रसाद जी ने कर्मवाद की नियति और शैवागम की नियति को, जो स्वातन्त्र्य शक्ति को सकुचित करती है, स्वीकार किया है। इसके मूल मे शिवेच्छा है।

नियति नियोजना धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले' तन्त्रालोक, भाग १, पृष्ठ १६० के अनुसार नियति विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट योजना का विधान करती है। नियति शक्ति द्वारा ससार के विभिन्न कार्यों के लिये शिव भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं। 'प्रसाद जी की दृष्टि मे नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का सतुलन करने वाली शक्ति है जो मानव अतिवादो की रोक-थाम करती है और विश्व का सतुलित विकास करने मे सहायक होती है।'[१]

प्रारब्ध कर्म से नियन्त्रित नियति के उदाहरण स्वरूप 'जनमेजय का नाग यज्ञ' मे जरत्कारु के ये वाक्य—'कर्म फल तो स्वय समीप आते है, उनसे भागकर कोई बच नही सकता। मेरा पुत्र आस्तीक तुम्हारी समस्त ज्वालाओ को शान्त करेगा। स्मरण रखना मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।'

कही ऐसा भी ज्ञात होता है कि नियति मनुष्य के सभी कार्यो का नियन्त्रण करती है, वह स्वेच्छा से कोई कार्य करने मे असमर्थ है। जनमेजय मनुष्य की इस स्थिति पर विचार करता है—'मनुष्य क्या है प्रकृति का अनुचर और नियति का दास या उसकी क्रीडा का उपकरण। फिर वह क्यो अपने आपको कुछ समझता है।' नियति का एक और स्वरूप प्राप्त होता है, जिसमे उसपर विश्वास करने से मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। अजातशत्रु मे जीवक का यह वाक्य—'नियति

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ९८।

की डोरी पकड कर मैं निर्भय कर्म कूप मे कूद सकता हू। क्योकि मुझे विश्वास है कि जो होना है, वह तो होगा ही, फिर कायर क्यो बनू—कर्म से क्यो विरक्त रहू—मैं इस उच्छृंखल राजशक्ति का विरोधी होकर आपकी सेवा करने आया हू, इस धारणा का समर्थन करता है। मागन्धी अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुये कहती है 'वाह री नियति ! कैसे-कैसे दृश्य देखने में आये आदि' से ज्ञात होता है कि नियति की प्रेरणा से उसे जीवन में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करना पड़ा पर इसके मूल मे मागन्धी की अतिवादी प्रवृत्ति ही कारण थी।

जनमेजय जब नियति का क्रीडा कन्दुक होकर कर्म करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करता है, तो उत्तक उसे प्रोत्साहन देकर कर्म मे प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देता है, अपने कलक के लिये रोने से क्या वह छूट जायेगा ? उसके बदले सुकर्म करने होंगे। सम्राट ! मनुष्य जब तक यह रहस्य नही जानता, तभी तक वह नियति का दास बना रहता है। यदि ब्रह्म हत्या पाप है तो अश्वमेध उसका प्रायश्चित भी तो है।' इस उदाहरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि प्रसाद की नियति मनुष्य को अकर्मण्य नही बनाती।

नियति सम्बन्धी ऐसे उदाहरण इन नाटको मे प्राप्त होते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि मनुष्यो की अतिवादी प्रवृत्ति को, जसे आचार्य वाजपेयी का मत है, रोकने मे वह सक्रिय रहती है।' दम्भ और अहकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीडा कन्दुक हैं। अन्य नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यो को कर्म शक्ति को अनुचर बनाकर अपना कार्य कराती है और ऐसे ही क्रान्ति के समय विराट का वर्गीकरण होता है, व्यास की इस उक्ति से यह प्रामाणित होता है कि कर्तृत्व मद से युक्त मनुष्य के कार्य सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था मे बाधक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में नियति जीवन के प्रति आस्था और अविरोध उत्पन्न करती तथा मानव के अतिचारो को रोककर विश्व की अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है।

इस वैचारिक मान्यता का समर्थन व्यास की इस उक्ति से होता है 'देखा, नियति का चक्र। यह ब्रह्म चक्र आप ही अपना कार्य करता रहता है। मैंने कहा था कि यज्ञ मे विघ्न होगा। फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही धर्म का भी क्रम विकास है।'

चन्द्रगुप्त मे शकटार का यह वाक्य—'जीवित [redacted] नन्द। नियति सम्राटो से भी प्रबल है,' इस मत को पुष्ट करता है कि कर्तृत्व मद से युक्त अत्याचारी नन्द जैसे सम्राटो से भी नियति प्रबल है और उनके कार्यो का नियन्त्रण कर, मानव विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। सत् की विजय और असत् की पराजय से ही यह सम्भव है। शिव अथवा परतत्व की इच्छा से इस मान्यता मे अविरोध-भाव है। प्रसाद जी की नियति कल्पना बहुत कुछ स्वतन्त्र होते हुए भी शैवागम की नियति धारणा के अनुकूल प्रतीत होती है।

६ प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीय तथा मानवीय तथ्य

प्रसाद ने अपने नाटकों की विषय वस्तु प्राचीन भारत के गौरवमय इतिहास से चुनी है। महाभारत काल से लेकर हर्षवर्धन तक के अतीत इतिहास को, वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के मूल में उनकी उदात्त राष्ट्रीयता कार्य कर रही है। अतीत के समग्र इतिहास को नाट्य साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत कर नाटककार ने प्रबुद्ध वर्ग को भारत की वर्तमान दयनीय पराधीनता के अभिशाप से मुक्ति पाने की प्रेरणा दी है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारतीय जनता अपने राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सचेत हो रही थी। सन् १९२० से लेकर सन् १९३३ के बीच भारत में राजनैतिक चेतना इस स्तर तक विकसित हो चुकी थी कि भारतीयों में राष्ट्र जीवन के प्रत्येक पक्ष को, चाहे उसका सम्बन्ध संस्कृति, शिक्षा अथवा राजनीति से हो भारतीय जीवन के अनुकूल उन्नत किया जाय। विदेशी राज्य, विदेशी शिक्षा और संस्कृति के दुष्परिणाम का जीवन के सभी भागों में कटु अनुभव होने लगा था। महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय मंच पर आकर जन साधारण में स्वतन्त्रता की चेतना जागृत कर दी। उनके दो अस्त्र–सत्य और अहिंसा भारतीय जनता के लिए मन्त्र बन गये। तत्कालीन साहित्य ने भारत के राष्ट्रीय जागरण में भावात्मक योग दिया। काव्य उपन्यास तथा नाटक–सब में राष्ट्रीय चेतना का स्वर मुखर हो उठा।

प्रसाद जैसे अनुभूति प्रवण और भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ कलाकार के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अपने नाटकों में विभिन्न रूप से और विभिन्न स्थलों पर राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करने में योग दें। राज्यश्री में उन्होंने भारत के सांस्कृतिक उदाहरण को चित्रित किया। दान और क्षमा का वह उदात्त रूप जिसे देखकर सुएनच्वांग को कहना पड़ा– यह भारत का देव दुर्लभ दृश्य देखकर

सम्राट ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अभिनाम की प्रसव-भूमि हो सकती है।' प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना का क्रमश. विकसित रूप हमे बाद के नाटको मे उपलब्ध होता है। 'विशाख' में वे जनता को निर्भीक होने का संदेश देते हैं। विदेशी अत्याचारी राजा की भूमिका मे नरदेव को रखकर महात्मा गाधी ने प्रेमानन्द के रूप मे सत्य और अहिंसा का उपदेश दिया था। उस समय सबसे बडी आवश्यकता इस बात की थी कि अग्रेजो राज्य के भय और आतक से जन-साधारण को मुक्त किया जाय। महात्मा गाधी ने जिस राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया, उसमे किसी व्यक्ति के प्रति दुर्भावना नही थी। उनकी राष्ट्रीयता मे निरपराधों को दण्ड देने और शान्ति भग करने क लिए स्थान नही था। प्रेमानन्द के द्वारा प्रसाद ने इस उदात्त राष्ट्रीयता का स्वरूप निम्नलिखित वाक्यो मे व्यक्त किया है—

'सत्य को सामने रक्खो, आत्म बल पर भरोसा रक्खो, न्याय की माग करो।'

स्त्री पुरुष सभी निर्भीक होकर राजा के सम्मुख अपनी माग रखते हैं—

नागरमणी—'तो सारे सभासदो के और नागरिको के सामने राजा! मैं तुम्हे अभियुक्त करती हू। जो दोष एक निरपराध नागरिक को देश निकाला दे सकता है वही अपराध देखूं तो सत्ताधारी को क्या कर सकता है?' इस प्रकार नागरमणी के स्वर म भारतीय जनता, अत्याचारी और क्रूर ब्रिटिश शासन से अपने अधिकार की मांग करती है। राष्ट्रीय चेतना क्रमश बलवती होती जा रही है। जन साधारण मे स्वातन्त्र्य की लालसा बडे वेग से प्रबल हो रही है। यह राष्ट्रीयता भारतीय सास्कृतिक आदर्शों से समन्वित है, उसमे हिंसा का भाव नही है और अत्याचारी के प्रति ईर्ष्या द्वेष नही है। इसमे अपराधो और दुष्कर्मों से घृणा है। अपराध और दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति के प्रति तनिक भी रोष और क्षोभ नही है।

राष्ट्रीयता का उग्र रूप 'जनमेजय का नाग यज्ञ' मे उपलब्ध होता है जब आर्य और नाग जातिया भयकर सघर्ष मे लीन हैं। श्रीकृष्ण ने समता और बन्धुत्व की स्थापना के लिए अत्याचारियो की हिंसा को भी धर्म का अग घोषित किया। राष्ट्र की कल्पना के मूल मे सृष्टि की उन्नति का भाव निहित था। युद्ध और बल प्रयोग के विषय म महर्षि तुरकावषेय ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है— 'बल का प्रयोग वही करना चाहिये जहा उन्नति मे बाधा हो। केवल मद से उस बल का दुरुपयोग न होना चाहिये।'

पराजित नाग अपने गौरव को पुन प्राप्त करने के लिए दृढ प्रतिज्ञ हैं। युद्ध म मरना वे जानते हैं। उनमे अपनी जाति और अपने अधिकार की रक्षा के लिए त्याग और बलिदान की भावना व्याप्त है। एक सैनिक नाग, अपना राष्ट्र प्रेम इन शब्दो म व्यक्त करता है—'नाग मरना जानते है। अभी वे हीन पौरुष नही हुए

है। जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति मरना जानती रहेगी, उसी को इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा।'

इस नाटक के प्रकाशन काल तक भारत की राष्ट्रीय चेतना इस स्थिति तक विकसित हो चुकी थी वह अपने अधिकार की माग खुलकर कर सके। उसमें आवश्यकता के अनुसार त्याग के भाव पुष्ट होते जा रहे थे। प्रसाद का राष्ट्रीय आदर्श केवल स्वाधीनता प्राप्त करने तक ही सीमित नही था। उसम धर्म और क्षमा का अद्भुत मिश्रण था। उस राष्ट्रीयता के मूल म लोक-मगल और शान्ति स्थापित करने की भावना काय कर रही थी। भौतिक समृद्धि प्राप्त करने के अतिरिक्त राष्ट्रीयता की भावना मे किसी को दुख पहुचाना अथवा बल पूर्वक किसी के स्वत्व के अपहरण का भाव नही था।

स्कन्दगुप्त मे राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-स्वातन्त्र्य की भावना स्कन्द' के चरित्र मे साकार हो उठी है। आर्य-साम्राज्य के नाश से वह व्यथित और अधीर है। वह अपने सुख और आनन्द के लिए चिन्तित न होकर नीति और सदाचार की रक्षा के लिए आर्य-साम्राज्य की रक्षा करना चाहता है। वह अपने भावो को इस प्रकार व्यक्त करता है—'आर्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आखो को देखना था। हृदय काप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नही। यह नीति और सदाचारो का महान् आश्रय वृक्ष गुप्त साम्राज्य हरा भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।'

नृशसता और क्रूरता को प्रसाद ने राष्ट्रीय गौरव और पौरुष से सदा पृथक रखा है। जहा विदेशी आक्रामको की वीरता और पराक्रम साधारण निरीह जनता को आतकित करते हैं, वहा भारतीय शौर्य और पराक्रम म दीनों और दुखियो की रक्षा का भाव है। हमारी राष्ट्रीयता म सात्विक भावना की प्रमुखता है। बन्धु-वर्मा अपने सैनिकों को प्रोत्साहित करते हुए य वाक्य कहता है—असम साहसी आर्य-सैनिक! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणो को बता दिया है कि रण विद्या केवल नृशसता नही है। जिनके आतक से आज विश्व-विख्यात रूम साम्राज्य पादाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरो के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं।'

राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक हो जाता है। युद्ध और क्रूरता मे अन्तर है। रण-भूमि मे पौरुष दिखलाने का अभिप्राय यह नही है कि उस पौरुष का प्रयोग निरस्त्र साधारण जनता पर किया जाय। भारतीय राष्ट्रीय भावना नृशसता से पृथक है। इस तथ्य को चन्द्रगुप्त इस प्रकार व्यक्त करता है—'वे हमी लोगों के युद्ध हैं, जिनमे रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है। यवन आतक फैलाना जानते है और उसे अपनी रण-नीति का प्रधान अंग

मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य हैं।'

प्रसाद के राष्ट्रीय आदर्श में परपीडन तथा दूसरे के स्वत्व का अपहरण निषिद्ध माना गया है। उनकी राष्ट्रीय भावना में पौरुष और मर्यादा की रक्षा के साथ शाश्वत तत्वों का समावेश है। त्याग, दान और क्षमा के भाव शौर्य, स्वाभिमान और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा के साथ सदा सम्मिलित हैं। मातृ गुप्त के समूहगान में इस भावना की अभिव्यक्ति नाटककार ने बड़ी कुशलता से किया है—

'चरित्र के पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

प्रसाद के नाटकों में (इन्टेंस नेशनलिज्म) अतिशय राष्ट्रीयता-जो आक्रामक हो उठती है तथा इस प्रकार की राष्ट्र-भावना जो अपने देश के गौरव और स्वातन्त्र्य की रक्षा तक ही सीमित है, दोनों प्रकार की राष्ट्र-भावना जो अपने देश के गौरव और स्वातन्त्र्य की रक्षा तक ही सीमित है, दोनों प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। सिकन्दर का भारत पर आक्रमण तथा विश्व-विजय की अभिलाषा आक्रामक राष्ट्र-भावना का उदाहरण है।

समग्र राष्ट्र को एक सुगठित तथा लोकप्रिय शासन के अधीन रखने की भावना का विकसित रूप 'चन्द्रगुप्त' में प्राप्त होता है। वहां भौतिक समृद्धि प्राप्त करने के साथ त्याग और क्षमा का भाव भी दिखलाई पड़ता है। सभी लोगों में एकता का भाव तथा राष्ट्र के पृथक भू-भागों को एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बांधने की आवश्यकता किसी भी राष्ट्र को सदा ही रहेगी। 'चन्द्रगुप्त' में ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जिसमें प्रमुख पात्र इस तरह के भाव व्यक्त करते हैं। चाणक्य ने सिंहरण को इस प्रकार की शिक्षा दी है। वह कहता है—'तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।'

प्रादेशिक प्रेम की अधिकता तथा विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के संकीर्ण मनोभावों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती। चाणक्य की एक राष्ट्रीयता तथा धर्म और सम्प्रदायों की संकुचित मनोवृत्तियों को त्याग कर उदारता के अपनाने

से ही राष्ट्र स्वतन्त्र रह सकेगा तथा वह अपने गौरव और सांस्कृतिक सौष्ठव को रखने में समर्थ हो सकेगा। 'चन्द्रगुप्त' के रचना काल में भारत को इस प्रकार के विचारों और भावों के जन-जन में प्रचार की परम आवश्यकता थी। समस्त देश में स्वाधीनता की लपटें फैल चुकी थी। विदेशी शासकों की ओर से सतत चेष्टा हो रही थी कि देश संगठित न होने पावे। वे विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजन-नीति को प्रोत्साहन दे रहे थे। सभी धर्म सम्प्रदाय अपने सीमित अधिकार की रक्षा के प्रयत्न में ही लीन थे। ऐसे वातावरण में चाणक्य का यह वाक्य—'सच है बौद्ध अमात्य, परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध ब्राह्मण का भेद न रखेंगे', बहुत ही उपयोगी और राष्ट्र-प्रेम के लिए आवश्यक था। चाणक्य का यह अभिप्राय था कि देश की सभी विशृंखलित शक्तियाँ एक होकर यवन आक्रमणकारियों की बर्बरता से देश को मुक्त करें। भारत को विदेशियों के लौह पाश से मुक्त करने के लिए सभी प्रांतों और सभी वर्गों में एकता की जितनी आवश्यकता थी, उससे कम आवश्यकता आज देश की सुरक्षा के लिए एकता की नहीं है। किसी भी राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना सदा आवश्यक होगी। चाणक्य के प्रयत्न से यह एकता की भावना समस्त राष्ट्र में व्याप्त हो गई। क्षुद्रक, मालव, पंचनद और यौधेय सभी गणराज्यों के सम्मुख एक ही उद्देश्य था, विदेशियों के आक्रमण से समस्त आर्यावर्त को किस प्रकार मुक्त किया जाये? सिंहरण, अलका से कहता है—मेरा देश मालव नहीं है, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त है, इसलिए मैं ।' यह है प्रसाद की राष्ट्र-भावना जिसमें देश के प्रत्येक प्राणी पूरे देश को अपना देश समझें।

स्वतन्त्रता के संग्राम में देश के सभी प्राणी स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग ले रहे हैं। नारी को घर की चारदीवारी से बाहर निकल, पुरुष के कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वतन्त्रता संग्राम में आगे बढ़ना उस युग की मांग थी। भारत के स्वाधीनता संग्राम में नारियाँ रंग-मंच पर उतर चुकी थी। प्रसाद की राष्ट्र-भावना आग्रह विहीन है। इसमें न अनुकरण की प्रवृत्ति है और न कहीं आबद्धता है। मुक्त हृदय से अलका जैसे चरित्रों का निर्माण किया, जो प्रत्येक अवस्था में अपना कर्त्तव्य पूरा करती हैं। मालव युद्ध में वह धनुष चढ़ाकर तीर मारती है और यवन सैनिकों के मार्ग में विघ्न पैदा करती है। वह तक्षशिला में नागरिकों में राष्ट्रीयता का मन्त्र फूंकती है। वह नागरिकों के स्वर में स्वर मिलाकर गाती है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती

अरातिसैन्यसिन्धु में सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो, बढ़ चलो।

अल्का के इस स्वर में समस्त भारत की वाणी गूंज रही है। पराधीन भारत में ऐसे त्यागी कर्मवीरों की आवश्यकता थी जो 'स्कन्दगुप्त' के बन्धुवर्मा के समान राष्ट्र-यज्ञ में सब कुछ समर्पित कर दें। राष्ट्र में सब, सैनिक बनने की अभिलाषा से रण प्रांगण में सहर्ष अग्रसर हों। जिस देश के नागरिकों में इस प्रकार का भाव नहीं पैदा होगा, उसका सम्मान और स्वातन्त्र्य संकट में रहेगा। बन्धुवर्मा, भीम को सम्बोधित करते हुए कहता है—'क्षत्रियों का कर्त्तव्य है, आर्त त्राण परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुस्कया कर अवहेलना करना, और—और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना।' प्रसाद के राष्ट्रीय आदर्श में राष्ट्र की स्वाधीनता ही चरम लक्ष्य नहीं है। स्वतन्त्र राष्ट्र के साथ उसमें कर्त्तव्य की भावना होनी चाहिए। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद का राष्ट्रीय आदर्श तथा राष्ट्र-यज्ञ में सब कुछ होम करने का भाव पूर्ण वैभव के साथ चित्रित हुआ है।

भौतिक सुख और भोग-विलास के भाव से आपादमस्तक पूर्ण पात्र भी समय समय पर देश की स्वाधीनता के लिए सब कुछ बलिदान करने का आह्वान करते हैं। दृष्टान्त में 'विजया' के ये वाक्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—'एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय अंगड़ाइयाँ लेकर मुचुकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जग पड़ें।'

विदेशी पात्रों के मुख से भारत की स्तुति के मूल में प्रसाद की राष्ट्रीय गौरव की भावना कार्य कर रही है। सिंहल के युवराज कुमारदास इसे 'स्वप्नों का देश' की संज्ञा देते हैं। सुएनच्वांग यहाँ की दानशीलता और अपरिग्रह का भाव देखकर आश्चर्यचकित हो चला है। कार्नेलिया भाव विभोर होकर गा उठती है—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।'

देश की ही प्रशंसा वह नहीं करती बल्कि चाणक्य की कूटनीति की भी वह मुक्त कण्ठ से सराहना करती है। वह स्वीकार करती है कि अभी तक चाणक्य की ही विजय हुई है।

प्रसिद्ध वीर सिकन्दर भारत की दार्शनिकता और शूरता से पराभूत होकर भारत विजय से निराश हो चला है। वह स्वीकार करता है कि युद्ध को यहाँ के निवासी एक साधारण कार्य समझते हैं। वह कहता है—'सुनते हैं, पौरव ने केवल

झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिये या केवल देखने के लिए रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुंच जायगे, तब वे लड लेंगे।'

प्रसाद ने भारतीय शौर्य का वह दिव्य स्वरूप प्रस्तुत किया है, जो पराजित होते हुए भी वह विजेता को अभिभूत कर देता है। विजेता को मुक्त कण्ठ से उस अलौकिक वीरता की प्रशंसा करनी पड़ती है।

प्रसाद की राष्ट्रीयता में उदारता और क्षमा का बहुत महत्व दिया गया है। उनकी राष्ट्रीयता साधारण प्रचलित अर्थ से अधिक व्यापक और प्रशस्त है। राष्ट्रीय आदर्श में धर्म और क्षमा के भाव अन्तर्हित हैं। शत्रु पर शस्त्र द्वारा विजय प्राप्त कर लेने मात्र से ही राष्ट्रीय आदर्श की रक्षा नहीं होती है। शत्रु के हृदय को उदारता और त्याग से जीतना प्रसाद की राष्ट्रीयता का लक्ष्य है। सबके अधिकारों की रक्षा का भाव राष्ट्रीय आदर्श की सीमा के अन्दर है। भारतवर्ष केवल अपने सुख और शान्ति से ही सन्तुष्ट नहीं वरन् उसके राष्ट्रीय आदर्श में सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता और उनके सुख तथा समृद्धि की कामना है। प्रसाद ने इस उदात्त आदर्श को विविध स्थलों पर अभिव्यक्त किया है।

मानवीय तथ्य

मानववाद के अनुसार मनुष्य द्वारा प्राप्य जो भी वस्तुएं हैं तथा जो मानव के विकास के लिए आवश्यक हैं, उनका निर्णायक मनुष्य है। धर्म, अर्थ और काम के जितने उपादान हैं, उनपर मानव पुरुषार्थ और प्रयत्न द्वारा अपना स्वत्व स्थापित करता है तथा अपने शारीरिक और मानसिक विकास के साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। इन प्राप्य वस्तुओं के निर्णय में सत् तथा असत् दोनों प्रवृत्तियां कार्य करती हैं। इनमें कभी सत् पक्ष की प्रमुखता रहती है, कभी असत् की। मानव सदा एक प्रकार की मानसिक स्थिति में न रहकर विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के योग से अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। वह व्यष्टि और समष्टि, शत्रु मित्र हर्ष विषाद आदि के योग से द्वन्द्वात्मक स्थिति और वातावरण में रहकर कार्य करता है। भाव और विचारों के आवेश से धर्म-अधर्म तथा सुकृत्य और कुकृत्य द्वारा लक्ष्य सिद्धि चाहता है। मानववादी दृष्टिकोण यथार्थोन्मुख रहता है।

मानवतावाद में सामान्य हित की कामना छिपी रहती है। इस क्षेत्र में मानव को व्यापक कार्य क्षेत्र मिलता है जिसमें व्यक्ति से ऊपर उठकर सामान्य लोक जीवन की पीठिका पर वह अपने कार्य का निर्धारण करता है। मानववाद और मानवतावाद दोनों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए इन पंक्तियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। मानववादी लेखक वे हैं- जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरसंग चित्रण किया है, मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श प्रेमी

है यथा टालस्टाय।'[1] मानवीय वृत्तियों में सत् और असत् दोनों पक्षों का हार होता है। किन्तु मानवतावाद में सत्पक्ष की प्रमुख स्थापना होती है। व-प्रेम और लोक सेवा का आदर्श इसके प्रमुख तत्व हैं। मानवता के इस आदर्श स्थापना वैदिक संस्कृति के विकास के आरम्भ में ही हुई थी। आधुनिक काल के सांस्कृतिक नव जागरण में उस आदर्श को कतिपय मनीषियों और महामानवों ने पुन लोक जीवन की व्यावहारिक भूमिका में कार्यान्वित किया। विवेकानन्द, रवीन्द्र और गांधी ने इसका प्रतिष्ठापन भिन्न-भिन्न वैचारिक भूमियों पर किया है। स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का आधार स्वीकार कर, इसका आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रचलन किया। रवीन्द्र रवीन्द्र ने अनुभूति और भावात्मकता को आधार मानकर काव्य क्षेत्र में उतारा तथा गांधी जी ने सामाजिक और राजनीतिक जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया।

मानववाद का ही विकसित स्वरूप जिसमें वह व्यष्टि की संकीर्ण सीमा से निकलकर समष्टि के सुख-दुख, हर्ष-विषाद में सम्वेदनशील होता है, मानवतावाद है। इसका सम्बन्ध उस मानसिक स्थिति से है, जिसमें दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म तार्किक चिन्तन का अभाव रहता है। यही मानवतावाद का आध्यात्मिकता से पृथक्करण होता है। दार्शनिक चिन्तन पद्धति का क्षेत्र सदा से ही कुछ व्यक्तियों तक सीमित रहा है। व्यावहारिक जगत में वह सामान्य धर्म के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुआ है। मानवतावाद सामान्य दर्शन है—जिसका जगत के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। बुद्ध, टालस्टाय और गांधी ने करुणा, सत्य अहिंसा आदि तत्वों को अपनाकर मानवतावाद का प्रवर्तन जगत के व्यापक जीवन में किया है। मानवतावाद चिन्तन और ऐकान्तिक साधना के संयोग से आध्यात्मिक सीमा को स्पर्श करता है।

मानववाद और मानवतावाद में अन्तर स्पष्ट करने के लिए उन पात्रों के चरित्रों को समझना आवश्यक है जो भौतिक आकांक्षा से प्रेरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं और उन्हें सतत् प्रयत्न करने के बाद भी निराश होना पड़ता है। विभिन्न विचारों के संघर्ष से उन्हें मानसिक उत्पीड़न होता है, वे अपनी स्थिति और भविष्य के कार्यों के प्रति सदिग्ध हो उठते हैं, उनके लिए यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा कार्य करें, किस साधन को अपनायें, और किसे छोड़ें। ऐसे पात्र मानववादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर वे चरित्र हैं, जिन्हें इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता। वे अन्तर्विरोधों से ऊपर उठकर अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं और सब प्रकार के विघ्न बाधाओं को पराजित कर मानव-जाति के उत्थान के लिए प्रयत्न करते हैं। ऐसे चरित्रों की

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आलोचना, त्रैमासिक, २० अक्टूबर, १९५६ सम्पादकीय, पृ० ९।

संख्या सीमित रहती है। टालसटाय और गांधी के लिए मानवता में कोई विभाजन रेखा नहीं है। निर्धन-धनी, शोषक-शोषित तथा ऊंच नीच की समदृष्टि से कल्याण-कामना उनके जीवन का लक्ष्य होता है। इस प्रकार के चरित्र मानवतावादी विचार-धारा को प्रस्तुत करते हैं।

'राज्यश्री' में यह मानवतावादी दृष्टिकोण सुएनच्वांग तथा अन्त में राज्यश्री में प्राप्त होता है, जब वह हर्ष से सबके लिए समदृष्टि से क्षमा याचना करती है। हर्ष जीवन के आरम्भिक वर्षों में तो पूर्ण मानव है, शत्रु से प्रतिशोध तथा राज्य का विस्तार करने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। उत्थान-पतन तथा जीवन में मृत्यु और जन्म के खेल देखने के पश्चात् उसके विचारों में आमूल परिवर्तन आता है। वह राग-विराग, आकर्षण विकर्षण में समदृष्टि होकर जगत की कल्याण कामना से राजदण्ड ग्रहण करता है। इसी प्रकार 'विशाख' का प्रेमानन्द मानवतावाद का व्यापक प्रचार करने में तल्लीन है। उसका सिद्धान्त है कि क्षमा और करुणा से घोर हिंसक अहिंसक होता है और पापात्मा पुण्यात्मा बनता है। वह नरदेव से कहता है—'प्रमाद, आतंक, उद्वेग आदि स्वप्न हैं, अलीक है। किन्तु क्या, इसे पहले भी विचार किया था ? क्या मानवता का परम उद्देश्य तुम्हारी अविचार वन्या में नहीं बह गया था? विचारो, सोचो।' मानवता का विकास होने के बाद नरदेव एक साधारण व्यक्ति है, जिसमें कोई कल्मष नहीं, वह सर्वहित की कामना करता है।

'अजातशत्रु' तथा अन्य नाटकों में दोनों जीवन दृष्टियों को प्रस्तुत करने वाले पात्र प्राप्त होते हैं। अजातशत्रु और विरुद्धक—उभय राजकुमारों ने आद्योपान्त अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये सब प्रकार के साधनों का प्रयोग किया। दोनों ही राजसत्ता प्राप्त करने के लिये कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार छोड़कर अपना लक्ष्य सिद्ध करना चाहते हैं। अजातशत्रु अपने सहधर्मी विरुद्धक का समर्थन करते हुए कहता है कि—'हम नहीं समझते कि बुड्ढों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और नियन्त्रण में बंधी हुई, संसार के कीचड़ में निमज्जित राजतन्त्र की पद्धति नवीन उद्योग को असफल कर देगी।' यहां नाटककार ने अजात के विचारों का निस्संग चित्रण किया है। पिता के प्रति उसके ये वाक्य कटु हैं, तथा संस्कृतिहीनता के परिचायक है। पर उसकी मानवीय भावनाओं को स्पष्टतया हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। गौतम का प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त अपनी उच्चाकांक्षा को पूरा करने के लिए सब प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है। परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के कारण राजकुमारों का मानवीय संस्कार जो परिष्कृत और परिमार्जित नहीं है, संकीर्णता के क्षेत्र से निकल कर विनम्र तथा उदार होता है। मानवीय विचारों का यथार्थ रूप बिम्बसार की इन पंक्तियों में मुखर हो उठा है—'मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता? हाय रे मानव ! क्यों इतनी दुरभिलाषाएं बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित

करता है ? क्या निर्मल-ज्योति तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता ? भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्तःकरण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है ? जीवन की शान्तिमयी परिस्थिति को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा ?' मानव की इस अवस्था पर उसे तरस आती है। वह चाहता है कि दुरभिलाषाओं से पृथक हटकर मानव निर्मल सद्वृत्तियों का विकास करे। यथार्थ जीवन के इस चित्र से उसे वितृष्णा हो गई है। संसार के बड़े गौरव युक्त स्थानों और पदों का बीभत्स रूप वह देख चुका है। उन बड़े बड़े सम्बोधनों का नाम भी वह नहीं सुनना चाहता है। वह कहता है—'यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो।' उसे सम्राट सम्बोधन से घृणा हो गई।

गौतम विश्व-मैत्री, करुणा और क्षमा के प्रचार और प्रसार द्वारा मानवतावादी विचार धारा का लोकमंगलकारी रूप प्रस्तुत करते हैं। वे विश्व में समता और सद्भावना की स्थापना के लिये क्षमा और करुणा का प्रचार करना चाहते हैं।

नारी पात्रों में छलना और शक्तिमती का चरित्र मानवीय वृत्तियों के स्वाभाविक स्वरूप को प्रगट करता है, तथा मल्लिका के कार्य और विचार स्व की सीमा और अन्तर्द्वन्द्व से ऊपर उठकर शत्रु मित्र तथा अपना-पराया का विचार त्याग कर सर्वसाधारण की सेवा और मंगल कामना में रत हैं।

'जनमेजय का नाग यज्ञ' में जनमेजय मानवीय वृत्तियों के वशीभूत हो युद्ध और हिंसा में प्रवृत्त होता है। तामसी प्रवृत्ति के वशीभूत हो वह प्रतिशोध लेता है, ब्राह्मणों को निर्वासन का दण्ड देता है। इस नाटक में व्यास का चिन्तन प्रधान मानवतावादी दृष्टिकोण दार्शनिकता की सीमा तक पहुँच जाता है। किन्तु व्यास की दार्शनिकता ऐकान्तिक चिन्तन तक सीमित नहीं रहती, उसके उपयोग और व्यवहार के लिए वे जन-सामान्य की ओर निर्देश करते हैं। वे शस्त्र विजय की अपेक्षा उदारता और सत्य की विजय अधिक पसन्द करते हैं।

नारी पात्रों में मनसा पूर्णतः मानवीय वृत्तियों का प्रतिनिधि चरित्र है। अपनी सन्तान आस्तीक को सम्बोधित करती हुई वह कहती है—'सुना था मेरी सन्तान से नाग जाति का कुछ उपकार होगा। इसीलिए मैंने तुझे उत्पन्न किया था। यदि तू तलवार लेकर इस जातीय युद्ध में नहीं सम्मिलित होता तो आज से तू मेरा त्याज्य पुत्र है।' उसकी एक मात्र इच्छा है कि नाग जाति क्षत्रियों को पराजित कर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करे। इसके विपरीत मणिमाला विश्व-मैत्री की भावना से प्रभावित होने के कारण हिंसा और युद्ध से दूर रहती है। संसार के दुखी प्राणियों को देखकर वह उदासीन हो जाती है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में वह शान्ति का अनुभव करती है।

मानवतावादी दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने वाले प्रसाद जी के नाटकों में

प्राय दार्शनिक चरित्र हैं। यद्यपि वे ऐकान्तिक साधना में ही लीन नहीं हैं, जगत के यथार्थ जीवन से भी उनका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध उस मात्रा में घनिष्ठ नहीं है, जैसे आधुनिक युग में गांधी और टालसटाय का है। श्री कृष्ण का जीवन के संघर्षों से बहुत समीप का सम्बन्ध है, वे कर्मवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए जिसमें हिंसा और प्राणियों का विनाश भी स्वीकृत है, विश्व साम्य और अखण्ड मानवता की स्थापना करना चाहते हैं।

नाट्य रचना में द्वन्द्व की प्रधानता के कारण प्रसाद के प्रत्येक नाटक में दोनों वृत्तियों के चरित्र प्राप्त होते हैं। वे मूलत मानवीय वृत्तियों के उद्घाटन करने वाले कलाकार हैं। 'स्कन्दगुप्त' में उसके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के दोनों पक्ष इसके प्रमाण हैं। वैयक्तिक सीमा में वह पूर्ण मानव है साथ ही वह जीवन की यथार्थता से प्रभावित है। सामाजिक क्षेत्र में वह कर्त्तव्यपरायण और निर्भीक योद्धा है। त्याग और हृदय की विशालता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह संसार के संघर्षों से विरत होता है। प्रणय की सुकुमार कल्पना को सदा संजोये हुए कर्त्तव्य और त्याग की बलि वेदी पर अपने को निछावर कर देता है। अन्तर्द्वन्द्व के आधार पर स्कन्द में मानवीय वृत्तियों का चरम उत्कर्ष परिलक्षित होता है। आरम्भ से ही वह सांसारिक वैभव से उदासीन दिखलाई पड़ता है, पर कर्त्तव्य के अनुरोध से साम्राज्य की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। वह पारिवारिक कलह से व्यथित है, अधिकार नियम की अव्यवस्था से साम्राज्य के कार्यों के प्रति उदासीनता है, किन्तु शरणागत की रक्षा का परम धर्म मानकर मालव की रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है। आरम्भ से ही नाटककार ने स्कन्द की मानसिक स्थितियों का चित्रण दो भूमियों पर किया है, एक तो उसकी मानसिक स्थिति को वैयक्तिक सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है जिसमें अशान्ति है, अनिश्चय है तथा दूसरी व्यापक भूमिका पर साम्राज्य के प्रति कर्त्तव्य निर्वाह के सन्दर्भ में उसकी मानसिक स्थिति का भिन्न चित्र हमारे सामने आता है। मालव युद्ध में विजयी होने के पश्चात् स्कन्दगुप्त में प्रसन्नता और उल्लास का भाव नहीं दिखाई पड़ता है। वह ऐसे युद्ध और संघर्षमय जीवन को विडम्बना समझता है। मालव विजय के पश्चात् स्वाभाविक क्रम से उसमें हर्ष और प्रफुल्लता का भाव आना चाहिए पर वह ऐसे उल्लास को क्षणिक समझकर मानो उससे अलग होना चाहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह युद्ध और संघर्ष में शत्रुओं से भयभीत होकर कर्त्तव्य पथ से हट जाता है। जब कभी अवसर आता है, स्कन्द निर्भीक होकर कर्त्तव्य मार्ग पर अग्रसर होता है, पर उसमें तनिक भी आसक्ति नहीं। मानसिक द्वन्द्व जो मानवीयता का प्रमुख लक्षण है, से बुरी तरह पिस रहा है।

मालव में राज्याभिषेक के पश्चात् भी स्कन्द प्रसन्न नहीं है। राज्य तो प्राप्त हो चुका है, पर वैयक्तिक अभाव से वह व्यथित है। प्रेम की विफलता से

उसका हृदय हलचल और अशान्ति का केन्द्र बन गया है। मानवीय वृत्तियों का जैसा प्रस्फुटित रूप स्कन्दगुप्त और देवसेना के चरित्र में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। श्मशान के समीप टहलते हुए स्कन्द अपनी स्थिति पर विचार करता है—'इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता है सबकी—विश्व भर की—शान्ति रजनी में मैं ही धूमकेतु हूं, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला—कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आंधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट के वंश धर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न हंस सकता है। तब भी विजया ? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा? जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिण्ड होकर दिगन्त दाह करना चाहती है।'

अन्तर्दाह से भस्म मानस का सजीव उदाहरण स्कन्द है। बाहरी सब कुछ होते हुए भी वह अन्तर से खाली और निर्धन है। देवसेना का चरित्र भी अन्तर्द्वन्द्व के घात-प्रतिघात में निर्मित हुआ है। देवसेना, अन्तर्द्वन्द्व जो मानवीय प्रवृत्ति का मूलभूत तत्व है, से व्यथित होते हुए भी, मन की उदात्त भूमि पर स्थित है। उसकी चारित्रिक गरिमा सामान्य मानवीय वृत्तियों से ऊपर है। यद्यपि देवसेना का मन निरन्तर व्यथा-भार से अभिभूत और पीडित है। उसका रोदन और विलास केवल मन ही सुन सकता है। प्रणय में असफल होकर वह आजीवन अपने आराध्य की प्रतिमा की अर्चना करती है। अपनी व्यथा को केवल एक बार उसने रोकर प्रकट किया है—'आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूं, बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।' वह इस अनन्त स्वर्ग की अभिलाषा को निर्धन की थाती के समान संजोये जीवन व्यतीत करती है। उसके हृदय में बरसाती नदी की बाढ है, पर वह शान्त है, गम्भीर है।

स्कन्दगुप्त में प्रसाद ने मानवीय वृत्तियों के प्रतिनिधि स्वरूप अन्य पात्रों की भी सृष्टि की है, जो मानवीय वृत्तियों के निम्न धरातल को स्पर्श करते हैं।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य के लक्ष्य सुनिश्चित और सुनिर्धारित हैं। इनकी मानसिक स्थितियों के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन भली भांति नहीं हो पाया है। वे आद्योपान्त मानवीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं। चन्द्रगुप्त नन्दवंश का विनाश और सिकन्दर को स्वदेश से निष्कासित कर एक सुदृढ शासन-सत्ता की स्थापना करता है। उसकी कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति मालविका की मृत्यु के बाद होती है। उसका उद्गार—'परन्तु मालविका! आह, वह स्वर्गीय कुसुम' उसकी मार्मिक व्यथा, अभाव की सूचना देता है। चाणक्य की

लक्ष्य के प्रति एकान्त निष्ठा के अतिरिक्त उसके चरित्र के अन्य पक्ष बहुत अस्पष्ट रूप से उभर कर सामने आये हैं। वह भी जीवन के अन्तिम चरण में सासारिक संघर्ष और अशान्त वातावरण से विश्राम लेता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीयता का ओजस्वी चित्र चन्द्रगुप्त, सिंहरण और चाणक्य के संवादों और कार्यों में व्यक्त हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में मानवीय पक्ष के विभिन्न स्तरों के उद्घाटन का बहुत कम अवसर प्राप्त हुआ है, फिर भी कुछ स्थल ऐसे अवश्य आ गये हैं, जहाँ चन्द्रगुप्त के अन्तर्द्वन्द्व की झांकी प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त केवल एक बार ही समस्त नाटक में मानवीय दुर्बलता से आक्रान्त हुआ है। उसने देशों पर विजय प्राप्त की है, पर उसके हृदय में अभाव और रिक्तता है। वह मालविका से अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहता है—'संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभावों से द्वन्द्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।' चाणक्य ने भी केवल एक ही स्थल पर अपना अभाव और दैन्य व्यक्त किया है। उसके चरित्र में मानसिक अस्थिरता तथा अनिश्चितता की स्थिति नहीं आती। परिस्थितियों से ऊपर होते हुए भी अन्ततः उसके हृदय की कोमल भावना बलवती हो उठती है। सुवासिनी उसकी दुर्बलता को लक्ष्य करते हुए कह उठती है—'यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं? देखो दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन सा नवीन चित्र है।' चाणक्य अपने को संयमित कर सबके कल्याण के लिए सुवासिनी को राक्षस से विवाह करने का आदेश देता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पात्रों के चरित्रों का विकास एक निश्चित दिशा में हुआ है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिंहरण सभी परिस्थितियों से परिचालित न होकर उन पर नियन्त्रण करते हैं। 'मालविका' में अन्तर्द्वन्द्व का लघु, पर बड़ा ही मार्मिक दृष्टान्त प्राप्त होता है। दाड्यायन की दार्शनिकता मानवतावाद का चिन्तन पक्ष प्रस्तुत करती है, व्यावहारिक जीवन से उसका सम्बन्ध स्थापित होने पर कल्पित देवत्व इस धराधाम पर उतर सकता है।

नारी पात्रों के माध्यम से प्रसाद ने मानवीयता के अनेक पक्षों को प्रस्तुत किया है। विजया और देवसेना के चरित्र से दो विरोधी चित्र पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं। विजया यदि भौतिक सुखों की खोज में इधर उधर भटकती फिरती है तो देवसेना त्याग और प्रणय की सुकुमार कल्पना है। एक में यदि मानवीयता का यथार्थ रूप प्रस्फुटित हुआ है तो दूसरे में उसका आदर्श और उदात्त स्वरूप व्यक्त हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' की मालविका भी मौन बलिदान और प्रणय का दैवी रूप प्रस्तुत करती है। अन्तर्द्वन्द्व और अपमान से पीड़ित 'ध्रुवस्वामिनी' स्त्रीत्व की मर्यादा रक्षा के लिए प्रस्तुत होती है—'मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगी। मैं उपहार

मे देने की वस्तु शीतल मणि नही हूँ। मुझमे रक्त-सी तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमे आत्म-सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूंगी।' अपने पति रामगुप्त की नपुंसकता और कायरता से उसे घृणा है, चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय की सुकुमार भावना के साथ ही वह कृतज्ञ है। विरोधी विचारों के आघात से वह व्यथित और आहत है। नारी की मानवी भावनाओं का चित्रण 'ध्रुवस्वामिनी' मे मानो सजीव हो उठा है। ध्रुवस्वामिनी की मर्यादा की रक्षा के लिए कुमार चन्द्रगुप्त अपने जीवन को सकट मे डालने को प्रस्तुत है। रामगुप्त उसे शकराज के यहा उपहार स्वरूप भेज रहा है। ध्रुवस्वामिनी ने कभी कुमार को सच्चे हृदय से प्रेम किया था। आज वह प्राचीन स्मृति का सुख ले रही है। वह एक क्षण की अनुभूति पूर्ण सुख और आज की हीनदशा इन दो विरोधी मनोविकारों के बीच ध्रुवस्वामिनी व्यथित और पीडित है। अपनी दीन स्थिति को इस प्रकार व्यक्त करती है—'कुमार ! तुमने वही किया, जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हू। ओह, (हृदय पर उगली रखकर) इस वक्षस्थल मे दो हृदय हैं क्या ? जब अन्तरग 'हाँ' करना चाहता है, तब ऊपरी मन 'ना' क्यो कहला देता है ?' इस प्रकार वह 'हा' और 'ना' के द्वन्द्व मे पिस रही है। यह है मानवीय स्थिति, यदि साहसपूर्वक वह अन्तर के 'हाँ' को समाज के समक्ष रख देती तो उसकी स्थिति स्पष्ट हो जाती और उसे अन्तर्द्वन्द्व की व्यथा से मुक्ति मिल जाती है। पर मानव स्वभाव की दुर्बलता के कारण, जो सर्वथा स्वाभाविक है, उसे मार्मिक यातनायें सहनी पडती हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' मे ऐसे मार्मिक स्थल और भी हैं जहा वह मानवीय प्रवृत्तियो के वशीभूत होकर आहत हो उठती है। रामगुप्त की विलास-सहचरि होने को भी वह प्रस्तुत है। नारी मर्यादा की रक्षा के लिए रामगुप्त की समस्त अभिलाषायें पूरा करने का वचन देती हैं। इस पर भी जब उसे निराश होना पडता है तो आत्म हत्या के द्वारा नारी सम्मान की रक्षा के लिए वह प्रस्तुत होती है। इस समय चन्द्रगुप्त की उपस्थिति से ध्रुवस्वामिनी का आत्म सम्मान आहत हो उठता है। वह चन्द्रगुप्त से कहती है—'मैं प्रार्थना करती हू कि तुम यहा से चले जाओ। मुझे अपने अपमान मे निर्वसन-नग्न देखने का किसी पुरुष को अधिकार नही। मुझे मृत्यु की चादर से अपने को ढक लेने दो।' इस प्रकार प्रसाद ने विभिन्न मनोभावो को बडे ही प्रभावोत्पादक ढग से चित्रित किया है। ध्रुवस्वामिनी मे कभी प्राचीन स्मृतियो के सुख का भाव दिखाई पडता है तो कभी वह वर्तमान की हीन और दयनीय स्थिति से व्यथित और पीडित है, और एक ऐसा भी क्षण आता है जब अपने सतीत्व को रक्षा के लिए वह दृढता की प्रतिमा बन जाती है। इन मानवीय स्थितियों का चित्रण प्रसाद ने पूर्ण सम्वेदना के साथ किया है।

मिहिरदेव की यह वाणी—राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो,

जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है,' मानवतावाद की घोषणा करती है। वह राज-सत्ता को स्वार्थ और प्रतिहिंसा से ऊपर उठाकर विश्व-मानव की रक्षा के लिए उसका प्रयोग करना चाहते हैं। प्रसाद के नाटकों में मानवतावादी तत्वों के रहते हुए भी प्रमुखतः मानवीय प्रवृत्तियों का ही विश्लेषण हुआ है। यही कारण है कि प्रसाद का चरित्र-चित्रण अप्रतिम हो सका है।



सन्तुष्ट नही है—वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने की कामना करता है जहा देवताओ का निवास होगा। विश्व नियन्ता के इस उद्देश्य को पूरा करने मे हम उसे आद्योपान्त लीन पाते हैं। त्याग और अनासक्ति के महत्व को समक्ष रखते हुए वह युद्धो मे प्रवृत्त होता है। वैचारिक पक्ष के प्रबल होने के कारण युद्ध की हिंसा और रक्तपात से एक क्षण के लिए वह विरत होता है, यह उसके चरित्र का आदर्श तथा मानवतावादी पक्ष है, पर साम्राज्य की रक्षा और कर्तव्य से हम उसे कभी विमुख नहीं पाते। कुभा के रण-क्षेत्र मे पराजित होने तथा अपने विश्वासपात्र सहयोगियो के अभाव मे वह कुछ समय के लिए निराश हो जाता है, परिस्थिति को देखते हुए विचारशील तथा वीर स्कन्द के लिए यह अस्वाभाविक नही है—पर साध्वी रामा की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से वह पुन कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त होता है। अन्त मे अपने उद्देश्य को पूरा कर वह रगमच से हट जाता है। त्याग और शौर्य से पूर्ण ऐसे चरित्र की सर्जना केवल प्रसाद जैसे नाटककार के लिए ही सम्भव है।

भटार्क

भटार्क मगध का महाबलाधिकृत है। स्कन्दगुप्त के प्रतिद्वन्द्वी के समान वह विघ्न स्वरूप सदा उपस्थित रहता है। खल-नायक की भूमिका का निर्वाह वह पूर्ण सफलता के साथ करता है। सम्राट कुमार गुप्त की हत्या से आरम्भ कर कुभा के रण क्षेत्र तक स्कन्द के मार्ग मे विघ्न उपस्थित करता है तथा अनन्तदेवी के प्रति प्रतिश्रुत होने का कारण पुरगुप्त को साम्राज्य का अधिपति बनाने की चेष्टा करता है। नाटक के अन्त मे परिस्थितियो के योग तथा उसकी साध्वी जननी कमला के सदुपदेश से उसके चरित्र का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है और वह हूणो की अन्तिम पराजय मे स्कन्द के साथ सहयोग करता है।

भटार्क को इस मत पर पूर्ण विश्वास और आस्था है कि शक्ति और पौरुष के बल पर ही मनुष्य अपने अधिकार प्राप्त कर सकता है। यदि प्रार्थना या दूसरे की सहायता से किसी को कोई वस्तु प्राप्त होनी है तो यथा शीघ्र कोई अन्य समर्थ व्यक्ति उसको अपने अधिकार मे ले लेगा। भीख मांगने से कोई अधिकार नही प्राप्त होता है—यह उसकी मान्यता है। 'जिसके हाथो मे बल नही, उसका अधिकार ही कैसा ? और यदि मागकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा ?' भटार्क का यह वाक्य उसके विचारो का समर्थन करता है।

भटार्क मे आत्मसम्मान और उसे अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास है। वह महत्वाकांक्षी है। चचल और भयकर शकराष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए रण-दक्ष सेनापति के रूप मे अपने आपको सौराष्ट्र भेज दिये जाने का सकेत करता है। पृथ्वीसेन का यह वाक्य कि—'आवश्यकता होने पर आपको वहा जाना ही होगा, उत्कण्ठा की आवश्यकता नही' उसके हृदय मे तीर के समान चुभ जाता है।

भटार्क प्रतिशोध लेने के लिये प्रतिज्ञा करता है। उसे षडयन्त्र में रानी अनन्तदेवी के कार्यों में सहयोग देने का अवसर प्राप्त होता है। भटार्क के इस प्रकार दो उद्देश्य सिद्ध होते हैं। वह अपने अपमान का प्रतिशोध लेता है तथा उसे अनन्तदेवी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का भी अवसर प्राप्त हो जाता है। छोटी रानी की सहायता से ही उसे महाबलाधिकृत का पद प्राप्त हुआ था। भटार्क अनन्तदेवी के समक्ष अपनी तीव्र भावना को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है—'महादेवी ! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग-वाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनको निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ चुभ कर वे मुझे सचेत करेंगे। महादेवी ! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात उद्घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान बूझकर समझकर। मेरा हृदय शूलों के लौह फलक सहने के लिये है, क्षुद्र विष वाक्य वाण के लिए नहीं।' पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाने के लिए अनन्तदेवी को वह वचन देता है और इसके लिए दृढ़ता के साथ अग्रसर होता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह साधनों की चिन्ता नहीं करता तथा राष्ट्र के साथ अपनी सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण विश्वास-घात करता है।

स्वभाव से भटार्क नीच नहीं ज्ञात होता है क्योंकि ऐसे भी स्थल नाटक में आये हैं जहाँ उसकी प्रसुप्त उदात्त भावनायें प्रबुद्ध होती हैं और उसे अपने किये हुए कार्यों पर पश्चात्ताप होता है। पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार और दण्डनायक अन्तरकलह न हो, इस अभिप्राय से आत्महत्या कर लेते हैं। पुरगुप्त को इससे प्रसन्नता होती है। वह कहता है—'पाखण्डी सब विदा हो गये अच्छा ही हुआ।' इस पर भटार्क के मन में जो प्रतिक्रिया हुई है—उससे भटार्क की सदाशयता प्रकट होती है। वह अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करता है—'परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामि-भक्त सेवक ! गुप्त साम्राज्य के हीरो के से उज्ज्वल हृदयवीर, युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हो।' उस इस बात से स्पष्ट होता है कि गुप्त-साम्राज्य के हीरो के से रत्न विदा हो गये।

दूसरे स्थल पर भी उसकी नैसर्गिक स्वच्छता तथा सद्भावना प्रकट हुई है।

देवकी की हत्या के षडयन्त्र में सम्मिलित सभी अपराधियों को स्कन्द क्षमा करता है। भटार्क अपने को उपकृत समझता है तथा स्कन्द के प्रति कृतज्ञ है। प्रपंच बुद्धि पुनः उसे वाग्जाल में फँसाकर अपने मार्ग पर लाना चाहता है, तथा शत्रु से बदला लेने के लिए उसे प्रेरणा देता है। भटार्क के ये शब्द—'मैं इतना नीच नहीं हूँ' इसके अन्तर को खोलने में बहुत दूर तक सहायक होते हैं। वह समझता है कि स्कन्द के विपरीत कोई भी आचरण करने से कृतघ्नता से कलङ्कित होना है। वह नीच कर्मों में लीन मनुष्य की स्थिति पर इस प्रकार विचार करता है—'ओह ! पाप पङ्क में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं। कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में

वार लेना है।' भटार्क के इस वाक्य से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उसकी सात्विक वृत्तियां पूर्णत. नष्ट नही हुई हैं। किन्तु परिस्थितियों से विवश होकर तथा अनन्तदेवी के प्रति प्रतिश्रुत होने के कारण वह निरन्तर स्कन्द और राष्ट्र के प्रति विद्रोह करता है।

भटार्क मे एक सैनिक की दृढता है, स्थिरता है। जो वह निश्चय करता है उस पर एक मन से आगे बढ़ता है। भटार्क गलत और सही, उचित-अनुचित का विचार परित्याग कर अपना कार्य करता है। राजाओं का निर्माता बनने मे उसके आत्मविश्वास का आधिक्य ही कारण है। इसीलिए उसे राजनीति मे सफलता प्राप्त होती है। हूणो से सन्धि कर वह पुरगुप्त को राज्यसिंहासन प्राप्त कराने के लिए उद्यत करता है। नगरहार के गिरिव्रज के युद्ध मे वह स्वयं सम्मिलित होता है। यही उसके चरित्र का एक और पक्ष सामने आता है। वह विलासिता और वीरता को सहवासी समझता है। भटार्क की मान्यता है कि जीवन्त और सशक्त जाति ही विलासी हो सकती है। भोग विलास और कलाओं का सम्मान वही कर सकता है जिसमें पौरुष होता है। भटार्क की यह मान्यता कहा तक उचित है? यह दूसरा प्रश्न है।

समय और परिस्थिति का विचार कर वह अपने मनोवेगों पर नियंत्रण रखने में भी समर्थ है। एक सैनिक उसकी पूर्वोक्त मान्यता का खंडन करते हुए कहता है कि यवनों से उधार ली हुई सभ्यता से आर्य जाति के सात्विक आदर्शों की रक्षा असम्भव है। यह सुनकर भटार्क अप्रसन्न तो होता है पर अपने क्रोध और क्षोभ को नियन्त्रित कर लेता है। उस सैनिक को भटार्क के क्रोध का परिज्ञान नही होता है।

भटार्क नारी मनोविज्ञान को समझने मे कुशल है। अनन्त देवी के प्रति कृतज्ञ और वचन बद्ध होने हुए भी उसके प्रति प्रगट किए हुए भटार्क के विचार इस तथ्य का समर्थन करते हैं। वह कहता है— एक दुर्भेद्य नारी हृदय मे विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है। वाह! कितनी साहसशीला स्त्री है। देखूं, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है। परन्तु इसकी आंखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीडा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देशवहन कर रही है।'

भटार्क वीर और पराक्रमी है। स्कन्द भी उसकी वीरता को स्वीकार करता है। भटार्क को आत्म-हत्या करने से रोकते हुए स्कन्द के शब्द 'तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है' उसकी वीरता को प्रमाणित करते हैं।

कमला की भर्त्सना और मार्मिक उपदेशों को सुनकर भटार्क के चरित्र मे

परिवर्तन आता है और वह अपने कुकृत्यो और देश द्रोह पर पश्चात्ताप करता है। अपने दुर्बल तर्को की सहायता से पहले तो अपने कार्यों का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है 'साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था, केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने किया।'

किन्तु कमला उसके कार्यों मे अपने को कलंकिनी समझती है और मर्माहत होकर उससे यह कहती है कि सूतिका गृह मे ही मुझे तेरा गला घोंट देना चाहिये था। वह आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत होती है। भटार्क माता की व्यथा देखकर सिहर उठता है क्योंकि मातृ भक्ति के भाव उसमे पूर्ण रूपेण वर्तमान है। कमला के यह पूछने पर कि तू मेरा पुत्र है या नही ? वह कहता है 'मां संसार मे इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लाछनो का मैं तिरस्कार करता हू किसलिए ? केवल इसीलिये कि तू मेरी मा है और वह जीवित है।' माता के प्रति श्रद्धा और आस्था ने भटार्क के हृदय परिवर्तन म बडा योग दिया है। वह माता की आज्ञा से देवकी का अन्तिम संस्कार राज सम्मान से करने की आज्ञा देता है।

भटार्क को अब हार्दिक ग्लानि होती है और वह माता कमला से क्षमा-याचना करता है। भटार्क इसके साथ ही अपनी दुर्बुद्धि से उसे कष्ट न पहुचाने की प्रतिज्ञा करता है और शस्त्र त्याग देता है। भटार्क अपने घृणित कार्यों को स्वीकार करता है। वह अपनी स्थिति पर पश्चात्ताप प्रगट करते हुए कहता है—'मेरी उच्च-आकाक्षा वीरता का दम्भ पाखड की सीमा तक पहुच गया है। अनन्त देवी—एक क्षुद्रनारी उसके कुचक्र मे, आशा के प्रलोभन मे, मैंने सब बिगाड दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कन्द गुप्त भी है चलू उस महत्त्व का दर्शन तो कर लू।'

इस परिवर्तित स्थिति मे स्कन्द के दर्शन के लिए वह व्यथित हो उठता है—जिसके मार्ग मे आजीवन वह रोडे अटकाते रहा। भटार्क जैसे दृढ प्रतिज्ञ और वीर योद्धा की मानसिक स्थिति और विचारपरिवर्तन से आशा की जाती है कि वह अपनी सात्विक और शुद्ध भावनाओ को अन्तिम सीमा तक पहुचाये। इसका परिणाम निश्चय ही व्यक्ति और राष्ट्र के लिए शुभ और सुखद होगा। भटार्क के चरित्र म मध्य की स्थिति नही है—जिस प्रकार वह नीचता और दुष्ट प्रवृत्तियो के परिणाम की चिन्ता किये बिना इस सीमा तक पहुचा देता है कि गुप्त साम्राज्य की स्थिति सकटापन्न हो जाती है वैसे ही इसकी भी सम्भावना है कि जब राष्ट्र प्रेम की भावना आयेगी तो इसे भी उसी दृढता और पराक्रम से चरम परिणति तक वह पहुचायेगा—जिससे विच्छृखलित गुप्त साम्राज्य के सुगठित होने म सहायता मिलेगी। हुआ भी यही।

विजया जब स्कन्द के पैरो पर गिरकर क्षमा याचना करती है और अपनी पुन

पराजय स्वीकार करती है तो भटार्क कहता है—'निर्लज्ज हार कर भी नहीं हारता, मरकर भी नहीं मरता ।' विजया के लिए उसकी धारणा है कि हिंस्र पशु जैसे एकादशी का व्रत नहीं रह सकता अथवा पिशाची शान्ति-पाठ नहीं पढ़ सकती उसी, प्रकार विजया सदा नीच और अविश्वसनीय ही रहेगी। स्कन्द के ऊपर अत्याचार करके वह स्वयं लज्जित है और क्षमा याचना करता है। विजया के प्रति उसके मन में घृणा और अनादर का भाव इस सीमा तक पहुंच गया है कि उसके शव का अग्नि संस्कार करना भी उसे अनुचित जान पड़ता है। इसलिए उसे जमीन में गाड़ने के लिए भूमि खोदता है। विजया के रत्न गृह को पाकर वह बहुत प्रसन्न होता है।

भटार्क का देश-प्रेम आज चरमसीमा को स्पर्श करता है। उसके पास जो कुछ भी है वह राष्ट्र के लिए समर्पित है। स्कन्द से अपनी उदात्त-भावना को व्यक्त करते हुए कहता है—'हां सम्राट। यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-सकलन में लगूंगा।' भटार्क का सब कुछ शरीर, मन और भावनायें देश के लिए हैं। आज देश और राष्ट्र से उसका अस्तित्व पृथक् नहीं रह गया है।

स्कन्द और राष्ट्र दोनों को वह शरीर और आत्मा के समान एक समझता है। इनके प्रति अपनी समस्त श्रद्धा और निष्ठा समर्पित करता है। स्कन्द अपना उद्देश्य पूरा कर संघर्षमय जीवन से विश्राम लेना चाहता है। पुरगुप्त को युवराज की घोषणा कर भटार्क की प्रतिज्ञा पूरी करता है। स्कन्द की केवल एक ही इच्छा है। वह चाहता है कि दुर्दशा न हो। देश सदा उन्नत और समृद्धिशाली रहे। इसके प्रत्युत्तर में कहे भटार्क के वाक्य स्कन्द के प्रति श्रद्धा और उसकी दृढ़ कर्त्तव्य-भावना की घोषणा करते हैं—'देवव्रत अभी आपकी छत्रछाया में हम लोगों को बहुत सी विजय प्राप्त करनी है, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भटार्क दृढ़ निश्चयी, पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी चरित्र है। वह पूर्ण रूपेण मानवीय दुर्बलताओं और सद्वृत्तियों से भूषित हैं। खल नायक की भूमिका में स्थिर रहने के कारण उसके चरित्र का असत्पक्ष ही अधिक विकसित हुआ है।

पर्णदत्त

स्कन्दगुप्त नाटक में पर्णदत्त का भी महत्वपूर्ण योग-दान है। स्कन्द और भटार्क के पश्चात् महत्वपूर्ण पुरुषपात्रों में यदि किसी का कथानक के साथ आदि से अन्त तक सम्बन्ध है तो पर्णदत्त का। इस चरित्र में एकरसता है। वह गुप्त-साम्राज्य की श्री-वृद्धि तथा सुरक्षा में आजीवन लीन है। उसके चरित्र में भटार्क जैसे दो विरोधी चित्र नहीं आये हैं, पर भावना की एक सूत्रता में चढ़ाव-उतार के चित्र बहुलता से प्राप्त होते हैं। एक वीर योद्धा के समान एकनिष्ठ होकर सम-भाव से साम्राज्य की सेवा में वह अपना सब कुछ अर्पण कर देता है।

गुप्त-साम्राज्य के प्रमुख योद्धा पर्णदत्त के विषय में स्कन्दगुप्त के शब्द—

'आपकी वीरता की लेख माला शिप्रा और सिन्धु की लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुये सुने जाते हैं' उसके शौर्य और पराक्रम की स्वीकृति देते हैं। पर्णदत्त को गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना के सचालन करने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस वृद्ध योद्धा की एक मात्र यही इच्छा है कि 'अब भी गुप्त साम्राज्य की नासीर-सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिये मर मिटूं - यही कामना है।' गुप्त-साम्राज्य के अहित की सम्भावना से भी यह वृद्ध सेनानी मर्माहत हो उठता है।

स्कन्दगुप्त को साम्राज्य के हिताहित से उदासीन देखकर तथा अयोध्या मे नित्य नये परिवर्तन से उसे निराशा होती है। गुप्त साम्राज्य के महाबलाधिकृत का निधन और प्रौढ़ सम्राट की विलास मात्रा मे वृद्धि से वृद्ध स्वामिभक्त सेवक व्यथित हो उठता है। उसकी अभिलाषा है कि स्कन्द अपने अधिकारों के प्रति सजग और सावधान हो। वह चाहता है कि सतीत्व के सम्मान तथा गौ ब्राह्मण देवता की मर्यादा की रक्षा के लिये स्कन्द अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट हो। गुप्त-साम्राज्य की वर्तमान अवस्था देखकर इस वृद्ध को सन्देह होने लगा है कि गुप्त साम्राज्य के भावी शासक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने मे समर्थ होंगे।

स्कन्द को यथार्थ की ओर आकृष्ट करते हुये वह कहता है कि राष्ट्रनीति का क्षेत्र दर्शन और कल्पना से भिन्न है। ऊँचे आदर्श की कल्पना म लीन रहने से नित्य विस्तृत होते हुये साम्राज्य की रक्षा असम्भव है। पर्णदत्त को मर्यादा का ध्यान है, पर स्कन्द को सचेत करने की अभिलाषा से वह व्यंग्य भी करता है— 'साम्राज्य लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आने वाली वस्तु समझने लगे हैं।' पर्णदत्त का एकमात्र अभिप्राय स्कन्द को सक्रिय करना है, जिससे साम्राज्य की अभिवृद्धि और मर्यादा मे किसी प्रकार कमी न आने पावे।

चक्रपालित जब स्कन्द की, साम्राज्य के हिताहित से उदासीनता का कारण उत्तराधिकार का अव्यवस्थित नियम बतलाता है तो पर्णदत्त चक्र को यह समझाते हैं कि वह साम्राज्य का सेवक है। उसे चपलता से कोई ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए जो एक सेवक की मर्यादा और शिष्टता के बाहर हो। पर्णदत्त मे शिष्टता और गुप्त साम्राज्य की मगल कामना के भाव पूर्ण रूप से वर्तमान हैं। स्कन्द जब मालव दूत को आश्वासन देता हैं कि सन्धि नियम स ही हम लोग मालव की रक्षा के लिये बाध्य नहीं हैं, किन्तु शरणागत की रक्षा करना भी हम लोगो का कर्त्तव्य है तो वृद्ध पर्णदत्त हृदय स प्रसन्न होता है। अपने सतोष और आह्लाद को इस प्रकार व्यक्त करता है— 'युवराज ! आज यह वृद्ध हृदय स प्रसन्न हुआ। और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी।' पर्णदत्त को अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास है। स्कन्द के मुख से यह सुनकर कि राजधानी से कोई सहायता प्राप्त नहीं हो सकेगी तथा

आसन्न विपद् में अपना ही भरोसा करना होगा, वह कहता है—'कुछ चिन्ता नहीं महाराज! भगवान सब मंगल करेंगे—चलिये विश्राम करें।'

पर्णदत्त सात्विक, स्वामि देश भक्त तथा वीर योद्धा है। कभी सौराष्ट्र की अव्यवस्थित राष्ट्र-नीति को व्यवस्थित करने में लीन है तो कभी कुभा के रण में साम्राज्य के अस्त-व्यस्त होने पर स्कन्द के गायब हो जाने के बाद युद्ध से बचे हुए वीरों के संगठन में लीन है।

निष्ठा और लगन के साथ पर्णदत्त अपने ध्येय को पूरा करने से उस समय भी विचलित नहीं होता जब मालव में स्कन्द का राज्याभिषेक-समारोह हो रहा है। स्कन्द को पर्णदत्त जैसे एकनिष्ठ सच्चे सेवक की अनुपस्थिति खटकती है। पर्णदत्त की उपस्थिति से स्कन्द को और अधिक संतोष और आनन्द प्राप्त होता। वह अपनी उत्सुकता को इन शब्दों में व्यक्त करता है, 'तात! पर्णदत्त इस समय नहीं है।' चक्र यह म देख देता है कि वे सौराष्ट्र की चंचल राष्ट्र नीति की देख-रेख में लगे हैं।

इसके पश्चात् पर्णदत्त को चतुर्थ अंक में अत्याचारी हूणों के हाथ से देवसेना की रक्षा करते हुए हम पाते हैं और गुप्त साम्राज्य के शेष तथा टूटे हुए वीरों को जीवित रखने के लिए उस वीर को भीख मांगने के लिए द्वार-द्वार की ठोकर खाते हुए देखते हैं। जो कभी अस्त्रों से अग्नि की वर्षा करता था, तथा जिसकी वीरता और शौर्य पर गुप्त साम्राज्य को अभिमान था, वह आज भिखारी है। सूखी रोटियां जिन्हें कुत्तें को भी देने में संकोच होता था उन्हें आज बचकर सुरक्षित रखता है, उन पर अक्षय-निधि के समान पहरा देता है। इस दीन अवस्था के लिए वह दुखी नहीं है। पर्णदत्त को अपनी सत्यता और देश भक्ति पर अभिमान है। शोक और चिन्ता के आवेश में पहले तो जन्म देने वाले स्रष्टा को कोसता है, पर दूसरे ही क्षण उसे कर्तव्य समझकर वह स्वीकार करता है। भीख मांगना उस स्वाभिमानी योद्धा के लिए कितना कठिन और दुखद है—इसकी कल्पना करना भी कठिन है—पर वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए इसे भी करता है। अपने मनोगत भावों को पर्णदत्त इन शब्दों में व्यक्त करता है—'परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वांग भरते नहीं बनता, देश के बहुत से दुर्दशा ग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूं, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना भगवान।'

पर्णदत्त के दुखों और कठिनाइयों का अन्त यहीं तक नहीं है। नागरिकों की देवसेना के प्रति वासनापूर्ण कुदृष्टि से उसे मार्मिक व्यथा होती है। वह उसको कोसता है। सभ्यता के नाम पर सुन्दर वेषभूषा धारण करने वाले इन नागरिकों को नीच, दुरात्मा और विलास का नारकीय कीड़ा की उपाधि देता है। 'जिस देश

के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज।' उसे तरस आती है इन नवयुवकों पर जो ऐसे नीच और कर्त्तव्य की भावना से हीन हैं। यह अवस्था देखकर उसके स्वाभिमान को ठेस लगती है, पर कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर भिक्षा-मांगना जैसा हेय कर्म भी वह प्रसन्नता पूर्वक करता है।

पर्णदत्त की झल्लाहट तथा उसका क्षोभ देखकर देवसेना उसे शान्त करती है। उसके प्रत्युत्तर में उक्त प्रत्येक शब्द से पर्णदत्त के वैचारिक धरातल की प्रगतिशीलता प्रगट होती है। वह कहता है– अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए-हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं।' इससे विदित होता है कि पर्णदत्त में स्वाभिमान के साथ विचारों के क्षेत्र में प्रगतिशील भावना है। उसका स्वाभिमान कचोट उठता है जब वह योद्धाओं को भूख से बिलखते हुए देखता है। पर्णदत्त अपने बिलखते स्वाभिमान को इन शब्दों में व्यक्त करता है–'वे युद्ध में मरना जानते हैं, परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।' इन वीरों की रक्षा के लिए पर्णदत्त 'भीख दो बाबा। देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा' कहते हुए अन्न संचय करता है। उसको आवश्यकता है उन युवकों की, जो देश की बलिवेदी पर अपने जीवन की आहुति दे सकें तथा सैन्य-संग्रह के लिए धन की आवश्यकता है।

चक्रपालित और भीमवर्मा की जयकार से उसे झल्लाहट होती है। वह धन और जन की भिक्षा चाहता है जिसमें देश को शत्रुओं से मुक्त किया जा सके। वह क्षोभ के साथ कहता है–'मुझे जय नहीं चाहिये–भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन वैसा वीर चाहिये, कोई देगा भीख में ?' उत्साह के साथ पर्याप्त संख्या में नागरिक आगे आते हैं। स्कन्द सबका नेतृत्व कर देश को स्वतन्त्र करता है।

प्रसाद जी ने पर्णदत्त के चरित्र के दो चित्र हमारे सामने बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किये हैं। एक में वह वीर, सच्चा देश और स्वामिभक्त है। दूसरे चित्र का भी लक्ष्य तो वही है कि गुप्त-साम्राज्य शत्रु विहीन तथा समृद्ध हो। पर एक योद्धा और पराक्रमी व्यक्ति की दर-दर भीख मांगने में जो मानसिक स्थिति होती है, जिस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व में वह पीड़ित होता है–इसका बड़ा मार्मिक और प्रभावोत्पादक चित्र नाटककार ने प्रस्तुत किया है। ऐसे नागरिकों के सम्मुख उसे हाथ फैलाना पड़ता है जो नीच हैं, विलासी हैं और स्वार्थ के पङ्क में आकण्ठ मग्न हैं। पर्णदत्त में क्रोध, झल्लाहट, क्षोभ और व्यथा के भाव पैदा होते हैं–पर उनके सामने

एक निर्दिष्ट लक्ष्य है-वह है देश को शत्रुओं के आतंक से पराधीनता से मुक्त करना। वह सब कुछ सहता है—पर अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता। एक वीर योद्धा को इस परिस्थिति में रखकर उसके मानसिक उत्पीड़न और द्वन्द्व का चित्रण प्रसाद जैसे नाटककार के लिए ही सम्भव है।

देवसेना

देवसेना स्कन्दगुप्त की प्रणय-वाहिनी और नाटक की नायिका है वह स्कन्द की अशरीरी प्रणय-वाहिनी नहीं किन्तु भावनाओं की देवी है। वह भी अलौकिक देवी नहीं मानवीय देवी है। उसने शारीरिक मिलन को तिलांजलि देकर हृदय-मिलन को ही जीवन्त रखा। क्यों? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि देवसेना के बाहर और अन्तर के संघर्ष की परिणति है उसका अशरीरी शाश्वत प्रेम। बाहर से हमारा तात्पर्य उन उच्च आदर्शों से है, नारी के उस पावन एवं गौरवयुक्त चरित्र से है, जिसे प्रेमाभिमान पूर्ण त्याग की संज्ञा दी जा सकती है। अन्तर से हमारा अभिप्राय नारी के उस सहज संवेदन से है जो पुरुष के विश्वास-महातरु छाया में चुपचाप खड़े रहने की ममता से संपृक्त है। उसके बाहुपाश में खो जाने की लालसा और उसे निर्निमेष नयनों से देखते रहने की चाह, उसके राग की रागिनी बन जाने की उत्कट अभिलाषायें ही रमणी के सहज संवेद्य हैं-भाव सम्मोहन हैं, और यही है युवती का मनोवैज्ञानिक सत्य।

देवसेना के अन्तर और बाहर दोनों का परिदर्शन नाटककार ने कराया है, उनके संघर्ष को उभारा है, परन्तु विजय हुई है बाहर की ही। उसके अतृप्त प्रेम की प्यासी पुकार छटपटाकर अन्तर्ध्यान हो जाती है और रह जाता है उसका उदात्त स्वरूप जिसके कारण उसका चरित्र अप्रतिम हो जाता है। संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रय हीन-तान सी देवसेना के अंतस् में बरसाती नदी का वेग विद्यमान है, परन्तु उसमें विजया की भाँति उद्दाम-वासना का प्रदर्शन नहीं है। उसने कभी भी अपने आराध्य तथा प्राण प्रिय स्कन्द से प्रेम की चर्चा कर उनका अपमान नहीं होने दिया है। उसने नीरव-जीवन, एकान्त व्याकुलता और कचोट को सुख मान लिया है। जब उसके हृदय में रुदन का स्वर उठता है तब उसमें संगीत की वीणा मिला लेती है और उसी में प्रेम की कसक छिपाने का प्रयत्न करती है। प्रेम प्रसंग में देवसेना ने एक ही आंसू बहाया है जबकि उसकी सहेलियों ने उस पर व्यंग्य-वाणों की बौछार की थी। परन्तु वह फिर कभी न रोने के लिए इन शब्दों के साथ प्रतिश्रुत होती है—'यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।' नारी की विरह-व्यथा को हल्का करने का एक मात्र उपाय है रुदन, पर देवसेना ने तो उस पर भी नियन्त्रण लगा दिया है। ऐसी अवस्था में उसका हृदय कितनी गहरी प्रेम वेदना से बोझिल है यह सहज ही अनुमेय है। ऐसा ज्ञात होता है कि

विरह व्यथा को ही उसने सत्य मान लिया है और उसी में देवसेना को सुख की अनुभूति होती है।

जब देवसेना की सखी कहती है कि 'तुम्हें इतना दुख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी' उसका उत्तर देते हुए कहती है—'यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हू। आखें प्रणय कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है कान कुछ सुनते ही नही। मैं सबको समझाती हू, विवाद मिटाती हू। सखी! फिर भी मैं इस झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सभालकर, स्वस्थ होकर बैठती हू।' स्पष्ट ही है देवसेना के झगड़ालू कुटुम्ब में उसकी इन्द्रिया, उसकी चेतना के विभिन्न गुण-धर्म सम्मिलित है। इन्द्रियो का सहज धर्म है सवेदनशील होना। उनकी सवेदनाओ की टकराहट ही उनका झगड़ा है। इस प्रकार के अतर-कलह और मानसिक सघर्ष को नियन्त्रित और सयमित करना असाधारण चरित्र का कार्य है।

देवसेना शाश्वत और स्वर्गीय प्रणय की प्रतिमा है। उसने आत्म सयम की बड़ी ही उदात्त और प्रशस्त भूमिका प्रस्तुत की है। उसके सयम मे उदात्त भावनाओ की चरम परिणति है—मनोविज्ञान मे इसी को सब्लिमेशन की सज्ञा दी गई है। किन्तु देवसेना की पवित्र भाव रश्मियो मे प्रेम-पीड़ा अनुस्यूत है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? इन्द्रियो के इस कलह-पूर्ण कुटुम्ब मे गृहस्थी सभाल कर, स्वस्थ हो कर बैठ रहना देवसेना के लिए असम्भव है। वह तो दूसरो को अपने सम्बन्ध मे आश्वस्त रहने की सान्त्वना मात्र देती है। देवसेना का हृदय निराशा और व्यथा का नीड़ बन गया है। उसका यह उद्‌बोधन इसका प्रमाण है—'हृदय की कोमल कल्पना सो जा। जीवन मे जिसकी सभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकाक्षा सबसे विदा लेती हू।' देवसेना मानव-जीवन के उच्चादर्शो की पूर्ति के लिए ही भौतिक सुख की आशा आकाक्षा से विदा लेती है। उज्ज्वलतम चरित्र की रक्षा की वेदी पर देवसेना ने अपनी मिलन पुलक सवेदनाओ को चढा दिया। उसके हृदय मे ऊपर से तो शान्ति सागर हिलोरें ले रहा है—यह स्थिति उसके स्वभाव का अग बन गयी है—अत उसे दुख और व्यथा मे आनन्द का अनुभव होता है।

देवसेना ने अपना सब कुछ इस जन्म के देवता और उस जन्म के प्राप्य स्कद के चरणो पर अर्पित कर दिया और इसके प्रतिदान मे उसने वेदना मिली बिदाई के अतिरिक्त न कभी किसी अन्य वस्तु की कामना की और न कुछ दूसरा स्वीकार ही किया। 'आह! वेदना मिली विदाई' का प्रत्येक शब्द उसके हृदय की करुण कहानी बन गया है—जिसकी अमिट छाप पाठकों के कोमल चित्त पर अकित हो जाती है।

देवसेना का स्वाभिमान सात्विक स्वाभिमान अंतिम दिनो मे भी उसे प्रतिदान शून्य भक्त बनाए रहा। उसकी देश-भक्ति, त्याग, सहिष्णुता आदि अनेक विशेषतायें उसके वैयक्तिक अनुराग के ही विभिन्न रूप हैं। अपने अन्तर्द्वन्द्वों से व्यथित और अन्तर से टूटती हुई भी देवसेना राष्ट्र के गौरव की रक्षा मे सदा लीन रहती है प्रणय की बलिवेदी पर सबकुछ निछावर कर भी देवसेना कुल-परम्परा की मर्यादा पर आंच नही आने देती है।

देवसेना की चारित्रिक विशेषतायें गेय बन गई हैं। निष्काम प्रणय की प्रतिमा देवसेना प्रसाद की उर्वर कल्पना की देन है। स्कन्द के एक वाक्य से— परन्तु विजया तुमने यह क्या किया?' देवसेना के जीवन की दिशा बदल जाती है। वह अपनी व्यथा-युक्त भावना इन शब्दो मे व्यक्त करती है--'आह! जिसकी आशंका थी वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई।' देवसेना को जब से यह तथ्य विदित हो जाता है, तभी से अभिमानी भक्त के समान अपने आराध्य स्कन्द की समस्त श्रद्धा के साथ पूजा करती है। उसे किसी प्रकार के स्वार्थ से कलुषित करना नही चाहती। विजया के मार्ग मे किसी प्रकार का विघ्न उसे असह्य नही है। प्रपंच बुद्धि जब उसकी बलि देने को प्रस्तुत होता है उस समय देवसेना की केवल यही इच्छा है कि किसी प्रकार विजया के मन से भ्रम दूर हो जाता तो मरने मे उसे कोई कष्ट नही होता। वह अपने मनोगत भाव को इस प्रकार व्यक्त करती है--'विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूंगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता।' अपने जीवन की अपेक्षा विजया के भ्रम को दूर करने का महत्व उसकी दृष्टि मे अधिक है।

प्रेम के क्षेत्र मे वह महान आदर्श की रक्षिका है जिसमे नारी एक बार और केवल एक ही बार अपने मानस मन्दिर मे अपने प्रिय की सजीव मूर्ति स्थापित करती है। अनन्त काल तक वह उसी की आराधना करती रती है। देवसेना के हृदय मन्दिर मे स्कन्दगुप्त को छोड कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा। वह तो अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर उसी की आराधना करेगी। वह अपने उपास्य को सशरीर मन समर्पित कर चुकी थी किन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि स्कन्द की प्रणय आसक्ति विजया की ओर है तब वह नारीत्व की तथा प्रणय की पवित्र भावना की रक्षा के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होती है।

देवसेना आजीवन स्कन्द की दासी बनी रहती है, पर उसके प्राप्य मे भाग लेने की कल्पना भी उसे सुखद हो उठती है। उसके प्रेम मे स्वार्थ की गन्ध नही वह तो त्याग और तपस्या से पवित्र है। देवसेना का प्रणय क्रय-विक्रय तथा आदान-प्रदान की सीमा से ऊपर उठा हुआ है। विजया को यह सदेह है कि स्कन्द को उपकारो के बोझ मे लाद कर मुझसे खरीद लिया गया है—उसके सदेह को दूर करते हुए देवसेना कहती है—'शीघ्रता करने वाली स्त्री! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नही लिया चाहती है।'

उसमे कतव्य की भावना इतनी प्रबल है कि भयकर स्थिति मे भी वह अपने माग से विचलित नही होती हैं। युद्ध की भीषणता से तनिक भी भयभीत नही है। बन्धुवर्मा को आश्वस्त करते हुये कहती है–भइया आप निश्चिन्त रहिये। उस समय भी अपना प्रिय गान गाने के लिये उत्सुक है। स्कन्द भी कुभा की पराजय के बाद उससे एकान्त मे किसी कानन के कोने म उसे देखते हुए जीवन व्यतीत करने की इच्छा व्यक्त करता है उस समय देवसेना के प्रत्येक शब्द उसको कतव्य के प्रति सजगता व्यक्त करते हैं– तब तो और भी नही। मालव का महत्व तो रहेगा ही परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये। आपको अकमण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। इस कथन से देवसेना की कतव्य भावना और राष्ट्रीय गौरव तथा नारीत्व को मर्यादा की रक्षा की ही भावना प्रकट होती है।

राष्ट्र के बचे हुए वीरो की रक्षा के लिए देवसेना को गाकर भीख मागने मे न सकोच है न झिझक। वह महादेवी की समाधि परिष्कृत करती है। आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वह किसी काय को तुच्छ नही समझती है। कतव्य मे न वह स्वय विमुख होती है न दूसरे को विमुख देखना चाहती है। स्कन्द अपना ममत्व उसे समर्पित करना चाहता है–पर देवसेना उसे प्रतिदान समझ कर अस्वीकार कर देती है। वह कहती है — मैं दासी हू मालव ने जो देश के लिए उत्सग किया है उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूगी। स्कन्द को सचेत करते हुए वह पुन कतव्य की प्रेरणा इन शब्दो मे देती है— सम्राट देखो यही पर सती जयमाला की भी छोटी सी समाधि है उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिए। यह है देवसेना का पवित्र राष्ट्र प्रेम और गौरव रक्षा की भावना जिसके लिये सारी जीवन मे सब ऐहिक सुखो की तिलाजलि दे देती है।

देवसेना की भक्ति भावना तथा अपने आराध्य की अचना निष्काम है। उस पवित्र प्रतिभा को किसी प्रकार की कामना से कलुषित वह नही कर सकती। उसने अपने को अर्पित कर दिया है–उसके बदले मे यदि कुछ भी स्वीकार करती है तो यह उस पूत प्रतिभा के प्रति अनाचार होगा ऐसी उसकी मान्यता है। देवसेना के त्याग पूण चरित्र का एक अविस्मरणीय पक्ष उसकी सहिष्णुता है। उसने अपनी सहेली विजया को निरन्तर सभालने की चेष्टा की है। देवसेना ने अपनी इच्छाओ की आहुति देकर उसकी इच्छाओ की रक्षा की है। युवराज पर विजया की प्रथम अनुरक्ति जान कर उसे अपनी मगल कामना— तुम भाग्यवती हो देखो यदि वह स्वग तुम्हारे हाथ लगे भेट करती है।

उद्दाम वासना की दासी धन और ऐश्वय पर प्रेम को तौलने वाली विजया देवसेना के अन्तर को समझने म असमथ रहती है। भटाक को वरण करने के पश्चात विजया को समझाती हुई देवसेना उससे कहती है– क्या जो तुमने किया है उसे सोच समझ कर ! कही तुम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया ? तीव्र

मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथ गामिनी तो नहीं बना दिया।' देवसेना उसे विवेक का आश्रय लेने के लिए सलाह देती है। पर ईर्ष्या और अविवेक से ज्ञान-शून्य विजया को इस सरल प्रश्न में व्यंग सुनाई पड़ता है। वह देवसेना को अपना शत्रु समझती है। वह देवसेना की भावना तथा उत्तम आदर्शों की भूमिका तक पहुंचने में असमर्थ है।

संगीत से देवसेना को सहज स्वाभाविक स्नेह है। प्रत्येक स्थिति में वह देवसेना का सहायक होता है। देवसेना का संगीत प्रेम सनकी नहीं है बल्कि जीवन की प्रत्येक विषमस्थिति में संगीत के द्वारा वह अपने अभावों की पूर्ति करती है। बिना गान के वह कोई कार्य करना नहीं चाहती। विश्व की प्रत्येक कम्पन, हर एक धड़-कन में उसे एक तान सुनाई पड़ती है। बन्धुवर्मा की धारणा है कि देवसेना को गाने का रोग है। देवसेना को विश्व के प्रत्येक परमाणु में सम और हरी हरी पत्ती के हिलने में लय सुनाई पड़ती है। उसका संगीत-स्नेह दार्शनिकता की सीमा तक पहुंच जाता है। वह संगीत की परिभाषा इस प्रकार करती है- 'भाभी! सर्वात्मा के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है।'

देवसेना का प्रणय समुद्र के समान गम्भीर है, उसमें जीवन और कर्तव्य के प्रति निष्ठा है। वह अपने प्रेमी को प्राप्त करने में कभी निराश नहीं होती है। उसका विश्वास है कि सात्विक प्रेम के द्वारा प्रणयी इस लोक में असफल भले ही हो जाय, पर अगले जीवन में वह उसे अवश्य प्राप्त करेगा। निष्काम तपस्या में ही जीवन की पूर्ण परिणति उसे प्राप्त होती है।—'कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या। सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।' भावना और दर्शन से युक्त नारी का उदात्त स्वरूप देवसेना के चरित्र में घनीभूत हो उठा है। यह भी सत्य है कि ऐसे चरित्र की सृष्टि प्रसाद जैसा कवि और दार्शनिक व्यक्तित्व ही कर सकता है।

चाणक्य

चाणक्य एक राजनीति-विशारद के रूप में जगद्विख्यात व्यक्तित्व है। चन्द्रगुप्त नाटक में उसके चरित्र का राजनैतिकवैशिष्ट्य पूर्ण गरिमा के साथ विक-सित हुआ है। नाटक का नायक न होते हुए भी वह नायक के सभी कार्यों के मूल में महत्वपूर्ण भूमिका के साथ वर्तमान दिखलाई पड़ता है। नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक वह अपनी बुद्धि, तर्क और राजनैतिक विद्वता का उपयोग विभिन्न स्थलों पर अनेक रूपों में पूर्ण विश्वास से करता है और उसे सफलता प्राप्त होती है।

नाटक के आरम्भ मे सर्वप्रथम वह गुरु-दक्षिणा चुका कर गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश करने की इच्छा व्यक्त करता है। चाणक्य की आर्थिक स्थिति सामान्य है–पर उसका पाण्डित्य प्रगाढ तथा अप्रतिम है। राजनीति मे प्रवेश तो वह परिस्थितियो से विवश होकर ही करता है। पाटलीपुत्र लौटने पर चाणक्य अपनी छोटी सी झोपडी को ढूढता है—पर उसे वह छोटा सा आश्रम नही प्राप्त होता है—उसके पिता भी राज कोप के कारण निर्वासित कर दिये गए थे। अपने पिता के मित्र शकटार के कुटुम्ब की दयनीय दशा सुनकर उसे कष्ट होता है। एक साथ दो दो कुटुम्बों के सर्वनाश की कहानी से वह मर्माहत हो उठता है। जीवन मे प्रवेश करते ही उसे ऐसी स्थिति का सामना करना पडता है–जिसकी कल्पना भी उसने तक्षशिला के विद्यालय मे नही की थी। चाणक्य पहले तो क्षुब्ध होता है—भावना के आवेश मे आकर वह मगध को उलट देने, नष्ट करने की प्रतिज्ञा करता है। चाणक्य का इस नयी असभावित परिस्थिति मे क्रोधाभिभूत हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। पर दूसरे ही क्षण अपने क्रोध और क्षोभ को सयमित कर वह गृहस्थ बनने की अभिलाषा प्रगट करता है—'नहीं, परन्तु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति, वही मिल जाय, मैं शास्त्र-व्यवसायी न रहूगा, मैं कृषक बनूगा। मुझे राष्ट्र की भलाई बुराई से क्या।' सामान्य कृषक-जीवन व्यतीत करने को इच्छा रखते हुए भी जब उसके ब्राह्मणत्व के अह को ठेस लगती है तो वह अपने पर नियन्त्रण रखने मे असमर्थ हो जाता है।

नन्द की राजसभा मे प्रवेश करते ही मानव व्यवहार के लिए बौद्ध-धर्म की शिक्षा को वह अपूर्ण सिद्ध करता है। नन्द ब्राह्मणत्व पर आक्षेप करता है तथा उसे ब्राह्मणत्व की शक्ति ज्वाला चारो ओर धधकती दिखलाई पडती है। चाणक्य उसे विश्वास दिलाता है कि ब्राह्मणत्व की शक्ति से ही देश और राष्ट्र का मगल सम्भव है। राष्ट्र का शुभ चिन्तन ब्राह्मण ही कर सकते हैं। बौद्ध धर्म को राष्ट्र रक्षा में असमर्थ प्रमाणित करते हुये वह कहता है—'एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मडराने वाली विपत्तियो से, रक्त समुद्र की आधियो से, आर्यावर्त की रक्षा करने मे असमर्थ प्रमाणित होगे।' चाणक्य अपने विचारो को दृढता पूर्वक कहने मे तनिक भी सकोच नही करता है। वह नन्द को पर्वतेश्वर की सहायता करने के लिए इस अभिप्राय से कहता है कि यवन सेना भारत के किसी भू भाग पर भी अधिकार न कर सके। उसकी सभी बातें अनसुनी कर दी जाती हैं और वह अपमानित तथा तिरस्कृत एव बन्दी कर लिया जाता है। जिस समय चाणक्य को राजसभा से बहिष्कृत किया जा रहा है उस समय के प्रत्येक शब्द उसकी दृढता और निर्भीकता का परिचय देते हैं—'खीच ले ब्राह्मण की शिखा। शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते। खीचले। परन्तु यह शिखा नन्द कुल की काल सर्पिणी है, वह तब तक न बन्धन मे होगी, जब तक नन्द-कुल नि शेष न होगा।' यही से चाणक्य राजनीति के क्षेत्र मे पूरी तन्मयता के साथ प्रवेश करता है। आर्यावर्त अन्तर्विद्रोह और वाह्य आक्रमण से जर्जर हो रहा है। इससे चाणक्य की राष्ट्र-प्रेम की भावना

को आघात पहुंचता है। वह अत्याचार पूर्ण नन्द-शासन के नाश और चन्द्रगुप्त को मूर्धाभिषिक्त करने में प्रवृत्त हो जाता है।

मगध के बंदीगृह से मुक्त होने पर अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए पर्वतेश्वर की राजसभा में पहुंच कर सैनिक सहायता की याचना करता है। पर्वतेश्वर को यह आश्वासन देता है कि मगध में नन्द शासन की समाप्ति के बाद वहां की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्ध में आपकी सहायता करेगी। पर पर्वतेश्वर इस मन्त्रणा से सहमत नहीं होता और चाणक्य को वहां से भी अपमानित होकर निर्वासित किया जाता है। इस तिरस्कार और अपमान में भी चाणक्य का दृढ़ निश्चय तनिक भी विचलित नहीं होता है।

तक्षशिला में रहने के कारण पश्चिमी प्रान्तों की राजनीतिक परिस्थिति से चाणक्य पूर्ण रूप से परिचित है। उसे यह भी ज्ञात है कि पचनद प्रदेश के राजा पर्वतेश्वर से विरोध के कारण तक्षशिला का युवराज आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा। आर्यावर्त को पद दलित होने से रोकने के लिए वह अथक् प्रयत्न करता है। विभिन्न नरेशों को संगठित कर यवनों का सामना करने की चेष्टा करता है, आम्भीक को यवनों की सहायता से आने वाली संकटापन्न स्थितियों की ओर सचेत करता है। किन्तु उसे सब ओर से निराश होना पड़ता है।

चाणक्य ने हतोत्साहित होने की शिक्षा नहीं ली है। चन्द्रगुप्त और सिंहरण को साधन बनाकर वह अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए अग्रसर होता है। उसने अपने बुद्धिबल और संगठन शक्ति के कारण वे कार्य किए, जो राज्य और सैन्य बल के रहते हुए बड़े बड़े नरेश भी नहीं कर सके। क्षुद्रकों और मालवों को संगठित कर उनकी सम्मिलित सेना का संचालन चन्द्रगुप्त को दिलाने में चाणक्य की राजनीतिक दूरदर्शिता कार्य कर रही थी। मालवों के स्कंधावार में युद्ध-परिषद के व्यास पीठ से दिया गया वक्तव्य चाणक्य की राजनीतिक पटुता का प्रबल प्रमाण है। कुछ सभासदों के विरोध करने पर भी अन्त में सभी एक स्वर से चाणक्य के मत का समर्थन करते हैं और चन्द्रगुप्त को अपने शौर्य और पराक्रम प्रदर्शित करने योग्य अवसर प्राप्त होता है। सिकन्दर, जो जगद्विजेता होने का दम्भ भरता था, को पराजित और आहत होना पड़ता है। वह चाणक्य की बुद्धि गरिमा को स्वीकार करता है और विनम्रता के साथ कहता है—'धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूं। विस्मय-विमुग्ध हूं। जिनसे खड्ग परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर—मैत्री के हाथ मिला कर जाना चाहता हूं।' पर्वतेश्वर भी जिसने एक बार चाणक्य को निर्वासित तथा चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने में सन्देह प्रगट किया था मुक्त कण्ठ से चाणक्य की बात का समर्थन इस रूप में करता है—'चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने का प्रमाण यही विराट

आयोजन है ! आर्य चाणक्य ! मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य को न कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया।'

चाणक्य का प्रबल राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी राक्षस भी उसकी विलक्षण प्रतिभा को स्वीकार करते हुए कहता है-'चाणक्य ! तू धन्य है। मुझे ईर्ष्या होती है।' दूसरे स्थल पर भी वह चाणक्य की राजनीतिक दूरदर्शिता को इस प्रकार स्वीकार करता है—'चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खेलवाड किया करती है।'

सिकन्दर से पराजित होने के पश्चात् पर्वतेश्वर भी उसका मित्र बन जाता है। आम्भीक और पर्वतेश्वर की सहायता से सिकन्दर की सेना के लिए मगध पर आक्रमण करना सरल हो जाता है। ऐसे अवसर पर चाणक्य कुशलता से यह समा-समाचार प्रचलित करा देता है कि पचनद के सैनिकों से भी दुर्धर्ष और पराक्रमी कई लाख सेना शतद्रु तट पर उन लोगों की प्रतीक्षा कर रही है। इस समाचार से यवन सेना आतंकित हो उठती है और विपाशा पार करने से अस्वीकार कर देती है। चाणक्य राजनीति के सभी साधन साम-दाम दण्ड भेद से समय समय पर काम लेता है।

चाणक्य का लक्ष्य केवल विदेशी आक्रमणकारियों से देश को मुक्त करना मात्र ही नहीं है, वरन् समस्त आर्यावर्त को एक सूत्र में बाँध कर राष्ट्र की विच्छृ-खलित शक्तियों को संघटित करना है। इसके साथ ही चन्द्रगुप्त को–जिसकी योग्यता और शक्ति पर उसे विश्वास है, मूर्धाभिषिक्त करना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वह साधन की चिन्ता न कर केवल सिद्धि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। परिणाम में भलाई ही उसके कामों की कसौटी है। अत वह षड्यन्त्र और कूटनीति से मगध की जनता में राज्य के प्रति असंतोष असन्तोष फैलाता है। वह ऐसे अवसर को चुनता है जब प्रजा का असंतोष क्रांति के रूप में परिवर्तित किया जा सके। इस प्रकार वह मगध का शासन चन्द्रगुप्त के हाथ देने में समर्थ होता है। राक्षस के अन्तर्द्रोह को वह बड़ी कुशलता और दृढ़ता से शान्त करता है। इसी प्रकरण में मालविका का बलिदान भी होता है।

चन्द्रगुप्त का शासन निष्कण्टक करने के लिए वह बड़ी क्रूरता और हृदय-हीनता का परिचय देता है। कल्याणी जब पर्वतेश्वर के कलेजे में छुरी भोंक कर उसकी हत्या करती है और स्वयं भी आत्म हत्या कर लेती है, चन्द्रगुप्त कल्याणी की आत्महत्या से दुखी है–पर चाणक्य उसे आज निष्कण्टक समझता है। उसकी मान्यता है कि 'महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। चलो अपना काम करो, विवाद करना तुम्हारा काम नहीं।' वह चन्द्रगुप्त को बिना किसी उलझन

को दक्षिणा पथ जाने का आदेश देता है। राक्षस के षडयन्त्र को निरर्थक करने के अभिप्राय से ही वह विजयोत्सव का निषेध करता है। चन्द्रगुप्त के माता-पिता विजयोत्सव के न होने से अप्रसन्न होते हैं और दोनों बाहर चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त भी चाणक्य के इस कार्य से असन्तुष्ट है। किन्तु चाणक्य की दृष्टि तो सिद्धि पर है-साधन की उसे रच मात्र चिन्ता नही। चाणक्य का विश्वास है कि माता पिता के रहते चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य मे बाधा पडती है। चाणक्य को सब कुछ सह्य है पर चन्द्रगुप्त के एकाधिकार मे तनिक भी विघ्न सह्य नही है।

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए छल और कपट का आश्रय लेना चाणक्य के लिए कोई बडी बात नही है। पर्वतेश्वर को मगध का आधा राज्य दिलाने का आश्वासन देकर उसने मगध-क्रान्ति मे उसकी सहायता ली। राक्षस की मुद्रा और पत्र के द्वारा नन्द और राक्षस मे वैमनस्य और शत्रुता कराने की चेष्टा की। राक्षस को बन्दी बनाने और उसे मुक्त करने का अभिनय कराकर चाणक्य राक्षस का विश्वास प्राप्त कर लेता है। चर के मुख से वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने पर राक्षस अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता है और यथा शीघ्र मगध पहुचने की चेष्टा करता है।

चाणक्य मे अपने निश्चय पर दृढ रहने की अपूर्व क्षमता है। वह जो निश्चय करता है, वही करता है चाहे कोई प्रसन्न हो अथवा अप्रसन्न। परिस्थितियो से आहत होकर उसने निश्चय किया कि 'दया किसी से न मागूगा और अधिकार और अवसर मिलने पर किसी पर न करूगा।' उसने इस प्रतिज्ञा का निर्वाह अपने राजनैतिक जीवन मे निरन्तर किया। सभी विपक्षियो से गिन-गिन कर प्रतिशोध लेता है। पर्वतेश्वर ने चन्द्रगुप्त के क्षत्रिय होने मे सन्देह किया था। सिकन्दर को पराजित कर वह पर्वतेश्वर से ही कहलवाता है—"मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट होने के योग्य है।' नन्द ने चाणक्य को अपमानित कर बदीगृह मे डाल दिया था। नन्द के सभी अपराधो को प्रमाणित कर ब्याज सहित उनका बदला चुकाता है। महापद्म की हत्या, शकटार को बन्दी बनाकर उसके सात पुत्रों को भूख की ज्वाला से मारना, कुलीन कुमारियो का सतीत्व नष्ट करना, तथा ब्रह्मस्व और अनाथ वृत्तियो का अपहरण करना आदि अनेक जघन्य अपराध के लिए उसे दण्डित करवाता है। प्रतिशोध भावना की तीव्रता और गम्भीरता का अनुमान चाणक्य की इस बात से लगाया जा सकता है कि 'हम ब्राह्मण है, तुम्हारे लिए भिक्षा माग कर तुम्हें जीवन दान दे सकते हैं, लोगे ?' इसमे व्यग्य के साथ ब्राह्मणत्व की उदात्त भूमिका भी है।

चाणक्य के चरित्र मे निर्भीकता और त्याग की गरिदिरा से विभूषित ब्राह्मणत्व के प्रति अभिमान निरन्तर उपलब्ध होता है। तक्षशिला के गुरुकुल में आम्भीक जब उस पर कुचक्र करने का आक्षेप लगाता है तो वह इस प्रकार उसके आक्षेपो

का उत्तर देना है—'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है।' चाणक्य का विश्वास है कि 'ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा।' चाणक्य ने अपने विश्वास और विचार को सदा ही व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ किया। पर्वतेश्वर जैसे व्यक्तियों ने भी इस तथ्य को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

चन्द्रगुप्त माता-पिता के चले जाने से दुखी है। इसे चाणक्य की अनधिकार चेष्टा समझकर वह क्षुब्ध है। इस स्थिति में चाणक्य ने निर्भीकता पूर्वक अपने विचार व्यक्त किए। उसने यह भी स्वीकार किया कि ब्राह्मणत्व की सीमा का उल्लघन करने पर ऐसा ही परिणाम होता है। वह कहता है—चन्द्रगुप्त। मैं ब्राह्मण हूं। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था बौद्धिक विनोद कर्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की, जन्मभूमि को छोड़ कर कहां आ गया? सौहार्द के स्थान पर कुचक्र फूलों के प्रतिनिधि कांटे, प्रेम के स्थान में भय। ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त। अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। जान गया मैं कहां और कितने नीचे हूं।'

चाणक्य व्यग्र और अधीर हो उठता है, मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन दान देने तथा सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करने के लिए। वह चन्द्रगुप्त को मेघ मुक्त चन्द्र देखकर, राजनीति मंच से पृथक हो जाने के लिए विकल है। अपना कार्य पूरा कर निष्काम भाव से आत्मिक शांति के लिये, ब्राह्मणत्व की महिमा की रक्षा के लिए, सांसारिक मंच से विश्राम लेता है।

चाणक्य जटिल राजनीति की गुत्थियां सुलझाने तथा क्रूरता पूर्वक उसे कार्यान्वित करने में जितना निपुण और दृढ़ प्रतिज्ञ है—वैसे ही उसके चरित्र का मधुर और भावना से आप्लावित दूसरा पक्ष भी है। पाटलिपुत्र आकर वह अपनी पुरानी झोपड़ी के स्तम्भ को देख कर कहता है— इसके साथ मेरी बाल्य-काल की सहस्रों भांवरियां लिपटी हुई है, जिन पर मेरी धवल मधुर हंसी का आवरण चढ़ा रहता था। शैशव की स्निग्ध स्मृति। विलीन हो जा' बाल्यकाल के मधुर स्वप्नों को स्मरण कर उसके हृदय में मीठी कसक उठती है।

कुसुमपुरी के ध्वंस के पहले चाणक्य अपने कठोर और छल-प्रतारणा से पूर्ण जीवन पर विचार कर रहा है। उसे ज्ञात होता है कि वह अविश्वास, कुचक्र और छलनाओं का केन्द्र हो गया है। इस संसार में वह अकेला और सुहृद-विहीन है। युवावस्था में उसकी भी इच्छा थी कि कोई उसका मित्र तथा उसके जीवन में आने वाले हर्ष-विषाद में सहचर होता। कुसुमपुर को देखकर चाणक्य की भाव प्रवणता व्यथित हो उठती है—'वह सामने कुसुमपुर है, जहां मेरे जीवन का प्रभात

हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिए मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी।' वह सुवासिनी को भूलने की सतत चेष्टा करता है पर उसकी स्मृति बारबार उसके मानस पटल पर उभर आती है। सुवासिनी के सामने पड़ने पर चाणक्य की प्रणय-भावना उसकी आंखों में झलक उठती है। उसके स्मरण दिलाने पर चाणक्य अपने को संयमित करता है।

एक ऐसा भी समय आया है जब राक्षस से विरक्त होकर सुवासिनी चाणक्य की ओर आकृष्ट होती है। चाणक्य स्वीकार करता है कि 'इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रू-भंग ने उसे लौटा दिया। मैं कंगाल हूं।' चाणक्य को विश्वास हो जाने पर कि सुवासिनी राक्षस के साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर सकती है, वह उसे राक्षस से विवाह करने के लिए आदेश देता है। वह आर्य शकटार के भावी जामाता अमात्य राक्षस के लिये अपना मन्त्रित्व छोड़ देता है और सुवासिनी को सुखी रखने की शुभ कामना के साथ ब्राह्मणोचित त्याग का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

चाणक्य का चरित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा महिमा मण्डित है। राजनैतिक दूरदर्शिता के साथ उसमें अपने निश्चय पर दृढ़ रहने की विचित्र क्षमता है। वह जो निश्चय करता है—वही होता है। उसकी नीति लता विपत्ति-तम में लहलहाती है तथा उसकी दृष्टि परिणाम पर केन्द्रित रहती है। चाणक्य ब्राह्मणत्व का व्याख्याता तथा अपने चिन्तन और विचारों का प्रयोक्ता है। कल्पना लोक में विचरण करने वाला तथा ऐकान्तिक चिन्तन मनन में लीन वह दार्शनिक और कवि नहीं है, बल्कि राजनीति की कठोर यथार्थता को विवश कर अपने अनुकूल बनाने वाला व्यावहारिक जगत का प्राणी है। केवल मित्र ही उसके बुद्धि-वैभव के प्रशंसक नहीं वरन् शत्रुओं ने भी मुक्त कण्ठ से उसका स्तुति गान किया है।

चन्द्रगुप्त

नाटक के नायक चन्द्रगुप्त में वे सभी गुण वर्तमान हैं जो किसी निर्भीक और कर्तव्य परायण युवक को साधारण स्थिति से उठकर महत्वपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए आवश्यक होते हैं। वह साहसी, धीर और रणकुशल योद्धा है। विपत्तियों और कठिनाइयों में दृढ़ रहने की उसमें पर्याप्त क्षमता है। जिसके चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व को विकसित होने के लिए अवकाश कम मिला है, फिर भी ऐसे विरोधी विचारों और उनके परिणामों को हम देख सकें। चन्द्रगुप्त को अपने बाहुबल पर विश्वास है—इसका परिचय उसने कई स्थलों पर दिया है। धीरोदात्त नायक की सभी विशेषतायें चन्द्रगुप्त के चरित्र में उपलब्ध होती हैं।

तक्षशिला के गुरुकुल में सर्वप्रथम हम उसे सिंहरण की आम्भीक के आक्रमण से रक्षा करते हुए देखते हैं। वह तक्षशिला में शास्त्र-परीक्षा के साथ शस्त्र की

परीक्षा देने के लिये भी उत्सुक है। वह यवनों की राजनीति और रण-नीति से परिचित हो चुका है जो उसके भविष्य के निर्माण में बहुत सहायक सिद्ध होता है। आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए वह आरम्भ से ही सावधान दिखलाई पड़ता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र म साहस, निर्भीकता और आत्म-विश्वास के अनेक दृष्टान्त वर्तमान है। वह अपने साहस और पराक्रम से चाणक्य को बन्दीगृह से मुक्त करता है तो वह अमात्य से दृढ़ता पूर्वक कहता है 'शवों में बोलने की शक्ति नहीं' और दृढ़ता पूर्वक किवाड़ बन्द कर चाणक्य के साथ बाहर आता है। सिकन्दर के आदेश से आम्भीक, फिलिप्स और एनिसाक्रेटीज चन्द्रगुप्त को बन्दी करने की एक साथ ही चेष्टा करते हैं, पर वह असाधारण पराक्रम से तीनों को आहत कर निकल जाता है।

सिकन्दर जब मगध पर अधिकार स्थापित करने के लिए चन्द्रगुप्त की ससैन्य सहायता करने की इच्छा व्यक्त करता है, उस समय वह जो उत्तर देता है, उससे चन्द्रगुप्त की निर्भीकता और स्वावलम्बन का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। वह सादर निमन्त्रित तथा सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण कर्तव्य के अनुरोध से ग्रीक शिविर म आ गया है। पर सिकन्दर उसे गुप्तचर समझता है—चन्द्रगुप्त अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए सिकन्दर से कहता है—'मुझे लोभ से पराभूत गांधार राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।' सिकन्दर से सत्य कहने में उसे न तनिक भय है न सकोच। कायरों की सी वचक शिष्टता से उसे घृणा है। वह पूरे बल के साथ कहता है कि किसी प्रकार के लालच से स्वार्थ साधन के लिए ग्रीक-शिविर म नहीं गया है। प्रत्येक अवस्था में वह शत्रु की ललकार स्वीकार करने म कटिबद्ध रहता है। फिलिप्स के द्वन्द्वयुद्ध के आह्वान को वह इन शब्दों म स्वीकार करता है—'आधी रात, पिछले पहर, जब तुम्हारी इच्छा हो।' वह मालव युद्ध म अप्रतिजेता का अभिनय करने वाले सिकन्दर को पराजित करता है। चन्द्रगुप्त जब कभी भी अपने शत्रु को पराजित करता है या उसके जीवन को बहुमूल्य समझकर शत्रु को सुरक्षित चले जाने का मार्ग देता है, तो उसम एक प्रकार की शालीनता और शिष्टता रहती है—जिससे उसकी वीरता की महिमा बढ़ जाती है।

चन्द्रगुप्त यवन रण नीति से पूर्ण परिचित है। वह पर्वतेश्वर को यवनों की रणनीति भिन्न होने के कारण सावधानी से युद्ध करने की चेतावनी देता है। कल्याणी से गज-सेना की अनुपयोगिता की चर्चा करता है तथा पर्वतेश्वर की पराजय रोकने के लिए पहाड़ी पर सेना एकत्र करने की मन्त्रणा देता है। यवनों की रणनीति के विषय में सिंहरण से विचार करते हुए वह कहता है—ये हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनम रण भूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रण-नीति का प्रधान अंग मानते हैं।

निरीह प्रजा को लूटना, गावों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य हैं।' अपने को पूरा करने के लिए शत्रु नीति से युद्ध करने के लिए वह तत्पर होता है। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त को युद्ध-क्षेत्र में प्रत्येक स्थान पर सफलता प्राप्त होती है।

स्वावलम्बन और आत्म सम्मान की रक्षा चन्द्रगुप्त के चरित्र के दो स्वाभाविक गुण हैं। परिस्थितियों के विपरीत होने पर वह स्वावलम्बन का परिचय देता है। साहस के साथ सबका सामना करता है– तनिक भी अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होता है। आत्म-सम्मान की रक्षा सब कुछ त्याग कर भी वह करेगा– इसकी सूचना तो वह तक्षशिला के गुरुकुल में ही देता है–'संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिये मर मिटना ही उत्तम है।' अपने इस वचन का निर्वाह उसने जीवन में किया है।

अपने पिता-माता के चले जाने के पश्चात् चाणक्य से भी जो उसके प्रत्येक कार्य का नियामक और उसका पथ प्रदर्शक है, अपना क्षोभ इस प्रकार व्यक्त करता है–'वह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं। केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूं, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण हाथों में रखना चाहते हैं।' वह चाणक्य के अतिशय नियन्त्रण से क्षुब्ध हो उठता है और उसके स्वाभिमान को ठेस लगती है। चाणक्य के चले जाने पर भी वह अधीर नहीं होता है। उसे अपनी शक्ति और बाहुबल पर विश्वास है। सिंहरण के चले जाने पर उसे दुख तो होता है पर वह अधीर नहीं होता। उसका संकल्प और दृढ़ होता है। चन्द्रगुप्त दुख और साहस से मिश्रित भावना को इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है– पिता गये, माता गईं, गुरुदेव गये, कंधे से कंधा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर-सहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा।'

सिंहरण के त्याग-पत्र भेजने पर उसका स्वाभिमान गरज उठता है। वह घोषणा करता है कि आज से मैं सैनिक हूं–केवल सैनिक। अपने सैनिकों से चन्द्रगुप्त के नाम पर प्राण देने के लिये आह्वान करता है।

सिंहरण को अवकाश देकर आत्म विश्वास को इस प्रकार व्यक्त करता है 'तुम दूर खड़े होकर देखलो ! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा और आत्मावलम्बन के और भी दृष्टान्त नाटक से उद्धृत किये जा सकते हैं।

चन्द्रगुप्त अध्यवसायी और परिश्रमी है। लक्ष्य तक पहुचने में जो भी कठिनाई आती है उसे वह साहस के साथ दूर करता है। अपने बाहुबल से सिल्यूकस के साथ होने वाले युद्ध का निपटारा करने के लिए वह कटिबद्ध है। सैनिक, शस्त्र और धन की व्यवस्था कर लेने के बाद सैनिक के प्रश्न करने पर कि शिविर कहा

रहेगा ? वह कहता है–'अश्व की पीठ पर, सैनिक, ! कुछ खिला दो और अश्व बदलो एक क्षण विश्राम नहीं !' विजय को वह चिर सहचर समझता है। अदृष्ट की, उसे आत्म विश्वास और निष्ठा के आधिक्य के कारण चिंता ही नहीं है। मृत्यु से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए वह प्रस्तुत है। उसे परिणाम की चिन्ता नहीं, विजय पर उसे पूर्ण विश्वास है। इस आशा से निर्भीक होकर वह कर्म में प्रवृत्त होता है। आरम्भ में भी चन्द्रगुप्त ने कष्ट और आपत्तियों को प्रसन्नता पूर्वक सहन किया है। आर्य चाणक्य के साथ कानन के बीहड़ पथ में भूख और प्यास की यातना सहते हुए अपने मार्ग पर आगे बढ़ता है। शरीर शिथिल हो जाता है पर अध्यवसाय से विमुख होना वह नहीं जानता।

चन्द्रगुप्त के विषय में पर्वतेश्वर से की हुई चाणक्य की यह भविष्यवाणी कि 'क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा,'—अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है। वह अपने शौर्य का उपयोग—केवल साम्राज्य स्थापित करने और शत्रु को युद्ध क्षेत्र में पराजित करने तक ही सीमित नहीं रखता है। बल्कि नारी की मर्यादा की रक्षा भी उसी दृढ़ता से करता है। फिलिप्स की कामुकता के कारण कार्नेलिया का कौमार्य संकट में है। चन्द्रगुप्त घटना स्थल पर पहुंच कर फिलिप्स की गर्दन पकड़ कर दबा देता है और क्षमा मांगने पर उसे मुक्त करता है। वह चीता से कल्याणी की रक्षा करता है।

चन्द्रगुप्त केवल योद्धा और आत्माभिमानी वीर ही नहीं है। उसके व्यक्तित्व का कोमल पक्ष भी है। बाह्य जीवन के संघर्ष में तो वह सर्वत्र विजयी हुआ है। बाहर से यही ज्ञात होता है कि उसके जीवन में पूर्ण संतोष और आनन्द है—पर उसका अंतर खोखला है उसके हृदय में अशांति है। उसे अन्तर की भूख मिटने का अवसर नहीं प्राप्त होता है। उसे अपनी स्थिति पर खीझ है। उसका मन ऊब सा गया है। उसे किसी अन्तरंग का अभाव खल रहा है। कोई ऐसा अन्तरंग नहीं है जिसके समक्ष वह अपना हृदय खोल सके। मालविका से चन्द्रगुप्त अपने मनोगत भावों को इस प्रकार व्यक्त करता है 'संघर्ष। युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वन्द्व। कोई कमी नहीं, फिर भी जाने कोई मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।' वह अपने को दरिद्र समझ रहा है। मालविका की हत्या से चन्द्रगुप्त अधीर और व्यथित होकर सहसा कह उठता है परन्तु मालविका। आह, वह स्वर्गीय कुसुम।' जिसे चन्द्रगुप्त ने कर्तव्य के अनुरोध से कल्याणी के प्रणय निवेदन को कभी अनसुनी कर कहा था 'राजकुमारी समय नहीं' वही आज की स्थिति में अपने को अभाव-ग्रस्त तथा दुखी अनुभव कर रहा है। साधारण मनुष्यों के समान उसके हृदय में कभी दुर्बलता का भाव भी आ जाता है। वह मधुर गीत सुनने के लिए अधीर हो

उठना है। चन्द्रगुप्त के मालविका से कहे ये शब्द–'मन मधुप से भी चचल, और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है' उसकी सुकुमार भावनाओं का द्योतक है।

तृतीय अंक मे कार्नेलिया से हुए वार्तालाप मे चन्द्रगुप्त के हृदय की कोमल भावनायें मुखर हो उठती हैं। उनकी अभिलाषा है कि कार्नेलिया उसे स्मरण रक्खे। कार्नेलिया यह विश्वास दिलाती है कि मैं पुन लौटकर भारत आऊगी। चन्द्रगुप्त प्रश्न के रूप मे कहता है 'उस समय भी मुझे भूलने की चेष्टा करोगी ?' कार्नेलिया के साथ चन्द्रगुप्त का प्रणय-विकास बहुत ही वैज्ञानिक और सयमित रूप से हुआ है। नाटककार ने चन्द्रगुप्त के चरित्र के इस मानवीय पक्ष को विकसित होने के लिए बहुत अवसर नही दिया है।

चन्द्रगुप्त मे शील,कृतज्ञता और न्याय परायणता के तत्व पर्याप्त मात्रा मैं वर्तमान हैं। आर्य चाणक्य के प्रति उसमे भक्ति और श्रद्धा का भाव है। उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना चन्द्रगुप्त अपना पवित्र धर्म समझता है। चाणक्य की हत्या का अपराध उसके पिता ने किया है। इस अवसर पर वह अद्भुत न्याय-प्रियता और कृतज्ञता का परिचय देता है। चाणक्य के यह कहने पर कि पिता और गुरु के बीच न्याय की रक्षा करना और अपराधी को दण्डित करना बहुत कठिन होता है, चन्द्रगुप्त अपने पिता से कहता है–'पिता जी, राज्य-व्यवस्था आप जानते होंगे-वध के लिए प्राण दण्ड होता है और आपने गुरुदेव का–इस आर्य-साम्राज्य के निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण का–वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है।' इस प्रसग से यह प्रमाणित होता है कि चन्द्रगुप्त वीर योद्धा के साथ एक निष्पक्ष न्याय कर्त्ता है, वह दृढता पूर्वक न्याय की बलिवेदी पर कुछ भी त्याग सकता है।

चन्द्रगुप्त ने सबके प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है। सिल्यूकस ने उसकी सिंह से रक्षा की थी। उसके आभार को स्वीकार करते हुए वह कहता है–'भारतीय कृतघ्न नही होते।' वह स्वीकार करता है कि कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है। चन्द्रगुप्त का सिल्यूकस से अन्तिम सघर्ष होता है उसके पहले चन्द्रगुप्त ने–इच्छा व्यक्त की है कि अतिथि की सी अभ्यर्थना करने मे उसे विशेष प्रसन्नता होती पर छात्र धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिए उसे युद्ध करना पडेगा। युद्ध मे घायल सिल्यूकस को सुरक्षित स्थान पर पहुचाकर चन्द्रगुप्त कृतज्ञता और उदारता का परिचय देता है। मालव के युद्ध मे भी चन्द्रगुप्त ने कृतज्ञता के ऋण से उऋण होने के लिये ही सिल्यूकस को सुरक्षित मार्ग दिया था।

अतिथि सत्कार और कृतज्ञता दोनो का ही भारतीय सस्कृति मे बहुत महत्व है। चन्द्रगुप्त ने इन दोनो का निर्वाह बड़ी सफलता से किया है।

चन्द्रगुप्त छात्र तेज से विभूषित एक स्वावलम्बी, वीर योद्धा और आत्म-सम्मान की भावना से पूर्ण युवक है। उसमें कर्त्तव्य–परायणता और अपने उद्देश्य

को पूरा करने की पूर्ण क्षमता है। निष्ठा और कष्ट सहिष्णुता आदि जो किसी को लक्ष्य तक पहुचने मे सहायक होते हैं, चन्द्रगुप्त में पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। चाणक्य का सर्व ग्रासी व्यक्तित्व चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व की गरिमा और उसके कृतित्व को निगल नही सका है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त के चरित्र मे अन्तर्द्वन्द्व के विकास के लिए यथोचित अवसर नही मिल सका है। उसके चरित्र म पूर्णत एकरसता तो नही हैं- पर इतना अवश्य है कि स्कन्द के समान चन्द्रगुप्त की अन्तर्वृत्तियो के विश्लेषण का अवसर इस नाटक मे नही मिल सका है।





नाट्य-शिल्प का सामान्य विवेचन सैद्धान्तिक भूमिका



नाट्य-शिल्प के विवेचन से हमारा अभिप्राय वस्तु और शिल्प की सीमायें तथा उसमे परस्पर सम्बन्ध और सतुलन स्थापित करने से है। दोनो के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा है, जो वस्तु और शिल्प के अस्तित्व को पृथक करती है, पर यह विचारणीय है कि दोनो मे पार्थक्य रहते हुए भी एक सफल नाटककार अपनी कृति मे किस प्रकार अपने जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करता है तथा वस्तु और शिल्प दोनों की सीमायें सुरक्षित रखते हुए किस प्रकार उनको अपनी रचना मे स्थान देता है।

वस्तु पक्ष से हमारा तात्पर्य मानव गतिविधि तथा मानवीय स्थितियों मे है। मानवीय समस्याओ का चित्रण तथा उनका समाधान वस्तु से सम्बन्ध है। मानवीय समस्याओ मे सामाजिक और राष्ट्रीय परिवेश, तत्कालीन अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो से उत्पन्न विविध प्रश्न व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित होते हैं। वह अनुकूल स्थितियो मे अपने जीवन को विभिन्न दृष्टिकोण से देखता है और उस पर विचार करता है। प्रतिकूल अवस्थाओ मे व्यक्ति को सामाजिक और वैयक्तिक स्वार्थों और हितो की सुरक्षा के लिए सघर्ष करना पडता है। इस समय उनके सम्मुख भिन्न प्रकार के प्रश्न उपस्थित होते हैं। व्यक्ति और समाज के लिये यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। ऐसी विरोधी स्थितियो तथा जीवन मे आये हुए आरोह अवरोह से मानव जीवन का विकास हुआ है। वस्तु की सीमा मे इन सभी अवस्थाओ का समावेश होता है। पाश्चात्य और प्राच्य जीवन में मूलतः साम्य होते हुए भी प्राकृतिक और जीवन दृष्टि की विषमताओ के कारण दोनो के जीवन मे भिन्नता है। अतः नाटकों मे आए कथानक का स्वरूप भी भिन्न है। जीवन दर्शन और अनुभवो की भिन्नता के कारण नाट्य-साहित्य के उद्देश्य मे अन्तर आ गया है। लोकरजन की भावना प्रमुख रखते हुए भी पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र मे दुखान्त रचनायें श्रेष्ठ मानी जाती हैं, जब प्राच्य नाट्य-साहित्य का सुखान्त होना आवश्यक माना गया है।

शिल्प का सम्बन्ध रचना प्रकार से है। कथानक के विभिन्न अवयवो और उसमे आए हुए विचारो और सघर्षों मे सामजस्य स्थापित करना शिल्प विधान के अन्दर आता है। कथानक, चरित्र-चित्रण, सगीत और दृश्यो का विधान इस प्रकार होना चाहिए कि उनमे परस्पर सगुम्फन और सुसघटन हो। नाट्य शिल्प पर पाश्चात्य और प्राच्य विचारको ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। प्राच्य लक्षण ग्रन्थो मे नाटक का लक्ष्य रस-निष्पत्ति मानकर कथानक के सगठन और उसे प्रभावोत्पादक सम्पन्न करने के लिए शिल्प का विधान किया गया है, जबकि पश्चिम मे अरिस्टाटल ने वस्तु को प्रमुख स्थान दिया और उसी के अनुसार कथानक के विभिन्न अगो के सगठन और उसकी रचना पर विचार किया तथा मध्य कालीन स्वच्छन्दतावादी नाटककार शेक्सपियर ने चरित्र-चित्रण की प्रमुखता स्वीकार कर नाटको की रचना की, जिसमे अरिस्टाटल के शिल्प विधान की पूर्णत उपेक्षा की गई है। यह होते हुए भी अरिस्टाटल ने शिल्प सम्बन्धी जिन नियमो का विधान किया, उनपर ध्यान देना आवश्यक है। नाटक के कथानक को अरिस्टाटल ने एक पूर्ण इकाई के रूप मे स्वीकार किया है, तथा अवयवो के सगठन के विषय मे उसकी धारणा है कि नाटक के अगों का सगठन इस प्रकार होना चाहिए कि उनमे से एक भी अग इधर उधर न हो सके। यदि एक अग अपने स्थान से तनिक भी इधर उधर हो तो समस्त कथानक छिन्न भिन्न हो जाय। कथानक के किसी अग के इधर उधर होने से वस्तु मे यदि कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं पड़ता है तो वह पूर्ण इकाई का स्वाभाविक अग नही हो सकता।

सामान्यत अक और दृश्य के नाम से सम्पूर्ण नाटक का विभाजन होता है। प्रत्येक अक अपने आरम्भ, मध्य और अन्त की दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी सम्पूर्ण का अग होता है। नाटककार का कार्य है कि प्रत्येक अक मे केवल कलात्मक अन्विति ही न स्थापित करे, बल्कि वह अक की नियोजना इस प्रकार करे जिससे कि अक पूर्ण नाटक-शरीर का अवयव सिद्ध हो। वह सम्वादो द्वारा ऐसा सकेत और झुकाव प्रस्तुत करे कि एक अक का पहले अक से तत्क्षण सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

चरित्र चित्रण यद्यपि कथानक का अग है, किन्तु चरित्रो के सघटन मे औचित्य और सौन्दर्य का विधान शिल्पगत वैशिष्ट्य के अन्दर आता है। चरित्रो के विकास मे उनकी मूल प्रवृत्तियो का ही परिस्थितियो और दृश्यों की सहायता से चित्रण होना चाहिए। नाटक मे पात्रों की योग्यता और महत्व के अनुसार उनके कार्यों और सम्वादो का नियोजन आवश्यक होता है। यदि अप्रमुख पात्र को अधिक अवकाश मिलता है और प्रमुख पात्र को उसकी योग्यता और स्थिति के अनुसार अवसर नही मिलता तथा प्रमुख चरित्र के मूलगत सस्कारो को उभरने के लिए उचित वातावरण नहीं मिलता है तो चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यह अनुचित है।

नारी चरित्रो के चित्रण मे भी इस औचित्य का निर्वाह अपेक्षित है, अन्यथा असगति के द्वारा चरित्रो का पूर्ण विकास नाटकीय सीमा को ध्यान मे रखते हुए नही हो सकेगा। पात्रो के स्वभाव मे परिवर्तन भी सहसा नही होना चाहिए। सहसा परिवर्तन से नाटक म अस्वाभाविकता की सृष्टि होती है। साथ ही यह परिवर्तन भी मूल-गत सस्कारो के अनुकूल ही होना चाहिए।

चरित्र-शिल्प मे आज के नाटककार के लिये यह आवश्यक है कि वह पात्रो के बाह्य स्वरूप को ही केवल चित्रित न करे बल्कि उसके अन्तर्मन को उद्घाटित करने का प्रयत्न करे। विरोधी परिस्थितियो और जीवन की विषमताओ के कारण पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण पर ही नाटक का चरित्र-चित्रण सफल सिद्ध होगा। प्रसाद के नाटको मे दोनो ही प्रकार के पात्र उपलब्ध होते हैं। चन्द्रगुप्त के चरित्र मे अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप विकसित नही हो सका है, उसके चरित्र मे आरोह तथा अवरोह के लिए पूर्ण अवसर नही प्राप्त हुआ है, जैसा स्कन्दगुप्त के चरित्र मे हुआ है। नारी पात्रो के चरित्र चित्रण मे प्रसाद के चरित्र शिल्प का उत्कृष्टतम रूप उपलब्ध होता है। विरोधी गुण धर्म वाले पात्रो की सृष्टि कर प्रसाद ने उनके चरित्र के विविध पक्षो का उद्घाटन किया है। कोमलता और भावनाओ की प्रतिमा देवसेना जैसे चरित्रो के साथ कठोर और चचल पात्रो की सृष्टि कर प्रसाद ने चरित्र शिल्प की उत्कृष्टता का परिचय दिया है। नाट्य शिल्प की दृष्टि से प्रसाद का चरित्र चित्रण इनके नाटको मे प्रसाद वस्तु के सुव्यवस्थित सघटन की ओर सम्यक् ध्यान नही दे सके हैं। उनके कथानक का आयाम विस्तृत है। अरिस्टाटल ने नैतिक व्यापार की महत्ता पर बहुत बल दिया है। उसने चरित्र के औचित्य का निर्वाह प्रभावोत्पादक होना आवश्यक बतलाया है।[1] कथानक के निर्माण और चरित्र चित्रण दोनो मे ही उसने आवश्यकता अथवा सम्भाव्यता के नियम को आवश्यक स्वीकार किया है। पात्रो के आधिक्य के कारण कथा वस्तु की ग्राह्यता कठिन हो गई है। प्रसाद के वृहदाकार नाटको पर यह आक्षेप उचित जान पडता है।

कथानक के आयाम पर विचार करते हुए अरिस्टाटल ने लिखा है कि कथानक का सौन्दर्य व्यवस्था और आयाम पर निर्भर करता है—उनके अनुसार कथानक मे एक निश्चित विस्तार आवश्यक होता है जो सरलता से स्मृति मे धारण किया जा सके।

कथानक को इतना सूक्ष्म भी नही होना चाहिए जिसका बिम्ब स्मृति मे न हो सके, और न तो उसका आकार इतना वृहद होना चाहिये जिसे स्मृति मे धारण न किया जा सके। इसलिये अरिस्टाटल ने नाटक के कथानक मे केवल आधिकारिक कथा को ही स्वीकार किया है। नाटक के आयाम और व्यवस्था के

---

१ अरिस्टाटल्स पोंएटिक्स, पेज ५५

साथ सभी अगो की स्पष्टता आवश्यक है। यदि नायक एक है और उसके अनेक कार्यों का अव्यवस्थित और विस्तृत रूप अनुकरण का विषय होता है तो भी नाटक का कथानक सुगठित नहीं हो सकेगा। अत अरिस्टाटल ने एक सर्वांगपूर्ण काय क अनुकरण पर बल दिया है जिसमे सभी अगो को सुगुम्फित रूप म प्रस्तुत किया जा सके।

इस प्रसग मे अरिस्टाटल ने समय पर विचार करते हुए लिखा है कि ट्रेजिडी को जहा तक सम्भव है सूय की एक परिक्रमा या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है, जबकि महाकाव्य के समय के लिये कोई बन्धन नही है।

इस वाक्य को लेकर यूरोप के नाटय शास्त्र मे भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। किसी ने दुखा त नाटक मे ब रह घटो के काय को उपयुक्त माना है तो दूसरे ने चौबीस घटे के काय को स्वीकार किया है। यद्यपि दुखा त नाटक मे भी महाकाव्य की तरह समय की स्वतन्त्रता थी।

इसलिये अरिस्टाटल ने कथानक के आयाम मे काय विस्तार को ही प्रमुख तत्व स्वीकार किया है।समय को आधार मानकर कथानक की सीमा निर्धारित नही की है।

नाटक की भाषा पर विचार व्यक्त करते हुए अरिस्टाटल ने यह स्वीकार किया है कि भाषा अलकृत होनी चाहिए। लय सामजस्य और गीत की स्थिति को उसने नाटक की भाषा का अनिवाय तत्व स्वीकार किया है। उसने भाषा का उदात्त स्वरूप तो स्वीकार किया है, पर उसमे वागाडम्बर का विधान नही है।

गीत' को अरिस्टाटल ने आभरण के रूप म स्वीकार किया है। यूनानी नाटको के समूह गान मे गीत मूल कथानक के स्वतन्त्र रूप म प्रयुक्त होता था। गीत के विषय म उसका मत है कि उसे नाटक का अभिन्न अग बनकर आना चाहिए। रग विधान के विषय मे अरिस्टाटल का मत है कि दृश्य विधान का सम्ब ध मूलत मच शिल्पी से है। इससे स्वतन्त्र भी दुखा त नाटको का प्रभाव अनुभूति का विषय होता है। दृश्य विधान नाटक के मूल प्रभाव के लिए अनिवाय नही है। रग-कौशल स काव्य के आकषण म वृद्धि होती है पर रग विधान—जिसका सम्ब ध शिल्प से है, काव्य कला का विभिन्न अग नही हो सकता है।

प्रगीतात्मक तत्व यूरोपीय नाटको मे प्रारम्भ स ही किसी न किसी रूप म उपलब्ध होते हैं। यूनानी नाटको का तो आरम्भ ही गीत से हुआ है। इग्लैंड मे भी नाटक का मूल धार्मिक सगीतो मे निहित है। एलिजाबेथ काल मे शेक्सपियर ने अतुका त छन्दो म प्रगीत तत्व को सुरक्षित रखा है। इसके आरम्भ कालीन नाटको म प्रगीत के प्रति अधिक अनुराग दिखलाई पडता है। बाद म श्रेष्ठ दुखा त कृतियो

मे अतुकान्त छन्दो की सीमा मे भाषा को उसने जीवन के समीप लाने का प्रयत्न किया है।

दुखान्त नाटको मे सम्वेदनशीलता का आधिक्य होता है। मानव की सघन सम्वेदना को जागृत करने की क्षमता दुखान्त नाटको मे जितनी होती है, उतनी क्षमता बौद्धिकता को जागृत करने की नही। सम्वेगो को अभिव्यक्त करने के लिये लय युक्त छन्द सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक माध्यम है, यह प्राचीन काल से भिन्न जातियों के उदाहरणो से सिद्ध हो चुका है।

स्वच्छन्दतावादी कलाकार मे भावना और कल्पना की प्रमुखता रहती है। वह मानवीय सम्वेदना को उद्‌बुद्ध करने के लिये अपनी रचनाओ मे प्रगीत का प्रयोग करता है। प्रसाद के नाटको मे गीतो का जहा प्रयोग हुआ है, वहा कवि की अशेष तन्मयता तथा भावाकुलता की अभिव्यक्ति हुई है। उनके गीत प्राय समय और वातावरण के अनुकूल हैं। यौवन और प्रणय की उन्मगन्ध और अनुभूति पूर्ण प्रेमिका का मुक्त सलाप इनके प्रगीतो और गद्य गीतो मे व्यक्त हुआ है। भावावेश मे प्रसाद का कवि रूप कही-कही अधिक प्रबल हो उठा है, इसलिये नाटकीय मर्यादा का यत्र तत्र उल्लघन भी हुआ है। प्रसाद जैसे कवि नाटककार के लिये यह स्थिति स्वाभाविक है। नाट्य-शिल्प के स्थिर नियमो मे बधना स्वच्छन्दतावादी नाटककार के लिए सम्भव नही है। समग्र रूप मे यदि प्रसाद के नाटको म गीतो की योजना पर विचार किया जायेगा तो उनके गीत नाट्य साहित्य मे सम्मान के अधिकारी हैं। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' मे आये हुए किंचित गीतो को यदि नाटको से पृथक कर दिया जाय तो वे छायावादी साहित्य की अमर रचना प्रमाणित होगे। कुछ गीत तो रहस्यवादी प्रवृत्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। युद्ध की भीषणता की उपेक्षा कर देवसेना द्वारा गाया हुआ यह गीत—'भरा नैनो मे मन मे रूप, किसी छलिया का अमल अनूप', इसका प्रमाण है। छलिया अखिल ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है, उसकी सुधि मे विभोर प्राणी के लिये ससार की कोई भी शक्ति विचलित नही कर सकती, युद्ध तो एक साधारण बात है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि गीतो का प्रयोग मानवीय सवेगो को उद्‌बुद्ध करने के लिए सदा से होता आया है। कालिदास जैसे विश्व विख्यात नाटककारो ने भी मार्मिक भावो को व्यक्त करने के लिए प्रगीतात्मक तत्वो को स्वीकार किया है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे अनेक स्थलो पर इसके दृष्टान्त उपलब्ध होते है। प्रसाद के गीतो द्वारा कथानक की गति तथा कार्य मे जो कही कही शिथिलता आती है, उसकी पूर्ति भावों की मार्मिकता तथा तन्मयता से हो जाती है।

भारतीय नाट्य साहित्य का साध्य रस की सिद्धि है। रस की निष्पत्ति के लिए नाट्य-साहित्य के वस्तु और शिल्प पक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है। भरत मुनि के

नाट्य शास्त्र से प्रारम्भ कर नाट्य शास्त्र पर अनेक आचार्यों ने नाटक के विविध अगो का पर्याप्त विश्लेषण और व्याख्या की है। पाश्चात्य नाट्य साहित्य मे कथानक और चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया गया है जबकि आरम्भ से भारतीय आचार्यों ने काव्य और नाटक मे रस-निष्पत्ति को ही प्रमुखता दी है। रस की सीमा इतनी व्यापक है कि उसके अन्दर कथानक और चरित्र-चित्रण सबका समावेश हो जाता है। वस्तु, नेता, रस और अभिनय मे सभी तत्वो का समावेश हो जाता है जो नाटक के लिए अनिवार्य है।

नाट्य-शास्त्र मे कथा वस्तु के सगठन तथा पात्रो की योग्यता, उनकी स्थिति और कार्य पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। कार्यावस्थायें, अर्थ प्रकृतिया और सन्धियो के विधान द्वारा कथा-वस्तु के सघटन और भिन्न-भिन्न अगो के यथा-स्थान रखने की व्यवस्था की गई है। रगमच के निर्माण और उसकी साज सज्जा का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् सर्व प्रथम सूत्रधार आता है जो नाटककार की भावानुभूति को रगमच पर भौतिक प्रदर्शनो द्वारा अवतरित करने का प्रस्ताव करता है।

आंगिक, वाचिक, अश्राव्य, नियतश्राव्य, अहार्य और सात्विक अभिनय के भेद हैं। किन्तु देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अभिनय के साधनो और रूपों में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। आजकल वैज्ञानिक साधनो के विकास के कारण अनेक अर्थों और स्थितियों का प्रदर्शन सरल हो गया है इसलिए उनके सकेतात्मक साधनो की आवश्यकता अब नही रह गई है। जनान्तिक, अपवारित और आकाश भाषित का प्रयोग आजकल अनावश्यक हो गया है। उन्नत रगमच तथा वैज्ञानिक साधनो के द्वारा इनको प्रकट किया जा सकता है।

एलिजावेथ-काल मे रगमच के अविकसित होने तथा दृश्यों के प्रदर्शन की व्यवस्था न होने के कारण विस्तृत विवरण और सूचना की आवश्यकता होती थी, पर आधुनिक प्रेक्षागृहो मे इस प्रकार के प्रदर्शन की समुचित व्यवस्था के कारण इस प्रकार का वर्णन सर्वथा अनावश्यक हो गया है। मच पर वैज्ञानिक साधनो के द्वारा ऐसे दृश्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि जिनमे कार्यों का पर्याप्त ज्ञान प्रेक्षकों को प्राप्त हो जाय।

कथानक के सगठन पर पाश्चात्य और प्राच्य नाट्य शास्त्रो मे समान रूप से विचार किया गया है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण तथा लक्ष्य की भिन्नता के कारण कथानक के नियोजन सम्बन्धी नियमो मे अन्तर आ गया है। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटको मे सघर्ष और द्वन्द्व को प्रमुखता प्राप्त है तथा दुखान्त नाटक श्रेष्ठ समझे जाते हैं। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र मे निरूपित पाँच अवस्थाओ और भारतीय नाट्य शास्त्र की कार्यावस्थाओ मे भेद होते हुए भी बहुत कुछ साम्य है। वहा एक्सपोजीशन आरम्भ की अवस्था है जिसका प्रारम्भ सघर्ष से होता है।

यह संघर्ष दो विरोधी आदर्शों, सिद्धान्तों अथवा उद्देश्यों का होता है। इसमें नायक और प्रतिनायक इस संघर्ष के आधार बन जाते हैं। भारतीय शास्त्र के अनुसार आरम्भावस्था में कथानक का आरम्भ होता है और फल की इच्छा जागृत होती है।

इन्सीडेन्ट—कथानक के विकास की दूसरी अवस्था है। इसमें पात्रों अथवा आदर्शों का संघर्ष एक निश्चित सीमा तक गतिशील होता है। चरित्रों के अन्तर्द्वंद्व का विकास होता है। प्रयत्न नामक कार्यावस्था से इसमें साम्य है।

क्राइसिस—संघर्ष की सीमा यहाँ चरमावस्था को पहुंच जाती है। चरित्रों और आदर्शों के संघर्ष में किसी एक पक्ष की विजय प्रारम्भ होती है। प्राप्त्याशा में फल प्राप्ति की आशा होती है। प्रयत्न के बाद प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था का विधान स्वाभाविक हो जाता है।

डिनोमा—यहाँ संघर्ष क्षीण हो जाता है। दो पक्षों में कोई एक दुर्बल हो जाता है। यह उतार की स्थिति है, जहाँ विजय पक्ष की विजय निश्चित हो जाती है। इसमें और नियताप्ति में समानता है, किन्तु इसकी अपेक्षा नियताप्ति में प्राप्त्याशा का अधिक निश्चित और स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख आता है।

कैटेस्ट्राफी—यह अन्तिम कार्यावस्था है, जहाँ समस्त संघर्ष समाप्त हो जाता है। फलागम की अवस्था से साम्य होते हुए भी नाटक के प्रति सामान्य धारणाओं में मतभेद होने के कारण, इसमें भेद हो जाता है। पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार ट्रेजिडी का दुखान्त होना आवश्यक है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार नायक को संघर्ष करना पड़ सकता है, पर संघर्ष और बाधाओं को अतिक्रमण करना भी उसके लिए आवश्यक है। नायक को इच्छित फल की प्राप्ति होती है, पर पाश्चात्य नाटक में सर्वनाश की अन्तिम अवस्था है। फलागम का स्वर्ण प्रदेश निश्चित है, यही कारण है कि भारतीय नाटकों में कुतूहल और जिज्ञासा के लिए स्थान रहते हुए भी पाश्चात्य नाटकों के समान संघर्ष का विकास नहीं हो पाता है। उद्देश्य में भिन्नता होने पर भी दोनों की कार्यावस्थाओं में साम्य है।

आज की परिवर्तित सामाजिक और वैचारिक स्थिति में नाटककारों में प्राचीन नियमों के प्रति उपेक्षा का भाव पाया जाता है। अतः सभी कार्यावस्थायें और अर्थ प्रकृतियों को ध्यान में रखकर नाटकों की रचना नहीं होती है। वस्तुतः ये तीनों नाटक की तीन स्थितियों से सम्बद्ध हैं। अर्थ प्रकृतियों का सम्बन्ध यथा-वस्तु की विभिन्न वस्तु स्थितियों से है। यूरोपीय नाट्य साहित्य में वस्तु के विभाजन में आदि, मध्य और अन्त के समान इसका सम्बन्ध कथानक के संगठन से है। वस्तु का यह विभाजन रचनात्मक भूमिका को स्पर्श करता है। बीज से आरम्भ होकर कार्य तक वस्तु के प्रत्येक अंग के संघठन पर ध्यान केंद्रित किया गया है। इसलिए

पताका और प्रकरी कथाओं की स्थिति की नियोजना और उनकी सीमाओं का निर्धारण भली भांति किया गया है। पताका, प्रासंगिक कथा का भेद है, इसके नायक का पृथक महत्व नहीं, वह मूल कथा को ही अपने कार्यों द्वारा विकसित करता है। प्रकरी का प्रयोजन मूल कथा का सौन्दर्यवर्धन है। 'जिस प्रकार मनुष्य की आकृति और उसके अंगों की संगति होने पर उसका सौन्दर्य निखरता है, उसी प्रकार अर्थ प्रकृति की संगति पर नाटक में सम्यक् आकर्षण आता है।'[1] कार्यावस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों में सामञ्जस्य स्थापित होता है और नाटक की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि होती है। इस प्रकार के नियमों के आधार पर हिन्दी नाटकों में नाटककार का ध्यान जिज्ञासा को द्वन्द्व की भूमि पर चरम सीमा तक पहुंचाने में ही केन्द्रित रहता है। इसका कारण यह है कि नाटककार के पास समय सीमित है, घटना प्रवाह की तीव्रता से नाटक में भावना की गम्भीरता पैदा होती है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में संघर्ष के चरम विकास के बिना भी आशा और निराशापूर्ण स्थितियां उत्पन्न कर फल की प्राप्ति का विधान किया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि फलागम के निश्चित रहने के कारण कौतूहल और जिज्ञासा के विकास के लिए यहां पूर्ण अवकाश नहीं मिला है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इसके उदाहरण में प्रस्तुत किया जा सकता है।

वस्तु योजना और चरित्रों के विकास के बाद शिल्प का प्रमुख सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है और यह अभिनय का आधार है। प्रेक्षक और पाठक तक कवि अथवा नाटककार के भावों को पहुंचाने के लिए भाषा प्रमुख माध्यम है, ऐसे तो भावों को व्यक्त करने में अभिनय भी सहायक होता है। कथोपकथन के विविध रूपों में नाटककार भाषा के द्वारा अपने विचारों और भावों को व्यक्त करता है। आजकल प्रकृतिवादी नाटकों में भाषा को दैनिक जीवन के समीप लाने के लिए चेष्टा की जा रही है। पर सामान्य भाषा में अनुभूति की गम्भीरता और काव्यात्मकता का समावेश कहां तक हो सकेगा? यह कहना कठिन है। नाटक की भाषा सामान्य जन साधारण की भाषा की अपेक्षा निश्चय रूप से अधिक कलात्मक होगी, जिसमें भावाभिव्यक्ति की रागात्मक क्षमता हो।

प्राचीन काल में पाश्चात्य और प्राच्य दोनों देशों में ही कथोपकथन सम्बन्धी सामान्य स्थिति है। भावात्मक पद्य का प्रयोग कथा वस्तु के विकास में स्थल विशेषों पर हुआ है। अन्तर्द्वन्द्व को प्रेक्षकों के सम्मुख लाने के लिए 'स्वगत' का प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य नाटकों में नियत श्राव्य का प्रयोग सामयिक विचारों और परिस्थिति की सूचना देने के लिए होता था। आकाशभाषित का प्रयोग प्राचीन नाटकों में विशेषतया होता था। अदृश्य पात्र से इसके द्वारा रंगमंच स्थित पात्र बात करता था। कभी कभी एक ही पात्र स्वयं प्रश्न करता और उत्तर

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १२९

भी स्वयं दे देता था। पर्दे के भीतर से घटनाओं और कार्यों की सूचना देने की प्रथा समान रूप से प्रचलित थी। आज के नाटकों में इनका प्रयोग बहुत ही कम होता है, क्योंकि इससे अस्वाभाविकता की सृष्टि होती है।

नाटकों के प्रभाव और उद्देश्य को जीवन की विस्तृत भूमिका पर चित्रित करने की प्रथा प्राचीन काल में उसी प्रकार थी, जैसी आज है। पर परिस्थितियों और सामाजिक दशाओं के परिवर्तन के कारण आज के नाटकों में जीवन के यथार्थ को चित्रित करने की प्रवृत्ति बलवती हो रही है। प्राचीन काल में आदर्शों की ओर अधिक ध्यान रहता था, यही कारण है कि नाटकों का नायक धीरोदात्त होता था, जिसका चरित्र सामाजिकों के सम्मुख आदर्श और शिक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करता था। यूरोपीय नाटकों में आदर्शवादी प्रवृत्ति तो उस प्रकार बलवती नहीं थी, पर नायक का महत्व निश्चित रूप से स्वीकृत था। जिस प्रकार यूरोपीय नायकों को स्वाभाविक दुर्बलता और उनकी भूलों का दुष्परिणाम जीवन में भुगतना पड़ता था, *भारतीय नायकों के सामने वैसी स्थिति नहीं आती थी।* पाश्चात्य नाटकों में नायक राज-परिवार अथवा सामन्ती परम्परा से युक्त होते थे—भारतीय नायक भी कुलीन और इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति होते थे, पर पाश्चात्य नायक को सर्वथा निर्दोष नहीं होना चाहिए। वह किसी न किसी स्वभाव दोष या निर्णय में भूल करने के कारण दुर्भाग्य का शिकार बनता था। भारतीय नाट्य शास्त्र में नायक का विधान इससे प्रशस्त भूमिका पर हुआ है। इसमें किसी स्वभाव दोष और निर्णय करने में भूल का विधान नहीं है, इसका कारण यह है कि यहाँ नाटकों का अन्त आनन्द और फलागम में होता है। इसलिए नायक के चार भेदों में किसी के लिए भी यह आवश्यक नहीं कि उसके स्वभाव में कोई मूलभूत दुर्बलता हो। केवल धीरोद्धत नायक उग्र, अहंकारी और आत्म-श्लाघा युक्त होता है। गौण पात्र अथवा प्रतिनायकों में ही ऐसे चरित्र उपलब्ध होते हैं, जिनकी पराजय द्वारा सत और आदर्श की विजय दिखलाई जाती थी। शिल्प का सम्बन्ध नायक और प्रतिनायक तथा अन्य पात्रों की योग्यता और महत्ता को ध्यान में रखते हुए उनके नियोजन और यथास्थान संघटन में है।

नाट्य शिल्प के सामान्य विवेचन के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि वस्तु और शिल्प में किसकी श्रेष्ठता पर नाट्य-कृति का श्रेष्ठ होना आधारित है। वस्तु और शिल्प दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। नाटककार किसी पूर्व निर्धारित शिल्प-विधि को ध्यान में रखे बिना भी यदि नाटकों की रचना करता है तो निश्चय ही वह किसी न किसी प्रकार वस्तु के नियोजन में तथा कथानक, संवाद और गीत की संघटना में शिल्प का आश्रय लेगा। परम्परागत शास्त्रीय नियमों के प्रति हिन्दी के आरम्भ काल से ही नाट्य रचना में उपेक्षा का भाव दिखाई पड़ता है। शास्त्रीय नियमों की जटिलता तथा पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटकों के प्रभाव के

कारण हिन्दी नाटकों का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। वस्तु की श्रेष्ठता को नाटककारों ने प्रमुख स्थान दिया है।

वस्तु और शिल्प में सामंजस्य स्थापित होने पर ही श्रेष्ठ नाटकों की रचना सम्भव है। शिल्प पर ही यदि नाटककार अपना ध्यान केन्द्रित करता है और वस्तु का, पूर्णत देश और काल की आशा आकाक्षाओं की उपेक्षा कर, चयन करता है, तो ऐसी कृतियां साधारण कोटि की होंगी। वे नाटक के लक्ष्य और उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति से वंचित रहेगी। इसके विपरीत यदि वस्तु पुष्ट है, और नाटक की सीमाओं को ध्यान में रखकर नाटककार अपनी कृति प्रस्तुत करता है तो वह रचना सफल सिद्ध होगी। उसके द्वारा एक आदर्श की स्थापना सम्भव हो सकेगी और वह जन मानस को रंजित तथा आत्म-विभोर करने में सफल होगा। जिस प्रकार कवि की जीवनानुभूति की गहराई और व्यापकता के कारण उसकी काव्य-वस्तु में गरिमा और स्थायित्व आता है, और इसके साथ यदि शिल्प पक्ष भी समुचित रहे, तो उस काव्य का सौन्दर्य और अधिक निखर उठेगा। उसी प्रकार नाटकीय कृतियों में सौन्दर्य की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसके बाह्य और अन्तर में सन्तुलन स्थापित हो। बाह्य सौदर्य का सम्बन्ध शिल्प से है, नाटक के प्रत्येक अवयव के उचित सघटन और नियोजन से है। अन्तर से हमारा अभिप्राय कथा-वस्तु से है।

प्रसाद के नाटक वस्तु गौरव के निदर्शन हैं। नाटकों का कथानक, चरित्र चित्रण तथा उसमें आये दार्शनिक विचार नाट्य-साहित्य की अमर विभूति हैं। वृहदाकार नाटकों की कथा वस्तु में विस्तार के कारण उनमें शिथिलता आ गई है किन्तु उन नाटकों का काव्यत्व और दार्शनिक गाम्भीर्य सर्वदा सम्मान का अधिकारी रहेगा।

१

कला की दृष्टि से कथानक की विशिष्टता की परीक्षा

नाटक मे कथानक के संगठन तथा उसकी शिल्पगत विशेषताओ के अध्ययन के लिये प्राच्य और पाश्चात्य लक्षण ग्रन्थों मे भिन्न-भिन्न नियमो और तत्वो पर विस्तृत विवेचन हुआ है। जीवन दर्शन और प्राकृतिक स्थिति मे अन्तर होने के कारण प्राच्य और पाश्चात्य कला-विवेचन के सिद्धान्तों और विचारो मे बहुत कुछ साम्य रहते हुये भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है। जीवन गति-शील है, उसमें परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन आवश्यक है, इसलिये कला-विवेचन के सिद्धान्तो मे परिवर्तन और विकास की सम्भावना सदा बनी रहेगी। शताब्दियों पूर्व नाट्य शास्त्र के नियम निर्धारित हुए। उन्ही लक्षणों को ध्यान मे रखकर सहस्रो वर्ष पश्चात भी नाट्य साहित्य पर विचार और विवेचन करना अनुपयुक्त है। पश्चिमी नाट्य-शास्त्र मे अरिस्टाटल ने वस्तु को जो प्राधान्य दिया था तथा काल और स्थान की अन्विति की जिस प्रकार आवश्यकता पर बल दिया था—उनके निर्वाह पर पुनर्जागरण काल के कलाकारो ने ध्यान नही दिया साथ ही अमर साहित्य की रचना की। चरित्र-चित्रण और शील-वैचित्र्य के निरूपण को अरिस्टाटल ने गौण स्थान दिया था, सत्रहवीं शताब्दी के नाटककारो ने उसे प्रधानता दी और जीवन के विविध पक्षों और चरित्रो का उद्घाटन किया।

प्राच्य साहित्य-शास्त्र मे नाट्य-नियमो की नियोजना विस्तृत पीठिका पर की गयी है तथा उसका बडी सूक्ष्मता और विस्तार के साथ भरत मुनि ने विवेचन किया है। किन्तु उन लक्षणों को ही आधार मानकर बीसवी शताब्दी मे सभी नाटककारों की कृतियो को परखना उचित नही होगा। प्रसाद के नाट्य-साहित्य की शिल्पगत विशेषताओ के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि प्राचीन निर्धारित लक्षणों को ध्यान मे रखते हुये स्वतन्त्र रूप से उन पर विचार किया जाय तथा उनका विश्लेषण हो। प्रसाद के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और रोमैण्टिक नाटको

की अपनी विशेषतायें हैं—जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।[1] उन विशेषताओं के अध्ययन के लिये स्वतन्त्र मानदण्ड की आवश्यकता है जिसके आधार पर उन्हें परखा जाय।

भारतीय नाट्य-शास्त्र में वस्तु, नेता और रस नाटक के प्रमुख तत्व माने गये हैं। इन्हीं को आधार मानकर नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग दस भेद किये गये हैं। रूपक और उपरूपकों का विभाजन इसी आधार पर किया गया है। इनमें विशेष प्रकार की वस्तु, विशेष प्रकार का नेता और रस का विधान है। उदाहरण के लिये 'प्रकरण' का नायक धीर शान्त होता है, नाटक की कथा-वस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है तथा अंक में करुण रस की प्रधानता होती है। वस्तु, नेता और रस में परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है—एक के उत्कृष्ट रहने पर दूसरा भी श्रेष्ठ रहेगा। वस्तु यदि नाटकीय गुणों से युक्त है और उद्देश्य की पूर्ति करती है तो नायक, प्रधान पात्र और रस की स्थिति भी बहुत दूर तक स्पष्ट होगी।

वस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक कथा (मेन प्लाट) और प्रासंगिक (सब-प्लाट)। प्रमुख वस्तु को आधिकारिक तथा गौण कथानक को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथा का उद्देश्य आधिकारिक कथा की सौन्दर्य वृद्धि करना और मूल कार्य व्यापार में सहायता देना है। रूपक के प्रधान फल के स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति योग्यता को अधिकार कहते हैं और उस प्रधान फल को प्राप्त करने वाला अधिकारी है। अधिकारी की कथा आधिकारिक वस्तु कही जाती है। प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं।

आधिकारिक और प्रासंगिक दोनों प्रकार के वृत्त प्रख्यात—इतिहास प्रसिद्ध, उत्पाद्य, कल्पित तथा मिश्र हो सकते हैं। संस्कृत नाटकों में प्रायः प्रख्यात और मिश्र वस्तु का प्रयोग किया गया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक की वस्तु इतिहास प्रसिद्ध है यद्यपि उसमें मिश्र का तत्व भी वर्तमान है। उत्तर-रामचरित और मालती माधव में क्रमशः मिश्र और उत्पाद्य वस्तु का प्रयोग हुआ है। प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं-पताका और प्रकरी। सानुबन्ध अर्थात् साथ चलने वाली कथा को पताका तथा बीच में कुछ समय के बाद समाप्त होने वाली कथा को प्रकरी कहते हैं। प्रासंगिक कथा वस्तु में प्रवाह तथा रोचकता लाने के उद्देश्य से पताका स्थानक का प्रयोग होता है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र में वस्तु-संघटन तथा उसकी प्रभावान्विति को ध्यान में रखकर वस्तु के पांच विभाग किए गए हैं। इसे अर्थ प्रकृति की संज्ञा दी गई है। ये हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। बीज और कार्य वस्तु की दो सीमायें

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशंकर प्रसाद, पृ० १२०।

है। कार्य तक पहुचने मे विघ्न और व्याघात की समावना रहती है। जिस प्रकार किसी वृक्ष का बीज बो देने और फल प्राप्ति तक विघ्नो का भय बना रहता है। दोनो के मध्य की स्थिति को विन्दु, पताका और प्रकरी कहते हैं। विन्दु समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को आगे बढाता है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखता है।

प्रत्येक रूपक म कार्य या व्यापार-शृखला की पाच अवस्थायें होती है। उनके नाम हैं—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम। फल की प्राप्ति के लिए जो उत्सुकता होती है उसे आरम्भ तथा उसके लिए शीघ्रता से किये गए उद्योग को प्रयत्न कहते है। प्राप्त्याशा में फल प्राप्ति की समावना रहती है, साथ ही विफलता का भय बना रहता है। नियताप्ति मे फल प्राप्ति का निश्चय होता है तथा फलागम मे उद्देश्य की सिद्धि तथा सभी अभीप्सित फलो की प्राप्ति हो जाती है। नाटक मे फलागम अवस्था तथा अर्थ प्रकृति कार्य समानान्तर रहते हैं। अन्य चार अवस्थाओ और चार अर्थ प्रकृतियो का सामानान्तर होना आवश्यक नही है। साधारणत. सुगठित कथानक से युक्त रूपको मे प्राप्त्याशा अवस्था का विधान मध्य में होना चाहिए। नाटक का पूर्वार्ध आरम्भ और प्रयत्न तथा उत्तरार्ध नियताप्ति तथा फलागम में प्रयुक्त किया जाता है।

पाचो अर्थप्रकृतिया और अवस्थायें नाटकीयगति के भिन्न भिन्न परिवर्तनो से उदय होती है। जहा कथानक एक सीमा को पहुच कर दूसरी ओर मुडता है तथा जो दर्शको को सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है—वह स्थल सन्धि के नाम से अभिहित होता है। सन्धि के उचित नियोजन से कथानक का सौंदर्य बढ जाता है। सन्धिया पाच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसहृति या निर्वहण। मुख सन्धि मे आरम्भ अवस्था और बीज अर्थ प्रकृति का सयोग होकर अनेक अर्थ रस व्यजित होते हैं। जहा बीज का अकुर रूप म कुछ लक्ष्य और अलक्ष्यरीति से उद्भेद होना है अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी प्रगट होता है, वहाँ प्रतिमुख सन्धि होती है।

गर्भ सन्धि म किंचित प्रकाशित हुए बीज का बराबर आविर्भाव तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस सन्धि मे प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति रहती है। गर्भ सन्धि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर तथा उसके फलोन्मुख होने की अवस्था म जब शाप, क्रोध तथा विपत्ति के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं तो अवमर्श सन्धि होती है। इसमे नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ प्रकृति होती है। निर्वहण सन्धि मे प्रधान प्रयोजन के लिए समाहार होता है। नाट्य-शास्त्र मे इन सधियो के अगो और सन्ध्यतरो का विधान विस्तृत रूप से किया गया है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र मे दुखान्त का विधान नही है । फल प्राप्ति अथवा फलागम प्रत्येक नाटक का कार्य होने के कारण नाटक का पर्यवसान सुख मे ही होगा। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र कामेडी को उपहास प्रधान हीनकोटि की रचना मानता है। भारतीय दृष्टि मे रस-परिपाक मे बाधक वस्तुओ का रगमच पर प्रदर्शन निषिद्ध माना गया है । देश और समाज की मान्यता के अनुसार जो चेष्टा घृणित, लज्जाजनक अश्लील और वीभत्स है, तथा जिनका रग मच पर प्रदर्शन कष्ट साध्य है और जिनसे लोक मगल की अपेक्षा अमगल की सभावना है, उनको मच पर उपस्थित करने की सम्मति शास्त्र नही देता है । दूर का मार्ग, युद्ध, वध, राजविप्लव, स्नान आदि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन तथा प्रधान नायक का वध निषिद्ध माना गया है । भारतीय मान्यता के विरुद्ध पाश्चात्य नाटकों मे वध, हत्या और युद्ध आदि दृश्यों का प्रदर्शन शास्त्र सम्मत माना गया है । आधुनिक काल के नाटककारो म जिसका सुव्यवस्थित रूप भारतेन्दु से आरम्भ होता है—शास्त्रीय नियमो के निर्वाह मे उपेक्षा का भाव दिखलाई पड़ता है । जीवन मे मृत्यु और युद्ध की स्थिति की सत्यता सिद्ध है, अत इनकी सर्वथा उपेक्षा भी नही की जा सकती । इसलिए भारतीय नाट्य शास्त्र विष्कम्भक, प्रवेशक चूलिका, अकास्य और अकावतार के द्वारा इनकी सूचना का विधान करता है ।

वस्तु के विस्तृत विवेचन के पश्चात नेता और रस पर विचार किया गया है । नेता के चार भेद स्वीकृत हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। धीरोदात्त नायक शक्तिशाली गम्भीर, दृढ और निरभिमानी होता है । धीरोद्धत मे दर्प, मात्सर्य, छल, प्रपच और विकत्थना आदि दुर्गुण वर्तमान रहते हैं । धीरललित कलानुरागी, सुखाभिलाषी, और मृदु स्वभाव का होता है । धीर प्रशान्त नायक विनयादि गुणो से युक्त ब्राह्मण या वैश्य कुलोत्पन्न होता है । नाटको के विषय के अनुकूल नायक का निर्वाचन होता था । नायक का प्रतिद्वन्दी प्रतिनायक तथा उसका सखा पीठमर्द, विट या विदूषक होता है । प्रसाद ने अपने नाटको म विदूषक का प्रयोग किया है ।

नायक की भाँति नायिका के भी अनेक भेद उपभेद किए गये हैं । स्वकीया, परकीया और सामान्या ये तीन प्रकार की नायिकायें हैं । पुन अवस्था के अनुसार तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढा । प्रकृति गुण और कर्म के अनुसार नायिका भेद का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

वस्तु और नायक के सक्षिप्त विवरण के बाद रस का, जो दृश्य काव्य का महत्वपूर्ण अग है, और नाट्य साहित्य का उद्देश्य है, विवेचन किया गया है ।

विभाव, अनुभाव और सचारी भाव के योग से रस की सिद्धि होती है। इसे काव्य की आत्मा कहा गया है । काव्य के सहृदय पाठक को लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि होती है । इस अवस्था मे वह समस्त जगत की बाह्य स्थितियो से अपने को

पृथक कर काव्यानन्द में तल्लीन होता है। स्थायी भाव जो अन्य विरोधी भावों से प्रबल होता है तथा दूसरे भावो को आत्मसात कर लेता है—रस में परिणत होता है इस दशा मे द्वन्द का अभाव रहता है। रस निष्पत्ति से नाटक की प्रभावान्विति पूर्ण होती है।

रंगमच की साज सज्जा, उसके आकार प्रकार के निर्माण के विषय मे भरत ने नाट्य शास्त्र मे विस्तृत विवेचन किया है। नान्दी पाठ के अनन्तर सूत्रधार देव, ब्राह्मण और राजा की स्तुति करता था। स्थापक अपनी स्त्री से बातचीत के स्वरूप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नाटक या नाटककार का परिचय देता था--जिसे प्रस्तावना कहते हैं। इसके बाद नाटक प्रारम्भ होता था। संस्कृत साहित्य मे भी इन सभी नियमो का पालन पूर्णता से बहुत कम हुआ है। सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास और भवभूति ने अपनी अमर नाट्य-कृतियो मे शास्त्रीय-विधान का पालन करने मे उपेक्षा का भाव दिखलाया है। यही कारण है कि इन कृतियो मे जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। शास्त्रीय नियमो की जटिलता से आबद्ध कलाकार के लिए जीवन के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन कठिन हो जाता है।

पाश्चात्य

पश्चिमी नाट्य-साहित्य और शास्त्र की उत्स भूमि यूनान है। नाट्य-साहित्य की पर्याप्त रचना के बाद अरिस्टाटल ने उनका विवेचन किया। उन्होंने नाटक के दो विभाग ट्रेजेडी और कामेडी किये हैं। इन दोनो में उन्होंने दुखान्त नाटक को बहुत महत्व प्रदान किया है तथा उसे उत्तम कोटि की रचना स्वीकार की है। उनके अनुसार दुखान्त नाटक उस व्यापार विशेष का अनुकरण है—जिसमे गाम्भीर्य तथा पूर्णता रहती है, जिसका एक निश्चित आयाम होता है तथा वह प्रत्येक प्रकार की कलात्मक तथा अलकृत भाषा छन्द, लय और गीत से युक्त होता है। वह वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक होता है। इसका उद्देश्य है करुणा और भय के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित सुधार और परिष्कार करना। अरिस्टाटल ने दुखान्त नाटक के छ तत्व स्वीकार किए हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, वर्णनशैली, विचार, दृश्य, और गीत। इनमे से प्रथम दो तो अनुकरण के साधन हैं, तीसरा अनुकरण का ढंग और अतिम तीन अनुकरण के आधार हैं। नाट्य-शास्त्र के निर्माण-काल तक जो नाट्य-कृतियां निर्मित हुई थी उनके आधार पर नियमो का विधान हुआ। दुखान्त का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है कथानक, इसमे व्यक्तियो का नहीं वरन् जीवन और कार्य का अनुकरण होता है। कार्य-व्यापार ही जीवन है अत· इसमे जीवन के सुख-दुख का अनुसरण होता है। चरित्र-चित्रण का स्थान कथानक के बाद आता है। अरस्तू के अनुसार बिना कार्य-व्यापार के ट्रेजडी का होना असम्भव है-पर चरित्र-चित्रण को छोड कर भी उसका निर्माण हो सकता है। घटनाओं के कलात्मक गुम्फन से दुखान्त नाटक जितना प्रभावोत्पादक होता है, वैसा परिष्कृत वर्णनशैली,

विचार-युक्त तथा चारित्र्य-व्यंजक भाषण से प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडी में भावात्मक आनन्द देने के अतिरिक्त सबसे प्रबल तत्व परिवर्तन तथा अभिज्ञान के दृश्य कथानक के ही अंग हैं।

अरिस्टाटल ने कथा-वस्तु को दुखान्त नाटकों की आत्मा माना है, और उसे प्रथम स्थान दिया है। चरित्र-चित्रण को यूनानी नाट्य-शास्त्र में द्वितीय स्थान प्राप्त है। कथानक को किसी चित्र की रूप-रेखा के समान वे प्रथम स्थान देते हैं तथा आकर्षक रंग योजना को द्वितीय।

इस क्रम से तीसरा स्थान विचार का है। विचार से उनका तात्पर्य उपस्थित परिस्थितियों में सम्भव और संगत कहने की योग्यता से है। इसके बाद वे वर्णनशैली, दृश्य और गीत को स्थान देते हैं। संवाद और चरित्र के नियोजन का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। चरित्र का अभिप्राय नैतिक उद्देश्य प्रगट करना है। जिस संवाद से यह प्रगट होता है कि मनुष्य किसे पसन्द करता है और किसे त्याग करता है, वे संवाद चरित्र व्यंजक होते हैं। जिस संवाद से यह उद्देश्य पूरा नहीं होता, उसे वे संवाद की कोटि में नहीं रखते। दूसरी बात यह है कि विचार वहां प्राप्त होते हैं जहां किसी बात को प्रमाणित किया जाय या खण्डन किया जाय, अथवा किसी व्यापक सिद्धान्त का निर्णय हो। सौन्दर्यवर्धक उपकरणों में गीत प्रमुख है।

कथानक के दो भेद हैं—सरल और जटिल। सरल कथा वस्तु में कार्य सुसम्बद्ध होता है। इसमें नायक के भाग्य का परिणाम बिना आकस्मिक परिवर्तन तथा अभिज्ञान के होता है। किसी प्रकार की द्विधा से रहित एक ही घटना परिणाम तक आगे बढ़ती है। जटिल कथानक में व्यापार सरल नहीं होता है। उसमें घटनायें सहसा परिवर्तित होती हैं अथवा अभिज्ञान द्वारा उसकी परिणति होती है। विपरीत घटनायें तथा अभिज्ञान, जटिल कथानक की दो भीतरी दिशायें हैं। उदाहरण स्वरूप उत्तर रामचरित मानस में लव और कुश को पहचान लेने के बाद एक भयंकर युद्ध स्थगित हो जाता है तथा बहुत ही मार्मिक तथा हृदय को स्पर्श करने वाला दृश्य दर्शकों के सामने आता है। प्रत्येक ट्रेजेडी में पीड़ा या कष्ट का दृश्य रहना आवश्यक है। इस प्रकार के दृश्य में कोई साघातिक घटना जैसे मृत्यु, शारीरिक कष्ट या वेदना के दृश्य दिखलाये जाते हैं।

कथानक के तीन भाग आदि, मध्य और अन्त होते हैं। आदि का अभिप्राय है कि कथानक का आरम्भ किसी पूर्ववर्ती घटना की अपेक्षा न रखता हो। आरम्भ की घटनायें अपने आप में पूर्ण होती हैं और वहां से कथानक में घटनाओं की श्रृंखला होती है। इसके विपरीत अन्त वह है जिसके पूर्व घटनाओं की श्रृंखला जुड़ी रहती है तथा उसके बाद किसी घटना की अपेक्षा नहीं रहती है। अन्त स्वयं परिणाम होता है। मध्य वह है जिसके पहले तथा बाद में घटनायें जुड़ी रहती हैं।

अरिस्टाटल ने वस्तु गठन के चार तत्व स्वीकार किए हैं—प्रस्तावना, उपसंहार, उपाख्यान और समूह गान। प्रस्तावना ट्रेजिडी का वह महत्वपूर्ण भाग है, जो गायक वृन्द के पूर्व गान से पहले रहता है। यह भारतीय नाट्य की प्रस्तावना के ढंग का होता था। उपसंहार नाटक वह समग्र भाग है जिसके बाद कोई समूह गान नहीं होता था। दो समूह गानों के बीच के अंश को उपाख्यान कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम अंक या उपसंहार को छोड़कर प्रत्येक अंक के आरम्भ और अन्त में समूह गान होता था। कार्य की प्रत्येक स्थिति में विचारशील दर्शकों के मन पर उन घटनाओं द्वारा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को संगठित करना और उनकी परीक्षा करना कोरस का काम था। कोरस से दर्शकों के भाराक्रान्त मस्तिष्क को कुछ क्षण के लिए विश्राम मिल जाता था। ट्रेजिडी के अन्त में वह समग्र वस्तु के निश्चय और प्रभाव का निर्णय था।

यूनानी ट्रेजिडी में सर्व प्रमुख तत्व अन्वितित्रय का सिद्धान्त है। कार्य, स्थान और समय की एकान्विति पर विस्तार से विवेचन हुआ है। तीनों अन्विति के कारण कथानक की एक ईकाई होनी है तथा वह बोध गम्य होता है, और उसमें प्रासंगिक कथा के लिए अवकाश नहीं रहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसमें एक ही व्यक्ति की कथा रहती है। एक व्यक्ति की कथा में भी कार्य की अनेकता के कारण अन्विति का अभाव हो सकता है। कथानक के ऐक्य का अभिप्राय कार्य की एकता से है। कथानक का केन्द्र ऐसा कार्य-व्यापार होना चाहिए कि एक के अलग हो जाने से समस्त कथानक विश्रृंखलित हो जाय। सभी घटनायें आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध से परस्पर गुंथी होनी चाहिए। अरिस्टाटल ने केवल कार्य की एकता पर ही बल दिया है। समय ऐक्य अथवा एक दिन की घटना की चर्चा काव्य शास्त्र के केवल एक पैराग्राफ में ही की गयी है। महाकाव्य और नाटक के भेद की चर्चा के समय यह प्रश्न उठाया गया है। किसी नियम निर्धारण की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख भर किया गया है। सोफोक्लीज का त्राचिनी और यूरोपीडिज का सप्लाइसेज समय नियम के उल्लंघन के उदाहरण हैं। स्थान ऐक्य की रक्षा यूनानी साहित्य में भी प्रमुखतः सुखान्त नाटकों में नहीं हो पाई है, तथा ट्रेजिडी में भी इस नियम के अपवाद प्राप्त होते हैं। रंगमंच की सुविधा को ध्यान में रखकर ही स्थान की एकता का प्रश्न उठाया गया था।

यूरोप के रेस्टोरेशन और पुनर्जागरण काल में वहाँ के साहित्य में बड़े बड़े परिवर्तन हुये हैं। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का विकास होने के कारण शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा आरम्भ हुई। मनुष्य के हृदय गत भावों की स्वच्छन्दता पूर्वक व्यक्त करने की प्रवृत्ति बलवती हुई। काव्य केवल बाह्य विधि विधान और अलंकारों तक ही सीमित न होकर अन्तर्मन के विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ। इस प्रवृत्ति का चरम उत्कर्ष एलिजाबेथ काल में हुआ। शेक्सपियर के नाटकों में अन्वितित्रय का नियम छिन्न-भिन्न हुआ। कार्य ऐक्य का बन्धन भी शिथिल हो गया। ट्रेजिडी

उत्तम कोटि की तथा कमेडी हीन रचना मानी जाती थी जिसमे उपहास तत्व भी प्रमुखता थी। इस धारणा में भी आमूल परिवर्तन हुआ। दोनो को मिलाकर मिश्र रचनायें हुई, जिसका नाम ट्रेजि-कमेडी पडा। कमेडी मे जीवन चित्रण के साथ उसका अन्त हर्ष तथा प्रसन्नता मे होता था। हास्य-प्रमुख रचनाओ की अलग कोटियां बन गई। ट्रेजिडी म भी उसकी वेदनापूर्ण गम्भीरता को कम करने के लिए प्रहसन युक्त प्रसगो का समावेश हुआ। समूह गान धीरे धीरे समाप्त हो गया।

आधुनिक काल के नाटक प्राचीन नियमो की रूढिबद्धता से पृथक स्वच्छन्द गति से विकसित हुए हैं। आजकल वस्तु का आरम्भ ही सघर्ष स्थल से होता है। कथानक जटिल न होकर सरल होता है। सामाजिक नाटक लिखने की प्रवृत्ति आजकल बलवती हो चली है। प्राचीन काल मे प्राच्य और पाश्चात्य नाटको मे प्रख्यात वस्तु ही गृहीत होती थी। आज की नाट्य कला मे भावो और विचारो की प्रमुखता रहती है।

प्रसाद के नाटको को, प्राच्य, पाश्चात्य किन्ही शास्त्रीय नियमो को आधार मानकर उन्ही के अनुसार परखना और उस पर विचार करना उचित नहीं होगा। शास्त्रीय नियम, जिसका निर्माण शताब्दियो पूर्व हुआ, अपने स्थान पर स्थिर हैं पर कला और जीवन सतत विकास शील तत्व है। अत इन परिवर्तित परिस्थितियों और वातावरण को प्रभावित करने वाले साहित्य पर नये सिरे से विचार तथा उसका मूल्यांकन करना उचित होगा। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के अन्वितित्रय के सिद्धान्त को प्रसाद के सभी नाटको मे ढूढना अनुचित है। उसके ऐतिहासिक नाटक समय और स्थान की विस्तृत भूमिका पर सास्कृतिक और राष्ट्रीय सघर्षों को प्रस्तुत करते हैं। ये सभी नाटक पात्र बहुल हैं। पाश्चात्य नाट्य साहित्य के शील वैविध्य के निरूपण से वे प्रभावित अवश्य जान पडते है। पर प्राच्य नाट्य शास्त्रमे भी चरित्र चित्रण के लिए पूरा अवकाश प्राप्त होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य नाटको का नायक विपरीत परिस्थितियो से घिर जाता है और विजय प्राप्त करने के लिए उनसे सघर्ष करता है उस प्रकार की स्थिति भारतीय नाटकों के नायक की नही है। प्राच्य नायक के सम्मुख एक विशेष कार्य रहता है—उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न करता है और फलागम तक पहुचता है, उसे सघर्ष करना पड सकता है। पर यह निश्चित नहीं है कि उसे सघर्ष करना ही पडे। इस कारण उसके सम्मुख चरम की स्थिति नही आती। प्रसाद ने अपने नाटको में पात्रों को पूर्णता की स्थिति तक पहुचाने का प्रयत्न किया है—उसकी वस्तु शिथिलता का एक यह भी कारण है।

प्रसाद ने भिन्न भिन्न आकार के नाटक लिखे हैं। कुछ छोटे नाटक हैं जिनका कथानक छोटा है तथा पात्र कम हैं तथा इनमे जीवन की विविध परिस्थितियो और आवश्यकताओं का चित्रण विस्तृत भूमिका पर नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए

राज्यश्री, विशाख और ध्रुवस्वामिनी लघु नाटक हैं। जनमेजय का नागयज्ञ पौराणिक नाटक है। 'कामना' तथा 'एक घूट' दो प्रतीक नाटक हैं। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त तीन बड़े नाटक हैं। दोनों प्रकार के नाटको की परीक्षा के लिए एक प्रकार का मापदण्ड अनुचित होगा।

'राज्यश्री' का कथानक घटनाओ की बहुलता से बोझिल हो उठा है। कथावस्तु को विकसित तथा नये सिरे से उसके सगठन पर प्रसाद ने आरम्भ से ही ध्यान दिया है। 'राज्यश्री' के प्रथम सस्करण की अपेक्षा द्वितीय सस्करण परिवर्तित और परिवर्धित है। प्रथम सस्करण का कथानक वही समाप्त हो जाता है जहा राज्यश्री चिता मे भस्म होने को उद्यत हो रही है। प्रथम मे तीन ही अक थे, द्वितीय सस्करण मे चार अक हो गये हैं तथा दृश्यो की सख्या मे भी वृद्धि हुई है। प्रथम अक मे दो दृश्य जोडकर दोनो अको मे सात-सात दृश्य कर दिये गये हैं। शान्ति भिक्षु और सुरमा के लिए प्रथम सस्करण मे स्थान नही था। सुएनच्वाग से सम्बद्ध घटनायें भी बाद मे जोडी गयी हैं। द्वितीय सस्करण मे राज्यवर्धन की षड्यन्त्र द्वारा हत्या कराने वाला नरेन्द्र गुप्त चौथे अक मे सन्धि के लिए प्रार्थना करता है—पर प्रथम सस्करण मे हर्ष के सैनिक द्वारा उसकी हत्या हुई थी। नरेन्द्र का वध इतिहास समर्थित न होने के कारण सम्भवत प्रसाद जी ने द्वितीय सस्करण मे स्थान नही दिया। ऐतिहासिक नाटको मे वस्तु का स्वरूप निर्णीत होने के कारण नाटककार को उसे अपने साचे मे ढालने मे कठिनाई होती है। यह कठिनाई कल्पित कथानक मे नही होती। कवि को पूर्ण स्वाधीनता रहती है कि अपने कथानक को जिस साचे मे चाहे, ढाल सकता है। वह किसी पात्र को अपनी इच्छित वस्तु के अनुकूल मोड सकता है। ऐतिहासिक नाटकों मे ऐसा अवसर उसे नही मिलता है। ऐतिहासिक वस्तु मे नाटककार यदि इतिहास की ओर ध्यान देते हुए कल्पित पात्रो और घटनाओ की योजना करता है तो छोटे नाटक की कथा वस्तु घटनाओ के भार से दब जाती है।

'राज्यश्री' मे प्रत्यक्ष रूप से घटित होने की अपेक्षा सूचना के द्वारा हमे अधिक घटनाओं का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष घटने वाली घटनाओं मे देवगुप्त ग्रहवर्मा के विरुद्ध कान्यकुब्ज मे युद्ध की तैयारी करता है और युद्ध करते हुए मरता है। राजवर्धन और नरेन्द्रगुप्त के बीच मैत्री की चर्चा होती है। राज्यश्री बन्दी बनाई जाती है और वह दस्युओ के साथ बन्दीगृह से प्रस्थान करती है। सती होने के प्रयत्न मे वह लगी हुई है—वही हर्ष का आगमन होता है। पुलकेशिन और हर्ष मे मैत्री स्थापित होती है। सुएनच्वाग की बलि देने की चेष्टा और अन्त मे सभी दुष्ट पात्रो का हृदय परिवर्तन आदि कार्य प्रत्यक्ष होते हैं।

जिन घटनाओ की सूचना तो हमे मिलती है, पर यह ज्ञात नही होता कि उनका कार्य-कारण सम्बन्ध क्या है? उसमे ये प्रमुख हैं—प्रभाकर वर्धन की मृत्यु,

हूणों को पराजित करने के लिए राजवर्धन की यात्रा की सूचना देवगुप्त के चरों से मिलती है। ग्रहवर्मा की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए राज्यवर्धन का देवगुप्त पर आक्रमण की सूचना दस्युओं की बातचीत से मिलती है। गौड नरेश नरेन्द्रगुप्त शशांक की राज्यवर्धन से मैत्री की इच्छा और षडयन्त्र द्वारा उसकी हत्या का संदेश विकटघोष और सुरमा की बातचीत से मिलता है। हर्ष और पुलकेशिन के युद्ध की चर्चा रेवातट पर दिवाकर मित्र करते हैं।

प्रथम संस्करण में नान्दी पाठ है, दूसरे में नहीं है। क्रमशः शास्त्रीय नियम जिनका सम्बन्ध कथा वस्तु के गठन और कार्य की अवस्थाओं से है, की उपेक्षा का भाव दिखलाई पड़ता है। छोटे नाटक में नाटककार को कथा-वस्तु के संभालने में कम कठिनाई होती है। प्रसाद का यह प्रथम नाटक है—जिसमें कथानक का विभाजन अंकों में हुआ है।

आकस्मिक और अप्राकृतिक घटनाओं के नियोजन से कथावस्तु में अस्वाभाविकता तथा शिथिलता का समावेश हुआ है। कुछ पात्र तो नाटक में थोड़ी देर के बाद सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। देवगुप्त, नरेन्द्रगुप्त और राजवर्धन कुछ समय के लिए ही नाटक में आते हैं। देवगुप्त की युद्ध में मृत्यु होती है। युद्ध और मृत्यु के दृश्य शास्त्र वर्जित होते हुए भी यहां दिखलाए गए हैं। नरेन्द्रगुप्त षडयन्त्र के द्वारा राज्यवर्धन की हत्या के बाद केवल अन्त में ही, सन्धि प्रार्थी के रूप में प्रगट होता है। सुएनच्वांग अन्तिम दृश्यों में आता है। सुरमा और शान्तिभिक्षुक को लेकर कथानक सुगठित रूप से कुछ दूर तक चलता है—जो कल्पित पात्र हैं। राज्यश्री का चरित्र चित्रण इस रूपक का उद्देश्य है—पर घटनाओं और पात्रों के बाहुल्य के कारण उसके चरित्र का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

जीवन चित्र को सामने रखकर कथानक का परीक्षण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सुएनच्वांग और राज्यश्री की शान्ति तथा उदारता का प्रभाव सभी पात्रों को अभिभूत कर देता है। क्रूरतम शान्तिभिक्षु भी काषाय ग्रहण करता है, तथा सुरमा क्षमा-याचना करती है। संसार की विपत्तियों और कोलाहल से हटकर सभी त्याग और क्षमा को अपना धर्म स्वीकार करते हैं। हर्ष लोक-सेवा के उद्देश्य से राज्य स्वीकार करता है। नाटककार ने सभी कार्यों का एक में समाहार करने की चेष्टा की है। एक समन्वित प्रभाव की सृष्टि हुई है, फिर भी ज्ञात होता है कि नाटककार ने प्रयत्न पूर्वक ऐसा किया है। अन्त सर्वथा स्वाभाविक नहीं हो पाया है। फिर भी उद्देश्य की दृष्टि से कथानक का संगठन समीचीन कहा जायेगा।

कुतूहल और जिज्ञासा की वृद्धि में शान्ति भिक्षु और सुरमा का योगदान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उनके कार्यों में नाटकीयता है। कथानक घटनाओं से

बोझिल होते हुए भी अभिनेय है। यह प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक लघुनाटक है, जिसमे नाटककार की नाट्य-कला की विकासोन्मुखता का परिचय हमे प्राप्त होता है।

विशाख

'विशाख' का कथानक सरल है। एक सामान्य प्रणय-कहानी को प्राचीन नाम और तत्कालीन स्थिति के साधारण चित्रण के साथ प्रस्तुत किया गया है। नरदेव क्रूर और अत्याचारी राजा है। विशाख और चन्द्रलेखा के शुद्ध और सात्विक प्रणय मे नरदेव राजसत्ता के बल पर विघ्न डालना चाहता है। चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिए वह घृणित साधनों का प्रयोग करता है। अन्त मे वह असफल होता है। इस कथावस्तु के केन्द्र म चन्द्रलेखा है। विशाख मे नायकोचित गाभीर्य और व्यवहार कुशलता का अभाव है—पर वह निर्भीक है, इसलिए कथा-वस्तु के विकास के साथ वह व्यवहार कुशल भी हो जाता है। प्रेमानन्द की उपस्थिति से, जो कल्पित पात्र है, तथा जिसके कारण नाटक मे सामयिक तत्वो का समावेश हुआ है—भयकर नर-सहार रुक जाता है। उसकी उपस्थिति से राजा के प्राण बचते हैं तथा राजकुमार की रक्षा होती है। विशाख की वस्तु योजना मे अवरोह का अभाव है। पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व के विकास के लिए कम अवसर मिलता है। मत्री और विदूषक को एक कर देना भी असगत जान पडता है।

जीवन के मार्मिक पक्ष का चित्रण प्रेमानन्द के माध्यम से हुआ है। क्षमा और करुणा को आधार मानकर कर्त्तव्य करने की प्रेरणा उनसे मिलती है। गाधी की भूमिका मे स्थित होकर प्रेमानन्द ने राजनैतिक प्रश्नों का समाधान सत्य और अहिंसा के द्वारा किया है। कथा-वस्तु इतनी सरल है कि अनभिनेयता की कठिनाई का प्रश्न ही नही उठता है।

ध्रुवस्वामिनी

प्रसाद के लघु आकार के नाटको मे 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक बहुत सुगठित तथा नाटकीय तत्वो से युक्त है। सम्पूर्ण नाटक मे तीन अक है, प्रत्येक अक मे एक ही दृश्य है। प्रत्येक दृश्य में वस्तु का एक अश सुगुम्फित है। कथा का प्रवाह नाटकीय गति के साथ अन्त तक बना रहता है। नाटककार ने रगमच की सभी सुविधायें और अनुकूल परिस्थितियो पर ध्यान दिया है। वस्तु विकास के साथ जिज्ञासा का भाव अन्त तक बना रहता है। नाटककार ने नारी की ज्वलन्त समस्या को यथार्थ की भूमिका पर उपस्थित कर उसका समाधान भी बडी कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है। दुर्बल पति जो राष्ट्र और कुल-लक्ष्मी की मर्यादा रखने में सर्वथा असमर्थ है, वह नारी जो आत्म-मर्यादा और गौरव की रक्षा के लिए दृढ

प्रतिज्ञ है, पर उपहार रूप मे शत्रु को समर्पित की जा रही है, वह प्रेमी जो सशक्त और आत्म सम्मान की गरिमा से मण्डित है तथा जो कुल मर्यादा की रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं, इन सभी पात्रो की मानसिक स्थितियो का विश्लेषण, इतिहास की सीमा की रक्षा करते हुए प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी मे बडी सफलता के साथ किया है।

नाटक का आरम्भ और अन्त बडा ही कलात्मक है। प्रकृति की गोद मे शिविर के कोने से निकलती हुई ध्रुवस्वामिनी को, उन्नत पर्वत शिखर और उसके चरणो मे लिपटी लता को देखकर, पुरुष और नारी की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। एक ओर तो ऐसी दीन अवस्था और विवशता है फिर भी सारे विघ्नों और सकटो को पराजित कर ध्रुवस्वामिनी की विजय के साथ नाटक का अन्त होता है। वह चन्द्रगुप्त के साथ जो ध्रुवस्वामिनी वेष मे है, मृत्यु गह्वर मे सहास वदन, और दृढता के साथ प्रवेश करती है। प्रथम अक यही समाप्त हो जाता है। यह गतिशीलता द्वितीय अक म किंचित शिथिल पड जाती है। कोमा, मिहिरदेव और शकराज के सवाद स्वरूप स्थिति की सूचना मिलती है और विचार विमर्श होना है। द्वितीय अक शकराज का मृत्यु से समाप्त होता है।

तृतीय अक की घटनायें केवल गुप्त कुल से सम्बद्ध हैं—जिसमे रामगुप्त को अपने पापो का प्रायश्चित करना पडता है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का अन्तर्द्वन्द्व तथा उनकी चारित्रिक विशेषताओ को नाटककार ने सम्यक् रूप स प्रस्तुत किया है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र की कार्यावस्थाओ को ध्यान मे रखकर यद्यपि इस नाटक की रचना नही हुई है, फिर भी यहा सब कार्यावस्थायें प्राप्त होती है। आरम्भ अवस्था ध्रुवस्वामिनी की आत्मरक्षा के दृढ निश्चय से प्रारम्भ होती है। कुमार चन्द्रगुप्त के साथ जब शकराज के शिविर के लिए वह प्रस्थान करती है—वहा से प्रयत्न आरम्भ होता है। शकराज की मृत्यु से प्राप्त्याशा नामक अवस्था का प्रारम्भ होता है। चन्द्रगुप्त की इस घोषणा के साथ कि ध्रुवस्वामिनी मेरी है, प्राप्त की आशा निश्चय होती है। पुनर्विवाह के शास्त्रीय समर्थन और रामगुप्त की मृत्यु के बाद फल की प्राप्ति होती है।

रग निर्देश की पद्धति को नाटककार ने विस्तार पूर्वक यहा अपनाया है। वेष-भूषा, रगमच की साज-सज्जा और स्थिति परिचय के लिए इस नाटक मे पर्याप्त निर्देश दिया गया है। रगमच की सुविधाओ पर भी नाटककार ने ध्यान दिया है। प्रमुख पात्र कम हैं जिसके कारण कथा-प्रवाह मे कही व्यवधान नहीं होना है। जीवन के बहुत आवश्यक तथा प्राचीन प्रश्न का समाधान परम्परा-सम्मत ढग से हुआ है। अभिनेयता के कारण प्रसाद के लघु-नाटको मे 'ध्रुवस्वामिनी' श्रेष्ठ है।

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक का कथानक जटिल तथा बिखरा हुआ है। इसकी वस्तु प्रसाद ने 'महाभारत' में बिखरी हुई घटनाओं से संगृहीत की है। इस नाटक में ऐसी कोई घटना नहीं है जिसका सूत्र 'महाभारत' और 'हरिवंश' में नहीं है। घटनाओं की परम्परा ठीक करने के लिए नाटककार ने नाटकीय स्वतन्त्रता का उपयोग किया है। किन्तु इस नाटक में घटनाओं और कार्यों में आरोह और अवरोह, जिससे नाटक के कथानक में नाटकीयता तथा आकर्षण का समावेश होता है, प्राप्त नहीं होता।

'नाटककार को वस्तु निर्धारण करते समय पाठक या दर्शक की स्मरण शक्ति पर भी बहुत अधिक निर्भर न रहना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि उसकी वस्तु बहु घटना-संकुल न हो, और पात्रों की संख्या यथाशक्ति कम रहे। इसके लिए प्लाट को भी जहां तक हो सरल होना आवश्यक है।'[1]

इस नाटक में घटनाओं का आधिक्य है तथा पात्रों की बहुलता है। दोनों दृष्टियों से कथानक शिथिल है। नाटक का नायक 'जनमेजय' तीसरे दृश्य में सामने आता है। 'दामिनी' जैसे अनावश्यक चरित्रों की योजना की गई है। प्रत्येक अंक का आरम्भ और अन्त इस प्रकार के नीरस व्यापारों से होता है कि उसकी प्रभावोत्पादक शक्ति क्षीण हो जाती है। साध्य और साधन की रूपरेखा अन्त तक उलझी हुई रहती है। 'जहां श्रीकृष्ण आर्य-जीवन की व्याख्या अर्जुन के सामने उपस्थित करते हैं, वहां लम्बे-लम्बे प्रकरण हैं और दार्शनिकता भर गई है।'[2] कथानक की शिथिलता में ये विस्तृत व्याख्यायें भी कारण बन गई हैं।

जीवन के जिस महत्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन हुआ है—वह है जाति-प्रेम का भाव। जातीय स्वाभिमान और देश प्रेम के भावों को नाटककार ने कई स्थलों पर अभिव्यक्त किया है। नागपत्नी सरमा और उसके पुत्र माणवक दोनों को आर्यों ने अपमानित किया है। माणवक के स्वाभिमान को ठेस लगी है। वह मर्माहत होकर अपनी मां से कहता है-मां ! इन दम्भियों में कौन सी मनुष्यता है, जो तुम अपना राज्य छोड़कर इनसे तिरष्कृत होने के लिये आई हो ? अपना अपना ही है।

नागों और आर्यों में संघर्ष चल रहा था। नाग जाति पराजित तथा अपमानित हो रही थी—पर उसने पूर्णतः पराभव स्वीकार नहीं किया था। वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए, बलिदान को सदा प्रस्तुत रहते थे। नागों की उक्ति 'नाग मरना जानते हैं। अभी वे हीन पौरुष नहीं हुए हैं। जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति मरना जानती रहेगी, उसी को इस पृथ्वी पर

---

१ रामकृष्ण शिलीमुख - 'प्रसाद की नाट्य कला', पृ० ९४
२ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - 'जयशंकर प्रसाद', पृ० १५८

जीने का अधिकार रहेगा।' उनकी देशभक्ति की भावना का ज्वलन्त उद्घोष है। दो जातियो के संघर्ष को चित्रित करने के लिए नाटक उपयुक्त माध्यम नही है। क्योकि नाटक की अपनी सीमायें है। उपन्यास के समान सभी स्थितियों को स्पष्ट करने के लिए यहा अवकाश नही मिलता है।

अभिनेयता की दृष्टि से कथा वस्तु की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि लम्बे दार्शनिक सम्वाद मच के अनुपयुक्त हैं। मन्त्रबल से मनसा द्वारा प्रदर्शित खाण्डव-दाह, आदि दृश्यो का प्रदर्शन कठिन है। 'नाग यज्ञ' मे आकाश से गिरते हुए नागो का रगमच पर प्रदर्शन तथा अदृष्ट शक्ति द्वारा सासारिक कार्यो का नियमन आदि कार्य इसे और भी अनभिनेय बना देते हैं। पौराणिक वातावरण प्रस्तुत करना तथा जरत्कारु की मृगया विहार म हत्या का दृश्य प्रदर्शन करना कष्ट-साध्य है।

इसे मन्च पर लाने के लिए, नाटक मे आये हुए निरर्थक पात्रों और अनभिनेय दृश्यो को अलग करना होगा। इसके अनुकूल यदि रगमन्च का निर्माण हो और सुरुचिसम्पन्न प्रेक्षक समाज हो तो इसका अभिनय हो सकता है।

अजातशत्रु

अजातशत्रु की कथावस्तु अति जटिल है। सम सामयिक तीन तीन, चार-चार प्रधान राज्यो की घरेलू राजनीति और सकीर्णताओ [redacted] अतिरिक्त उनके पारस्परिक सम्बन्ध, कूटनीति, षडयन्त्र और सघर्ष के कारण पात्रो का बाहुल्य और स्थिति की सकुलता बहुत बढ गयी है। वस्तु निर्माण मे कार्य निर्दिष्ट रहता है। उस कार्य के लिए जिन-जिन घटनाओ की योजना की जाय उनका आपस मे नैसर्गिक सम्बन्ध होना चाहिए तथा प्रत्येक कार्य कथानक को गतिशील बनाने मे सहायक हो। इस नाटक मे कथानक का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति अथवा क्षेत्र से न होकर व्यक्ति समूह तथा कई स्थानो मे है। यही क रण है कि कथा-वस्तु सुगुम्फित नही हो पाई है। मूल कथानक यदि मगध कोशल की घटनाओ और कार्यो मे ही परिसीमित रहता तथा अजात और वाजिरा के विवाह के साथ समाप्त हो जाता तो वस्तु मे शिथिलता न आने पाती और कथानक सुगठित होता, पर ऐसा नही हो पाया है। इसमे भी कोशल की कथा मे जो वेग है प्रवाह और नाटकीयता है वह मगध की आधिकारिक कथा मे नही। प्रासगिक कथा मुख्य से अधिक बलवती हो गई है। कौशाम्बी मे पद्मावती का मागन्धी के षडयन्त्र के कारण अनादृत होना, तथा रहस्य खुलने पर पुन समादृत होना, अपने मे एक स्वतन्त्र घटना है जिसका सम्बन्ध प्रथम अक चौथे दृश्य मे जीवक के इस वाक्य से 'इसके पहले एक बार मेरा कौशाम्बी जाना आवश्यक है', स्थापित होता है। विरुद्धक के विद्रोह का पूरा कथानक से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नही है। नाटककार ने द्वितीय अक मे घटनाओ के समाहार का प्रयत्न किया है। कोशल और कौशाम्बी एक पक्ष मे तथा दूसरे पक्ष मे अजात और

विरुद्ध सगठित होने है। यह प्रयत्न तीसरे अक में पुन शिथिल हो जाता है। तृतीय अक मे स्वतन्त्र रूप से एक एक घटना का परिणाम दृष्टिगोचर होता है। मगध और कोसल का परिणाम अलग अलग दिखलाया गया है। प्रथम अक परस्पर के सम्वादों से पात्रों और घटनाओं का परिचय देता है—इस प्रकार सम्पूर्ण अक के परिचयात्मक होने से कार्य शिथिल हो जाता है। द्वितीय अक मे घटनायें एक दूसरे के ऊपर लद गई हैं। तीसरा अंक उतार का है जिसम गौतम और मल्लिका आदि पात्रों की उदारता और क्षमा के कारण सर्वत्र शान्ति और सद्भावना की स्थापना होती है।

प्रसाद जी ने इस नाटक मे पात्रों के बाहुल्य और प्रत्येक पात्र के चरित्र को पूर्णता के साथ चित्रण करने के कारण जीवन के विभिन्न तथा परस्पर विरोधी तथा मार्मिक पक्षो का उद्घाटन किया है। मोह और आसक्ति पर त्याग, क्रूरता और हृदय हीनता पर उदारता तथा सदाशयता, असहिष्णुता और प्रतिहिंसा पर क्षमा और सहिष्णुता, तथा सघर्ष और अशान्ति पर सद्भावना एव शान्ति की विजय दिखलाना लेखक का उद्देश्य है। क्रूर तथा प्रतिहिंसा की ज्वाला से जलते हुए पात्र भी मल्लिका के कोमल वचन और शान्त तथा उदार व्यक्तित्व से प्रभावित हो, निरर्थक नरसहार से विरत हो जाते हैं। गौतम तो समस्त नाटकीय गति मे एक प्रधान सूत्र का कार्य करते हैं। उनके सदुपदेश के प्रभाव से दो प्रमुख राजकुलों म शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित होती है। असत्प्रवृत्तियो पर सत्प्रवृत्ति की विजय इसका फल है, जिसकी प्राप्ति सब पात्रों को हुई है। मागन्धी, जो जीवन भर रूप-सौन्दर्य के मिथ्य भिमान के कारण दूसरों से प्रतिशोध लेने की चेष्टा करती है, तथा अपने उद्देश्य मे बारबार असफल होती है, वह भी बुद्ध की करुणा का आश्रय पाकर जीवन धन्य समझती है। यदि जीवन और जगत के आदर्श और व्यावहारिक पक्ष को सामने रखकर कथानक की विशिष्टता की परीक्षा की जायेगी तो उसे हम श्रेष्ठ कथा-वस्तु के रूप म स्वीकार करेंगे।

रगमच की दृष्टि से इस नाटक की कथावस्तु बहुत उपयुक्त नही कही जायेगी। इसकी भाषा जन साधारण के लिए बोधगम्य नही है, सवाद कहीं कहीं लम्बे हो गये हैं। घटनाओ का इतना विस्तार हो गया है, कि उनको उन्ही रूप मे मच पर प्रस्तुत करना कष्ट साध्य होगा। दार्शनिक भाषण भी इसकी अभिनेयता मे बाधक सिद्ध होंगे तथा स्वगत कथन अस्वाभाविक प्रतीत होंगे। ये सब कठिनाइयां अभिनेयता मे इसलिए भी उपस्थित होगी कि हिन्दी का रगमच विकसित नही है। जिस अर्थ मे रगमचीय नाटक स्वीकार किए जाते हैं, उनम न प्रसाद के नाटको की भास्वरता आ पाती है और न उनमे इन नाटको का उदात्त स्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। अन्तर और बाह्य के द्वन्द्व का जैसा रूप यहाँ प्राप्त होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आज यदि वैज्ञानिक साधनो का प्रयोग कर उपर्युक्त रगमच तैयार किया जाय तो वह मच जो घूमता है उस पर बडी सुविधा से दो दो, तीन-तीन दृश्य किंचित समय मे ही प्रदर्शित किये जा सकते है। प्रेक्षको के सामने आने वाले दृश्य की तैयारी पहले ही हो सकती है। अभिनेयता के प्रश्न को लेकर जो कठिनाई प्रसाद के नाटको के लिए उपस्थित होती है—वह स्वच्छन्दतावादी नाटककार के लिए अस्वाभाविक नही है। समग्र नाटक को प्रस्तुत करना कष्ट-साध्य है पर उसमे आए स्थल विशेष अद्भुत नाटकीयता तथा काव्य की गरिमा से मण्डित हैं।

स्कन्दगुप्त

प्रसाद की वृहत्त्रयी मे 'स्कन्दगुप्त' का द्वितीय स्थान है। इसका कथानक सर्वथा दोष-मुक्त न होते हुए भी बहुत सुगठित तथा शृखलाबद्ध है। नाटककार ऐतिहासिक सत्य चित्रण करने के मोह से मुक्त नही है—इसलिए कला पक्ष मे किंचित शिथिलता आ गई है। इसमे आधिकारिक और प्रासगिक कथाओ का समन्वय भली भाँति हुआ है। मालवा का कथानक प्रमुख कथा से अभिन्न होकर आधिकारिक कथा को गति-शील बनाने मे सहायक सिद्ध होता है।

राजनीति और इतिहास के साथ वैयक्तिक चरित्र तथा व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व इस प्रकार निरूपित हुआ है, जिसमे एक दूसरे का अग बन गया है। यह दोहरा चित्रण कथानक को अत्यधिक आकर्षण प्रदान करता है। 'सभी पात्रो का एकपक्ष भारतीय राजनीति के परिवर्तन मे देखा जाता है और दूसरा व्यक्तिगत पार्श्व-भूमि पर। एक तरह से सारा वस्तु विन्यास दो स्तरो पर चलता है, जिससे नाटक मे अधिक स्वाभाविकता आई है।'[1] वैयक्तिक और सामाजिक कार्य व्यापार मे प्रमुखता तो सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों को प्राप्त है, पर उनके मूल मे प्रेरणा के स्रोत स्वरूप व्यक्ति के कार्य तथा उसकी भावनायें भी सम्बद्ध हैं। 'इस नाटक मे ऐतिहासिक तथ्यों और मानवीय सवेदनाओ का जो नीर-क्षीर मिश्रण हुआ है, उससे सामाजिकों का सवेगात्मक अनुकूलत्व सहज मे ही प्राप्त हो जाता है।'[2]

नाटककार ने प्रथम अक मे स्कन्द की सभी आपत्तियो और विघ्नो का उल्लेख कर दिया है। दूसरे अक मे वह सभी विघ्नो की अतिक्रान्ति पर मालवा के सम्राट के रूप मे हमारे सम्मुख आता है। इसके साथ देवसेना और विजया के कारण उसके चरित्र और कार्य का कोमल पक्ष भी परिलक्षित होता है। तृतीय अक मे कथानक और गतिशील होता है—देवसेना और विजया के परस्पर भ्रमपूर्ण द्वेष और वैमनस्य के कारण प्रपचबुद्धि देवसेना की बलि का असफल प्रयास करता है। प्रपच बुद्धि की मृत्यु से षड्यन्त्र कारियो की शक्ति को काफी क्षति पहुचती

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . 'जयशकर प्रसाद', पृष्ठ १६१

२. डा० बच्चनसिह : 'हिन्दी नाटक', पृष्ठ ६१

है। तृतीय अंक में भी कथानक में शिथिलता नहीं आने पाई है। चौथे और पाचवें अंक में पूर्ववत कथानक की नियोजना का निर्वाह नहीं हो पाया है। अन्तिम अंकों में घटनाओं का समाहार फल की प्राप्ति में होता है। अन्त में जो फल की प्राप्ति होनी है—उसमें नाटककार का सुखान्त के प्रति आग्रह ही प्रमुख है।

डा० जगन्नाथ शर्मा का यह मत कि—"इस प्रकार पाश्चात्य और भारतीय दोनों विचारों से स्कन्दगुप्त उत्तम नाटक है, भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार उचित नहीं सिद्ध होता है। भारतीय नाट्य शास्त्र में कार्यावस्था फलागम का विधान किया गया है—यही कारण है कि नाटकों का अन्त फल-प्राप्ति में होता है। सुखान्त नाटकों में निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए उद्योग आरम्भ से होता है। पाश्चात्य नाटकों में दुखान्त नाटकों का आरम्भ विरोध से हुआ करता है और अन्त दुख में होता है। स्कन्द गुप्त नाटक में प्रसाद जी ने मूल रूप में पर्यवसान की प्रक्रिया अपनायी है, पर अन्त में भारतीय पद्धति के प्रति आग्रह के कारण उसका सुख में पर्यवसान दिखलाया है। इससे उनकी अनिर्णीत अवस्था तथा अन्तर्द्वन्द्व की सूचना मिलती है। 'स्कन्दगुप्त नाटक को परिणाम में सुखान्त बनाया गया है, पर उसका वस्तु विन्यास अथवा दुखान्त नाटक की पद्धति पर रखा गया है। यह वस्तु विन्यास सम्बन्धी त्रुटि स्कन्दगुप्त में स्वीकार करनी पड़ती है।'[1]

स्कन्दगुप्त का आरम्भ भी दुखान्त के योग्य हुआ है। स्कन्दगुप्त नाटक का रचना विधान बहुत दूर तक पाश्चात्य शैली पर हुआ है। अन्तर्द्वन्द्व का विधान प्रमुखतः दुखान्त नाटकों के लिए किया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्तर्द्वन्द्व के बिना दुखान्त नाटक लिखे ही नहीं जा सकते हैं। इसमें सन्धियां और कार्यावस्थायें ढूँढने पर मिल सकती हैं—पर नियताप्ति रूप कार्यावस्था का अन्त तक पता ही नहीं चलता है। स्कन्द चारों ओर से विफलताओं से घिरा हुआ है। अन्त में उसे सफलता प्राप्त होती है, पर वह बहुत प्रभावोत्पादक नहीं है। देवसेना का वियोग भी उदासीनता और दुख की छाया के समान उसे घेरे हुए है। घटनायें दूर-दूर स्थानों में बिखरी हुई हैं। कथा-वस्तु के गठन में यह भी एक त्रुटि है। शर्वनाग देवकी की हत्या करने का प्रयत्न पाटलीपुत्र में करता है-उसी समय स्कन्द सहसा किवाड़ तोड़कर अन्दर प्रवेश करता है और गर्दन दबाकर उसकी तलवार छीन लेता है। इसके पहले दृश्य में वह मालव में दिखाया गया है। माता देवकी की रक्षा के बाद भी वह शीघ्र मालव पहुँचता है जहाँ उसका राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार के दृश्य परिवर्तन वस्तु-गठन में शिथिलता के कारण होते हैं।

स्कन्दगुप्त में पात्रों का बाहुल्य है। मुद्गल, गोविन्दगुप्त तथा प्रख्यातकीर्ति को सरलता से छोड़ा जा सकता है। कथानक के भीतर से यदि हास्य की उत्पत्ति

---

1. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १६३

होती है तथा जिससे चरित्रों की किसी विशेष स्थिति का ज्ञान होता है, वह हास्य उत्तम कोटि का माना जाता है। हास्य लाने के लिए अलग से विदूषक लाना उपयुक्त नहीं है। आकस्मिक घटनाओं के समावेश से यत्र तत्र अस्वाभाविकता आ गयी है। अनन्तदेवी के प्रकोष्ठ में सहसा प्रपंचबुद्धि को प्रवेश करते पाते हैं, भटार्क और पुरगुप्त भी सहसा वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। आवन्ती के दुर्ग में बन्धुवर्मा, भीमवर्मा और जयमाला के बीच देवसेना बिना किसी पूर्व संकेत के ही आ जाती है और उत्तर देने लगती है। ऐसे और भी दृश्य हैं; परन्तु उनमें नाटकीयता है और उसके कारण कथानक को गति मिलती है। भटार्क को विजया का शव गाड़ने के लिये भूमि खोदते समय रत्नगृह का पता लगता है—जिससे बल संचय करने में सहायता मिलती है। नाटक के अन्य पात्र कथानक के अंग बन कर आए हैं—जिनसे तत्कालीन स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है तथा जिनके चरित्र और कार्य से नाटक की कथा-वस्तु का विकास होता है।

जीवन की प्रमुख समस्याओं को नाटककार ने विविध पात्रों द्वारा बड़ी मार्मिकता से उपस्थित किया है। राष्ट्र-प्रेम और जातीय अभिमान की रक्षा के लिए सब कुछ त्याज्य है—सांसारिक सुखों और वैभव के प्रति उदासीन रहते हुए भी स्कन्दगुप्त अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करता है। मालव-दूत से वह कहता है—'अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगाड़ सकेगा।' संसार-सुख को निस्सार समझते हुए भी वह अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित नहीं होता। शत्रु के आतंक से देश को मुक्त कर वह स्वयं राज्य-कार्य से पृथक हो जाता है। प्रेम और भावना की कोमल कल्पना को राष्ट्रप्रेम और आदर्श की रक्षा में कभी वह बाधक सिद्ध नहीं होने देता। विजया जब भटार्क को वरण करती है—उसके हृदय में अशान्ति और हलचल की रेखा चमक उठती है है-पर वह हलचल वहीं सदा के के लिए विश्राम पा लेती है। बन्धुवर्मा आदि पात्र मानो देश प्रेम और त्याग के ज्वलन्त प्रतीक हैं।

जीवन की यथार्थता के कटु चित्र से लेकर कोमलतम पक्षों का उद्घाटन हुआ है। पर्णदत्त के ये वाक्य 'अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता। विलास के लिए पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं'—वास्तविक जीवन की कठोरता का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर देवसेना का विदा के समय स्कन्द से कहा वाक्य जीवन का मधुरतम तथा मार्मिक व्यथा से सिक्त चित्र प्रस्तुत करता है। प्रसाद जी ने इस नाटक में विविध माध्यम-चरित्र, कार्य और संवाद से जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है।

वही नाट्य-कृति अमर होगी, जिसमें मानव-जीवन के विविध पक्षों का

मार्मिक उद्घाटन तथा जिनसे सुरुचि सम्पन्न तथा शिष्ट सामाजिकों की भावनाओं का उन्मेष होगा तथा जिनसे जीवन को गतिशील बनाने में प्रेरणा मिलेगी। रंगमंच पर तो अनेक ऐसे नाटकों का अभिनय होता है जो बहुत ही साधारण कोटि के हैं। 'स्कन्दगुप्त' के अभिनय में विशेष कठिनाई का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि इसका सफलता पूर्वक, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के अवसर पर काशी में अभिनय हो चुका है।

इन प्रवृत्तियों के कारण उनके नाटकों में एक ओर अनभिनेयता आई है तथा दूसरी ओर उनमें साहित्यिक सौष्ठव तथा जीवन का गम्भीर विवेचन और औदात्य आया है। जितने भी रंगमन्चीय नाटक हैं—उनमें प्रसाद के नाटकों की गरिमा तथा गाम्भीर्य का सर्वथा अभाव है। इन नाटकों में न तो पात्रों की मानसिक स्थितियों का इस प्रकार विश्लेषण और निरूपण हो पाया है और न इस प्रकार के कोमलतम तथा कठोर से कठोर पात्रों की सृष्टि हो पायी है।

दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन की यदि व्याख्या होगी, और शाश्वत सत्य और सृष्टि की क्षण भंगुरता का विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा तो भाषा का क्लिष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है। काव्य-सौष्ठव और रस की निष्पत्ति पर ध्यान देने के कारण भी भाषा काव्यात्मक होगी। नाटकों में ऐतिहासिक खोज के अनुसार यदि नाटककार नवीन तथ्य का समावेश एक निश्चित लक्ष्य की सिद्धि के लिए करना चाहता है तो इस कारण भी वस्तु विन्यास में विस्तार आ जायेगा। प्रसाद ने यह सब रहते हुए भी अन्त में समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सब घटनाओं के समाहार का प्रयत्न तीनों बड़े नाटकों में किया है। इतिहास के विशाल चित्रपटल पर सामयिक प्रेरणा के फलस्वरूप साहित्यिक चित्र खींचना अपने आप में जितना बड़ा कार्य है, उसे देखते हुए हम वस्तु-कौशल के सर्वांगीण निर्वाह की कमी को क्षम्य मान सकते हैं।[1]

अतः आवश्यक यह है कि इन नाटकों के अभिनय के अनुकूल राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना होनी चाहिए। इनका सांस्कृतिक-गौरव तथा साहित्यिक स्वरूप तभी सुरक्षित रह सकेगा। रंगमन्च के लिए ही नाटकों की रचना हो—इस पूर्वाग्रह का त्याग अपेक्षित है। इस दृष्टि से विचार करने पर ये नाटक सदा अभिनेय हैं।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त नाटक का वस्तु संघटन विस्तृत समय और स्थान की पीठिका पर निर्मित हुआ है। गांधार से लेकर मगध तक की व्यापक चित्रपटी इस नाटक का कार्य क्षेत्र है। समय भी प्राय पचीस वर्षों का इन मध्यवर्ती घटनाओं में व्यतीत हो

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद', पृ० १७२

जाता है। सिकन्दर का भारत पर आक्रमण, नन्दकुल का विनाश, तथा सिल्युकस से युद्ध—इन तीनों घटनाओ को एक सूत्र मे बाधने वाला चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक तथा चाणक्य उसका सशक्त सहायक है। अन्विति-त्रय को ही यदि नाटक की परख का एक मात्र माध्यम स्वीकार किया जाय तो चन्द्रगुप्त नाटक का वस्तु सगठन त्रुटि-रहित नही माना जायेगा। प्रसाद का यह सबसे बड़ा नाटक है। अक तो इसमे चार हैं पर दृश्यो के बाहुल्य से नाटक का आकार बढ गया है। प्रथम अक मे ग्यारह और द्वितीय मे दस अक हैं, तृतीय मे नौ और चतुर्थ म चौदह अक हैं। इतने विस्तृत काल के भीतर घटने वाले कार्य व्यापार को एक सूत्रता मे बाधने के कारण कथानक मे शिथिलता आ गई है। प्रत्येक अक की घटनायें दूसरे अक से परस्पर सुगुम्फित नहीं हैं—इसलिए नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने मे उनमे वह शक्ति नही आ पायी है जो नाटक के लिए उपयुक्त हैं।

प्रथम अक की समाप्ति दाण्ड्यायन के आश्रम मे होती है—जहाँ महर्षि ने चन्द्रगुप्त के लिए भारत के भावी सम्राट होने की घोषणा की है। दूसरे अक मे मालव अभियान मे सिकन्दर की पराजय होती है। चन्द्रगुप्त अपने प्रयत्न मे सक्रिय है। दूसरे अक की नाटकीय प्रतिक्रिया तीसरे अक की घटनाओ पर नही होती। तीसरा अक अपने मे स्वतन्त्र है। तीसरे अक के अन्त तक नन्द का विनाश और चन्द्रगुप्त की विजय पूर्ण हो जाती है। चौथा अक ऐसा मालूम होता है—जिसकी आवश्यकता नही थी—पर पुनः कोई नवीन कार्य के निमित्त आरम्भ किया गया है।

आकस्मिक घटनाओ के अधिक नियोजन से कथा वस्तु शिथिल होती है तथा मानवीय क्षमता के विकास की सम्भावना क्षीण हो जाती है। इस नाटक मे आकस्मिक घटनाओ के प्रति नाटककार का मोह कुछ अधिक दिखाई पडता है। सिंह से कल्याणी की रक्षा के लिए सरस्वती मन्दिर के उपवन मे चन्द्रगुप्त सहसा उपस्थित होता है। मानचित्र लेने के प्रयत्न मे उद्यत यवन से अलका की रक्षा करने के लिए सिंहरण उपस्थित होता है। प्यास से शिथिल चन्द्रगुप्त की सिंह से सिल्युकस असभावित रूप म रक्षा करता है। चन्द्रगुप्त चाणक्य को बन्दी गृह से मुक्त कर लेता है। इस प्रकार के दृश्यो से कथानक मे अस्वाभाविकता आ गई है। आकस्मिक दृश्य यदि कुतूहल पैदा करने में सहायक हो तो ठीक है—पर वे सशय और अविश्वास उत्पन्न करने वाले न हो।

वस्तु की इन त्रुटियो को देखने के बाद चन्द्रगुप्त नाटक का जो भास्वर तथा महिमा मण्डित पक्ष है—उस पर ध्यान देना आवश्यक है। जितनी व्यापक तथा प्रशस्त राष्ट्रीय भूमिका पर इस नाटक का निर्माण हुआ है तथा जो इसका उद्देश्य है—उसको समक्ष रखते हुए इसके वस्तु-सगठन पर विचार करना उपयुक्त होगा।

राष्ट्रीय भूमिका पर जिस नाटक का निर्माण होगा उसमे विस्तृत देश और काल की घटनाओ का समाहार करना नाटककार के लिये आवश्यक हो जायेगा।

जिस उद्देश्य के निमित्त वह नाटक की रचना करता है—तथा जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह घटनाओं, पात्रों और उनके कथोपकथन के माध्यम से जिस जीवन सत्य और आदर्श की स्थापना करना चाहता है, उसको ध्यान में रखकर नाटक की वस्तु-परीक्षा उचित है। प्रसाद ने इस नाटक में एक राष्ट्रीयता के आदर्श की स्थापना की है। आर्यावर्त की अखंडता की रक्षा करने के लिए चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे सशक्त पात्रों को अपनाया है। चाणक्य का चरित्र महाकाव्य के योग्य है—ऐसे उदात्त चरित्र को नाटक में लाने के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त नाटक में महाकाव्य का औदात्य अधिक है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त का नाटक में आद्योपान्त प्रयत्न इसलिए हुआ कि वैयक्तिक तथा प्रादेशिक स्वार्थों और हितों को सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्वार्थों के सामने गौण स्थान दिया जाय।

चाणक्य ने मालव और मगध को भूलकर आर्यावर्त के गौरव और स्वातन्त्र्य की रक्षा के प्रश्न को सामने रखा और उसको पूर्ण किया। चन्द्रगुप्त से असंतुष्ट होकर भी राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न पर सदा सब कुछ करने को प्रस्तुत है। प्रसाद की राष्ट्रीय भावना मानवता के उदात्त सांस्कृतिक स्तर को स्पर्श करती है। इसका उदाहरण सिंहरण मालव युद्ध के प्रकरण में देता है—'ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।' राष्ट्रीयता का ऐसा महिमा मण्डित रूप हिन्दी साहित्य में शायद ही कहीं अन्यत्र दिखलाई पड़े।

भारत के सामने स्थानीय स्वार्थों की प्रमुखता के कारण राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा का प्रश्न भयंकर रूप धारण करता जा रहा है—इसका समाधान प्रसाद का चन्द्रगुप्त बड़ी सरलता के साथ प्रस्तुत करता है—'मालव और मगध को भूलकर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।' ऐसा ही भाव अन्यत्र व्यक्त किया है'—आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण में भेद न करेंगे।' जातीयता और प्रान्तीयता का उच्छेद कर एक राष्ट्रीयता की घोषणा प्रसाद ने अनेक स्थलों पर की है। राज्य प्राप्त करने के लिये शत्रु से सहायता लेना भी त्याज्य और अनुचित समझा गया। राष्ट्रीयता के इस उदात्त स्वरूप की आवश्यकता भारत के तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन में जितनी अधिक थी उतनी ही किसी भी स्वाभिमानी राष्ट्र की रक्षा के लिए सदा बनी रहेगी।

प्रसाद एक ओर ब्राह्मणत्व का सशक्त चित्र उपस्थित करते हैं। ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है, वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतरवर्णों का संगठन कर लेगा। जहाँ तक ब्राह्मणत्व में इतनी शक्ति है, वहाँ उसका त्याग और तपस्या से पूत शान्त स्वरूप भी है। चाणक्य ब्राह्मणत्व के इस उज्ज्वल तथा सात्विक रूप को इन शब्दों में, मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवनदान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना—

नदियों को पचाते हुये सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है, व्यक्त करता है। चाणक्य, जिसने सिद्धि पर अपना ध्यान सदा केंद्रित किया था, साधन की चिन्ता जिसने कभी नहीं की, वह भी अन्त मे आध्यात्मिक शांति प्राप्त करने के लिए संसार त्याग कर ऐकान्तिक साधना में लग जाता है।

नाटककार को राष्ट्र की विस्तृत पीठिका पर राजनैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना के लिए अनेक पात्रों की अवतारणा करनी पड़ी है। नारी पात्रों मे अलका का देश प्रेम ही प्रमुख होकर सामने आ पाया है। मालविका की कोमल तथा बलिदान की मूक भावना बड़ी मार्मिकता से व्यक्त हुई है। दाण्ड्यायन जैसे दार्शनिक पात्रों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति की है। इस आत्म-दर्शन के किंचित आभास हो जाने से मानव सांसारिक भय तथा आकर्षण से मुक्त हो जाता है। संसार की कोई शक्ति उसमे आतंक नहीं पैदा कर सकती। राग-विराग तथा आकर्षण विकर्षण से वह मुक्त हो जाता है।

प्रसाद का चन्द्रगुप्त काव्य और दर्शन की गरिमा से मण्डित है। अनेक पात्रों के द्वारा जीवन का बहुविध चित्र इस नाटक मे चित्रित हुआ है। किन्तु इसका प्रमुख स्वर है एक राष्ट्रीयता। चन्द्रगुप्त मे पराक्रम और साहस का बाहुल्य है। उसके चरित्र का अन्य पक्ष इसीलिए दुर्बल हो गया है। राजनीति और दर्शन के मिश्रण से नाटक मे गाम्भीर्य और व्यवहारिक निपुणता का समावेश हुआ है। गुरु-कुलों की सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान के चित्रण मे तत्कालीन समाज की शिक्षा-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है।

प्रसाद जी का कवि व्यक्तित्व तथा उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण नाटकों मे काव्यत्व और कथा वस्तु के संगठन मे शैथिल्य आया है।

१० | चरित्र-शिल्प

चरित्र-शिल्प के अन्दर चरित्र-चित्रण की सभी विधियां आ जाती हैं जिससे कथावस्तु गतिशील होती है। लेखक की विचारधारा, वस्तु संगठन, शैली तथा कथोपकथन आदि का चरित्र चित्रण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कलाकार अपने विचारों के अनुसार पात्रो का चयन करता है। पात्रो के चुनाव के बाद वह उन चरित्रो को नाटकीय दृष्टि से प्रभाव उत्पन्न करने का अवसर देता है। कुछ इतिहास प्रख्यात ऐसे चरित्र होते हैं जो नाटककार के विचारों की छाया मात्र न रहकर स्वयं प्रमुखता प्राप्त करते हैं तथा उन पात्रों के कारण नाटककार को अपने विचार मे परिमार्जन की आवश्यकता होती है। ऐसे प्रमुख पात्र यदि नाटक के नायक के रूप मे आते हैं तो नाटककार को इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि प्रतिनायक उससे भी कही सशक्त व्यक्तित्व का न हो। यहाँ इतिहास के बन्धन को स्वीकार करते हुए नाटककार यदि चरित्र-शिल्प की कला मे कुशल है तो वह इतिहास और नाट्य दोनो की सीमाओ की रक्षा कर सकेगा तथा नायक और प्रति नायक की स्थिति का भी निर्वाह हो जायेगा। गौतम तथा चाणक्य इसी प्रकार के इतिहास प्रसिद्ध पात्र हैं। प्रसाद जी ने पात्रो की ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए उन्हे नाटक मे स्थान दिया है। चाणक्य अवश्य कही-कही प्रमुखता प्राप्त कर लेता है, फिर भी वह नायक का सहायक और मन्त्री ही रहता है। अन्त मे सासारिक सघर्षों से विश्राम लेकर चन्द्रगुप्त का मार्ग निष्कण्टक करता है। उसके उद्देश्य की पूर्ति के साथ नाटक मे नायक का स्थान भी अक्षुण्ण रहता है। गौतम जैसे प्रमुख पात्र भी 'अजातशत्रु' मे कथा को गतिशील बनाने मे सहायक प्रमाणित होते हैं। ऐसे पात्रो को सभालना प्रसाद जैसे नाटककार का ही कौशल है। वस्तु-सगठन को ध्यान मे रखकर भिन्न-भिन्न चरित्रो का आदर्श तथा उनके कार्य की सीमा निश्चित करनी पड़ती है।

सफल नाटककार चरित्रो के स्वाभाविक सस्कार और परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित करता है। अनुकूल परिस्थितियो मे पात्रों की मूल-वृत्ति का सस्कार तथा विकास होता है । नाटककार कथा-वस्तु के विकास के लिए ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है कि वस्तु के विकास के साथ चरित्रो की नैसर्गिक प्रवृत्तियो का भी विकास होता है। मनुष्य मे मूल रूप से विभिन्न प्रवृत्तियो के बीज अन्तर्निहित रहते हैं। इनमे कुछ निर्बल रहते हैं तथा कुछ सबल। सब वृत्तियो के परिवर्तन के लिए उनसे अधिक प्रबल परिस्थितिया अपेक्षित होती हैं। नाटककार ऐसे चरित्रो की योजना करता है, जिनमे दोनो प्रकार के पात्र आते हैं। काश्यप तथा भटार्क जैसे पात्रो की सृष्टि इस तथ्य को प्रमाणित करती है। काश्यप की असत वृत्तियाँ इतनी बलवती हैं कि विपरीत परिस्थितियो से भी उसके स्वभाव मे कोई परिवर्तन नही आता है बल्कि अपनी दुष्ट वृत्तियों के साथ ही उसका अन्त होता है। इसके विपरीत भटार्क प्रकृति से देशद्रोही तथा दुष्ट नही है। वह प्रतिहिंसा तथा मानवीय दुर्बलता के कारण स्कन्द के विपरीत पुरुगुप्त को युवराज पद प्राप्त कराने के लिए प्रयत्न करता है किन्तु परिस्थितियो से विवश होकर उसके स्वभाव मे परिवर्तन आता है और शत्रुओ को पराजित करने मे स्कन्द को सहयोग देता है। कुछ ऐसे भी चरित्र हैं जो पूर्ण मानवतावादी हैं तथा परिस्थितियो से ऊपर उठे हुए हैं, उनके स्वभाव मे परिवर्तन का प्रश्न नही उठता है ।

चरित्रो मे इस प्रकार का नियोजन होना चाहिए कि योग्यता और नाटकीय मर्यादा के अनुसार उन्हे कथोपकथन तथा कार्य के विकास मे सतुलित रूप से अवसर मिले। यदि महत्वपूर्ण पात्र को रगमच पर आने के लिए कम समय मिलता है और गौण पात्र अधिक समय ले लेते हैं तो चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यह त्रुटि समझी जायेगी। कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त नाटक मे कम समय मिलता है–जिससे उसके चरित्र का विकास नही हो पाया है। मालविका के बलिदान और त्याग को ध्यान मे रखते हुए उसके चरित्र को विकसित होने के लिए उपयुक्त अवसर नहीं प्राप्त हो सका है। चाणक्य का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है—ऐसा ज्ञात होता है कि वह नायक का पूर्ण रूप से नियत्रण तथा उसके प्रत्येक कार्य का सचालन करता है। अतः उसको बहुत स्थान मिलना उचित है। 'अजातशत्रु' का दीर्घकारायण सैनिक है पर उसके दीर्घ वक्तव्य से कथानक की गति मे व्याघात पडने के अतिरिक्त उसका सैनिक रूप गौण हो जाता है। वह स्त्री पुरुष के कार्य और उनकी धार्मिक सीमाओं के निर्णायक रूप मे उपस्थित होता है। उसकी दार्शनिकता कृत्रिम जान पडती है।

नाटककार के पास चरित्र-चित्रण के लिए पात्रो का कथोपकथन एक महत्वपूर्ण साधन है। स्वगत-कथन यद्यपि नाटकीय दृष्टि से अस्वाभाविक होता है, किन्तु पात्र के अन्तर को उद्घाटित करने के लिए यह प्रमुखतम साधन है। एक पात्र के सवाद से दूसरे चरित्र के विषय मे भी बहुत कुछ ज्ञात होता है। कथोपकथन चरित्र

चित्रण का प्रत्यक्ष साधन है। यहा नाटककार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी पात्र से दूसरे चरित्र के विषय मे ऐसी बात न कहला दे जो उसके मूल सस्कार और वातावरण के विपरीत हो। दूसरे पात्रो के विषय मे उक्त सवाद से कहीं-कही जिसके विषय मे बात कही गयी है, उसकी विशेषता का ज्ञान न होकर कहने वाले पात्र की ही मानसिक स्थिति का ज्ञान होता है। अजातशत्रु मे देवदत्त गौतम की निन्दा करता है तथा उन्हें कपट मुनि का विशेषण देता है, साथ ही उन पर यह आक्षेप भी लगाता है कि वे समस्त जम्बूदीप पर शासन करना चाहते हैं। इस सवाद से गौतम के चरित्र के विषय म हमे विशेष ज्ञान नही होता है, क्योकि इतिहास प्रसिद्ध उनका माहात्म्य रूप इसकी अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है, परन्तु देवदत्त की ईर्ष्या तथा उसके द्वेष की झलक मिल जाती है।

चरित्र शिल्प का यह वैशिष्ट्य कि नाटककार पात्रो के मूल सस्कारो को अनुकूल परिस्थितियों म विकसित होने का पूर्ण अवसर दे तथा उनमे जब कभी परिवर्तन आये तो वह सहसा तथा आकस्मिक न जान पडे प्रसाद के पात्रो म प्राप्त होता है। कुछ चरित्रों में अस्वाभाविक परिवर्तन भी आया है, पर इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम हैं। चाणक्य तक्षशिला से कुसुमपुर आकर अपने पिता का निर्वासन, शकटार के कुल का विनाश और नन्द के अत्याचार की जघन्य कहानी सुनकर प्रतिहिंसा की ज्वाला से जल उठता है। वह कहता है-'क्या इसीलिये राष्ट्र की शीतल छाया का सगठन मनुष्य ने किया था? मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूगा। नया बनाऊगा, नहीं तो विनाश ही करूगा। (ठहरकर) एक बार चलू नन्द से कहू। नहीं, परन्तु मेरी वृत्ति, वही मिल जाय, मैं शास्त्र व्यवसायी नहीं रहूगा, मैं कृषक बनूगा। मुझे राष्ट्र की भलाई बुराई से क्या? तो चलू।' राज्य की भलाई बुराई से पृथक होकर सरल और शान्त जीवन व्यतीत करने के सस्कार बीज रूप मे चाणक्य मे आरम्भ से ही वर्तमान हैं, पर परिस्थितियो और वातावरण से विवश होकर वह नन्द वश के विनाश की अटल प्रतिज्ञा करता है और उसके लिए अथक परिश्रम करता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के बाद वह यह सब कुछ त्याग देता है। अन्त मे ब्राह्मण के आदर्श के अनुसार चन्द्रगुप्त को मेघ-मुक्त-चन्द्र देख कर ससार के रगमच से पृथक हो जाता है। आरम्भ मे जिस प्रवृत्ति की क्षीण सूचना हमें प्राप्त होती है उसका विकास सन्यास की स्थिति मे पूर्णता को प्राप्त कर लेता है चरित्र चित्रण की यह विशेषता दूसरे नाटकों मे बहुत कम प्राप्त होती है।

स्कन्दगुप्त का प्रथम वाक्य 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है।' उसकी मानसिक स्थिति को शत्रुओ से मुक्त कर पुरुगुप्त को हमारे सामने स्पष्ट कर देता है। वह देश को शत्रुओ से मुक्त कर पुरुगुप्त को राज्य समर्पित कर देता है और ससार के कलह और सघर्ष पूर्ण वातावरण से मुक्त हो जाता है। अजातशत्रु के

आरम्भ मे उसकी क्रूरता और हृदय हीनता की झलक मिलती है, जिसका वातावरण के योग से क्रमश विकास हुआ है। उसे अपनी माता छलना से प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है और देवदत्त जैसे तथाकथित महात्मा की प्रेरणा से अपने मार्ग पर अग्रसर होता है। 'राज्यश्री'मे सुरमा और शान्ति भिक्षु का प्रथम सवाद उसके मूल सस्कारो का आभास दे देता है। सुरमा कहती है 'विश्वास करो। मैं आजीवन किसी राजा की विलास मालिका बनती रहूं—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मान लेने म मैं असमर्थ हू। मेरे प्राणो की भूख, आखो की प्यास तुम न मिटाओगे ?' इस वाक्य स उसकी वासना तथा महत्वाकाक्षा के बीज जो उसके मूल स्वभाव मे हैं, क्रमश परिस्थितियो के योग से अकुरित और पुष्ट होते हैं। शान्तिभिक्षु की हत्या और अत्याचार म वह सहायक होती है। उसकी अनुपस्थित मे अपनी वासना की तृप्ति के लिये देवगुप्त के प्रलोभन और आकर्षण मे आकर उसे स्वीकार करती है। यदि हम यह ज्ञात होता कि सुरमा बहुत पवित्र और सात्विक वृत्ति की महिला है और उसका इस प्रकार वासनायुक्त स्वरूप हमारे सामने आता तो चरित्र शिल्प की दृष्टि से यह बहुत बडी त्रुटि होती। चरित्रों को विकसित करते हुये प्रसाद जी ने इस प्रकार का विरोधात्मक चित्र कहीं भी प्रस्तुत नही किया है। दुष्ट पात्रो मे सत्य प्रवृत्ति का उदय होता है। लेकिन ऐसे स्थलों पर नाटककार को वातावरण और परिस्थितियों की ऐसी योजना करनी पड़ती है कि परिवर्तन स्वाभाविक और उचित जान पड़ता है। ऐसे स्थलो पर मानवतावादी महत्पात्रो की उपस्थिति भी सहायक होती है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' मे कथानक का आरम्भ सरमा और मनसा के वार्तालाप से होता है। सरमा कहती है—'बहन मनसा, मैं जो आज तुम्हारी बात सुनकर चकित हो गई।' प्रथम वाक्य से ही इस बात का आभास प्राप्त हो जाता है कि अत्याचार और क्रूर हत्या से उसे घृणा है तथा वह स्वभावत सरल और शान्त प्रकृति की है। मनसा में आरम्भ से ही आत्माभिमान और आत्मगौरव की भावना कूट-कूट कर भरी हुई ज्ञात होती है। आर्यों ने नागो के साथ जो नृशसता की है—उसका प्रतिशोध लेने के लिये वह अन्त तक चेष्टा करती है।

चरित्र चित्रण वह श्रेष्ठ माना जाता है जिसमे प्रत्यक्ष चित्रण अधिक होता है। प्रसाद जी ने इस नियम का पालन किया है। किसी अनुपस्थित पात्र का परिचय कराने के लिए दूसरे पात्रों का प्रयोग प्रसाद जी ने बहुत कम किया है। यदि कोई चरित्र किसी अनुपस्थित पात्र के विषय मे कभी बोलती है तो उससे अनुपस्थित पात्र के विषय मे विशेष ज्ञान न होकर किसी दूसरे उद्देश्य की सिद्धि होती है।

नाटकीय दृष्टि से स्वगत कथन का बहुत महत्व नही है- इससे कार्य मे शिथिलता आती है। पर चरित्र चित्रण के लिए स्वगत कथन का बहुत महत्व है। यदि स्वगत कथन केवल तथ्य-परक नही है तथा सक्षिप्त है तो चरित्र शिल्प का यह

महत्वपूर्ण अंग हो सकता है। प्रसाद ने स्वगत-कथन का प्रयोग किया है। उनके स्वगत कथन दीर्घ होते हुए भी काव्यात्मकता तथा भाव प्रवणता के कारण अपनी कमी बहुत दूर तक पूरी कर देते हैं। ये स्वगत-कथन तथ्य परक न होकर चरित्रों की भावना और संवेदना की अभिव्यक्ति करते हैं। नरदेव अपने किए दुष्कर्मों के लिए पश्चाताप करता है। वह अब आत्मसंयम और आत्म-शासन का महत्व समझने लगा है। वह संवेदनशील हो गया है—जो कामान्ध तथा क्रूर था।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में सरमा नागों से अप्रसन्न होकर चली गई है। आर्यों ने भी उसका अपमान किया है। वह अपनी दयनीय स्थिति पर विचार करती है। वह नारी है—उसके पास ममतापूर्ण हृदय है। उसका स्त्रीत्व तथा पतिव्रत अपने पति की रक्षा के लिए कराह उठता है। वह कहती है—'देखना ! तुम संकट में हो, यह सुनकर मैं कैसे रह सकती हूं ? मेरा अश्रुजल समुद्र बन कर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा, मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बन कर तुम्हें सुरक्षित रक्खेगी।' इससे सरमा के चरित्र का भावुक तथा उदात्त स्वरूप उद्घाटित होता है।

'अजातशत्रु' में ऐसे स्वगत कई स्थलों पर आए हैं, जो नाटकीयता की दृष्टि से भले ही अनुपयुक्त हैं, तथा जिनसे कार्य में शिथिलता भी आती है, पर पात्रों के चरित्र का सूक्ष्मतम रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। श्यामा जब विरुद्धक से कानन में मिलने जाती है, उस समय उसका स्वगत यह स्पष्ट करता है कि वासना की तृप्ति के लिये वह कोई भी भयानक कार्य कर सकती है। शैलेन्द्र के स्वगत कथन इस बात की पुष्टि करते हैं कि उसकी भावुकता क्षणिक है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिए वह किसी का भी गला घोंट सकता है।

स्कन्दगुप्त श्मशान से किंचित दूर टहलता हुआ अपनी स्थिति पर विचार करता है। वह अशान्त है, व्यथित है उसके अन्त.करण का आलिंगन कर कोई रोने और हंसने वाला नहीं है। विजया का नाम लेकर उसका व्यथित हृदय अधीर हो उठता है। स्थिति-पर्यवेक्षण के समय स्कन्द का एक-एक शब्द मार्मिक व्यथा से आप्लावित है। यह उसके चरित्र का कोमलतम पक्ष है।

चरित्र चित्रण में कथोपकथन का परिस्थिति और क्रिया-व्यापार से घनिष्ठ सम्बन्ध होना आवश्यक है। नाटककार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कथोपकथन अप्रासंगिक और चरित्र-चित्रण कृत्रिम न हो जाय। केवल परिचय कराने के लिए कुछ पात्रों में परस्पर बातचीत कराना अनुचित है। अजातशत्रु को छोड़कर अन्य नाटकों में वस्तु का कार्य-व्यापार से पर्याप्त सम्बन्ध है।

चरित्र-शिल्प में पात्रों की बहुलता बाधक सिद्ध होती है। यदि नाटक में पात्र कम हैं तो उसमें प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए पर्याप्त अवसर है।

प्रसाद जी के बड़े नाटकों में पात्रों का आधिक्य है। इसके साथ ही उन्होंने सभी पात्रों की पूर्णता का भी ध्यान रक्खा है। इसलिए भी उनके नाटक बड़े हो

गये हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रसाद जी की सबसे बडी विशेषता यह है कि उनके पात्र नाटककार के विचारो की छाया-मात्र नही रह गये हैं। उन्हे स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्राप्त है। प्रसाद ने विरोधी पात्रो की सृष्टि द्वारा चरित्रो की विशेषताओं को विकसित होने का पूर्ण अवसर दिया है। इसलिए उनकी चरित्र-सृष्टि सजीव हो उठी है। आचार्य वाजपेयी का यह मत इस विषय में ध्यान देने योग्य है—'प्रसाद का सरल पक्ष चरित्र-निर्माण का है। उन्होने इस क्षेत्र मे अपनी अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया है। उनकी चरित्र-सृष्टि मे स्थिर व चल दोनो प्रकार के प्रतिनिधि हैं। स्थिर चरित्रों के गुणों का उभार बदलती हुई परिस्थियो और प्रक्रिया के फल स्वरूप होता है, किन्तु चल चरित्रों मे सीधे घात-प्रतिघात की आवश्यकता होती है।'[1] प्रसाद ने कुछ ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो परिस्थितियो से ऊपर उठे हुए हैं। विभिन्न परिस्थितियों मे उनके चरित्र के भिन्न-भिन्न पक्ष सम्मुख आते हैं, किन्तु उनका चारित्रिक वैशिष्ट्य एक सुनिश्चित मार्ग का अनुसरण करता है। वे परिस्थितियो को मोड लेने तथा अपने अनुकूल बना लेने मे सक्षम हैं। ऐसे पात्रो के चरित्र-चित्रण मे नाटककार के चरित्र-शिल्प की विकास-रेखायें भली भांति उभरकर सामने नहीं आ पाती।

चरित्र शिल्प में नाटककार को पात्रो के मुख से प्रयोग की जाने वाली भाषा पर भी ध्यान रखना चाहिए। चरित्रो की स्थिति और योग्यता के अनुसार भाषा का प्रयोग चरित्र-चित्रण के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' मे दार्शनिक और साधारण पात्र के लिए एक ही भाषा का प्रयोग किया है। बिम्बसार कहता है—'आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरो से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन-सग्राम मे प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है।' वासवी का यह वाक्य—'इस बाह्य हलचल का उद्देश्य आन्तरिक शान्ति है, फिर जब उसके लिए व्याकुल पिपासा जागउठे, तब उसमे विलम्ब क्यो करें' भी उक्तमत का समर्थन करता है। अन्य नाटको मे भी कुछ ऐसे स्थल हैं जो कथोपकथन की दृष्टि से—विशेषकर रगमच और प्रेक्षकों की दृष्टि से उपयुक्त नही कहे जा सकते। काव्यत्व की दृष्टि से तो ऐसे स्थलों का महत्व है—पर साधारण प्रेक्षकों के लिये ये अश दुरुह होगे। चन्द्रगुप्त नाटक मे सुवासिनी प्रेम की व्याख्या करती हुई कहती है—'अकस्मात जीवन-कानन मे, एक राका-रजनी की छाया मे छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियां हरी-भरी हो जाती है। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन'? कहकर सबको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी मे प्रेम का मुकुल लग जाता है, आंसू भरी स्मृतियां मकरन्द सी उसमे छिपी

---

1. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ १७३।

रहती हैं।' यह अश गद्य गीत की दृष्टि से उत्तम उदाहरण है। नाटकीय सम्वाद की दृष्टि से यह अश कथा वस्तु को शिथिल करने के कारण उपयुक्त नही कहा जायेगा। चरित्र शिल्प की दृष्टि से भी ऐसे स्थलो का बाहुल्य अनुपयुक्त है।

प्रसाद जो कवि थे, दार्शनिक थे अत भाषा मे इस तरह का भाव-कल्पना-युक्त प्रयोग उनकी स्वच्छ तावादी प्रवृत्ति के अनुकूल है। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न प्रेक्षको के लिए तो चरित्र-चित्रण मे इस प्रकार की भाषा का प्रयोग उचित हो सकता है, पर सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की भाषा बोध-गम्य होगी, इसमे सन्देह है।

चरित्र-शिल्प का वास्तविक क्षेत्र मानवीय चरित्रो की सृष्टि है। ऐसे पात्र जो परिस्थितियों के ऊपर उठे हुए हैं—तथा सासारिक द्वन्द्व से जो निर्लिप्त हैं—उनके चरित्र की सूक्ष्म विशेषताओ को उद्घाटित करने का अवसर नही प्राप्त होता है। मानवीय पात्रो के चरित्र चित्रण मे ही नाटककार के चरित्र-कौशल का निखार होता है। मानवीय पात्र अर्न्तद्वन्द्व से युक्त होते हैं तथा उनके चरित्र के सबल और निर्बल दोनो पक्षों को विश्लिष्ट करने का अवसर प्राप्त होता है। दोनो पक्षो के घात-प्रतिघात मे सत असत पक्ष जो भी विजयी हो, वह कथावस्तु को नाटकीय परिवेश में यदि गतिशील बनाता है तो चरित्र शिल्प की दृष्टि से श्लाघ्य है। मानव चरित्र के सबल और निर्बल दोनो पक्ष नाटककार की उद्देश्य सिद्धि मे सहायक होते हैं। प्रसाद मानव चरित्र के चित्रण मे हिन्दी साहित्य के अप्रतिम कलाकार हैं। समान धर्मी पात्रो के चित्रण मे भी सबका अपना वैशिष्ट्य सुरक्षित रहता है—सबकी विशेषतायें अलग अलग परिलक्षित होती हैं। अजातशत्रु, विरुद्धक और पुरुगुप्त तीनो ही राज्य प्राप्त करने के लिए षडयन्त्र में सलग्न हैं। अजात शत्रु और विरुद्धक मे अपने पिता के प्रति विद्रोह किया है, परन्तु दोनो के स्वभाव और कार्य मे पर्याप्त भिन्नता है। अजातशत्रु प्रकृत्या अशिष्ट तथा दुर्वृत्त नही है जबकि विरुद्धक मे उद्दण्डता के सस्कार आरम्भ से ही प्राप्त होते हैं यही कारण है कि अजात की अपेक्षा विरुद्धक मे अधिक स्वावलम्बन तथा पौरुष है। जो अजातशत्रु है वह विरुद्धक नही तथा जो पुरुगुप्त है वह अजातशत्रु और विरुद्धक नही है। 'समानता में भिन्नता और विभिन्नता मे समानता का अन्वेषण करना लेखक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का ही द्योतक है और चरित्र चित्रण के ऊपर लेखक का अधिकार प्रगट करता है।'[1]

चरित्र-शिल्प मे नाटककार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार वह चरित्रो का विकास कर रहा है, उसी प्रकार स्वाभाविक ढग से उसकी परिणति भी हो। यदि किसी पात्र के स्वाभाविक विकास के साथ सहसा उसकी समाप्ति हो जाती है अथवा पात्र के कार्य और स्वभाव मे सहसा कोई परिवर्तन आ

---

१. रामकृष्ण शुक्ल, एम० ए० शिलीमुख . 'प्रसाद की नाट्य कला, पृष्ठ १४० ।

जाता है, तो ऐसे स्थल अस्वाभाविक होते है तथा रस-सिद्धि मे बाधक भी सिद्ध होते हैं। प्रसाद के कुछ चरित्रों की परिणति मे इस प्रक्रिया का निर्वाह नही हो पाया है और अस्वाभाविकता आ गयी है। कुछ दुर्वृत्त पात्र जो स्वभावत निर्दयी और अपनी दुर्बलताओ से घिरे हुये हैं तथा अपने मार्ग पर इतनी दूर आगे बढ जाते हैं कि उनकी परिणति के लिए ऐसे पात्रो की सहायता लेनी पड़ती है, जिनका चरित्र द्वन्द्व रहित है और जो इतिहास प्रसिद्ध तथा महात्मा हैं। पात्रो का सुधार या उनमे परिवर्तन यदि स्वाभाविक ढग से होता है तो प्रेक्षक अथवा पाठक मे कुतूहल की भावना पैदा नही होती है।

अजातशत्रु प्रसेनजित के खून का प्यासा है। वह कहता है—'कहा गया ? मेरे क्रोध का कन्दुक मेरी क्रूरता का खिलौना, कहा गया ? रमणी ! शीघ्र बता-वह घमडी कोशल सम्राट कहा गया ?' अजातशत्रु की समस्त प्रतिहिसा, उसका क्रोध और प्रसेनजित की रक्त लिप्सा मल्लिका के उपदेश से सहसा शान्त हो जाती है। मल्लिका के शान्त वचनो को सुनकर वह मुग्ध सा बैठ जाता है। हृदय नम्र होकर आपही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। 'ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी सुनी नही'—कह कर वह मल्लिका से क्षमा मागता है और कोशल पर अधिकार करने की इच्छा त्याग देता है। मल्लिका के प्रभाव से अजातशत्रु के स्वभाव मे यह आकस्मिक परिवर्तन अस्वाभाविक लगता है। विकटघोष और सुरमा भी हर्ष और राज्यश्री के सम्मुख अपने कुकृत्यों पर आश्चर्य प्रकट करते हैं और काषाय ग्रहण करते हैं। पात्रो म इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन प्रसाद के नाटको म कुछ ही स्थलो पर हुये हैं। पात्रो के चरित्र मे स्वाभाविक परिवर्तन और परिणति के पर्याप्त दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। चाणक्य के प्रभाव तथा परिस्थितियों के दबाव से पर्वतेश्वर मे स्वाभाविक परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन उसके मूल सस्कार के अनुकूल है। स्कन्दगुप्त म भटार्क के चरित्र की विकास-शृखला सर्वथा स्वाभाविक है। महत्वाकाक्षा और प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर वहस्कन्द का विरोध तथा उसके साथ विश्वासघात करता है, पर देश की दीन अवस्था और अपनी माता कमला के प्रभाव के कारण उसके चरित्र का परिवर्तन सर्वथा स्वाभाविक हो जाता है। मागन्धी मे महात्मा बुद्ध के कारण सत्प्रवृत्तिया जागृत होती है। उसने जीवन म उत्थान पतन के पर्याप्त दृश्य देखे है। अन्त मे वह आम्रपाली है—जिस समय बुद्ध का आश्रय पाती है। मागन्धी का पूरा जीवन और उसके जीवन म चढाव-उतार के भिन्न चित्र देखने से उसके चरित्र का परिवर्तन सर्वथा स्वाभाविक हो जाता है। सघ की शरण मे अपनी समस्त सम्पत्ति अर्पित कर वह सासारिक झझटो से विश्राम पाती है। उसके चरित्र मे कार्य की तीव्रता और नाटकीयता है। उसके चरित्र से सम्बद्ध परिवर्तन का दृश्य प्रसाद के चरित्र-शिल्प का प्रबल प्रमाण है।

प्रसाद के नाटकों में वीर, शृङ्गार और शान्त रस की प्रधानता है। वीर रस के माध्यम हैं–देशानुराग और आत्मगौरव की रक्षा की भावना। नाटककार ने ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जिनके लिए देशप्रेम और अखण्ड आर्यावर्त की रक्षा विश्वास और पवित्र धर्म है। केवल कर्म को पूरा करने के लिए ही उन्होंने त्याग नहीं किया है। सिंहरण और बन्धुवर्मा के जीवन का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक शब्द इस बात का प्रमाण है। वीर रस के अनुकूल चरित्र-सृष्टि में चन्द्रगुप्त और पर्णदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि के चरित्र प्रमुख हैं। शृङ्गार में प्रसाद का कवि रूप जागृत हो उठता है। उन्होंने ऐसे चरित्रों की सर्जना की है, उनमें ऐसी तीव्र आकांक्षा का वेग है–जिसमें वे अपने को विलीन कर देने के लिये व्याकुल हैं।

यौवन और उद्दाम वासना की उष्ण गन्ध की अभिव्यक्ति विजया और मागन्धी जैसे पात्रों द्वारा होती है। सुवासिनी की भावना की अभिव्यक्ति उसके गीतों और सम्वादों द्वारा हुई है। गौतम, व्यास, और मिहिरकुल जैसे पात्रों की उपस्थिति तथा स्कन्द जैसे सांसारिक वैभव और संघर्ष से उदासीन पात्र प्रसाद के नाटकों में शान्त रस की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। इस सन्दर्भ में डा० इन्द्रनाथ मदान का यह वक्तव्य–'जब आवेग चाहे वह मधुर हो या परुष उबलकर सीमा तोड़ना चाहता है तभी शान्त रस के छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशान्ति की ओर बहता हुआ मिलता है यही प्रसाद के नाटकों का प्रसादान्त होना है।[1]'

चरित्र-शिल्प में सजग नाटककार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि नाटक के प्रत्येक पात्र में सन्तुलन स्थापित करने के साथ नाटक के विभिन्न पात्रों में भी सामंजस्य का ध्यान रक्खे। विभिन्न चरित्र इकाइयों में सन्तुलन से तात्पर्य है कि नायक, प्रतिनायक और खलपात्र योग्यता और कार्य के अनुसार नाटक में उचित स्थान प्राप्त करें। फल के अधिकारी पात्र को प्रमुखता प्राप्त होनी चाहिए। चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य जैसे पात्र रहते हुए भी फल का अधिकारी होने के कारण चन्द्रगुप्त का नायकत्व सुरक्षित है। किन्तु नायिका का स्थान सन्दिग्ध हो उठता है। स्त्री पात्रों में अलका का कार्य प्रमुखता प्राप्त कर लेता है, पर वह नाटक की नायिका पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। कल्याणी पर्याप्त दूरी तक चलती है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य से आरम्भ कर चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य तक विभिन्न रूप में वह नाटक में वर्तमान है। अन्त में सहसा आत्महत्या कर लेती है और कार्नेलिया का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। नियमानुसार उसे नायिका का पद प्राप्त होता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में जिस प्रकार विभिन्न चरित्रों में सन्तुलन स्थापित हो सका है वैसा चन्द्रगुप्त में नहीं हो पाया है। स्कन्दगुप्त के नायक और पुरगुप्त के प्रति-

---

१. डा० इन्द्रनाथ मदान–'जयशंकर प्रसाद' सम्पादित, पृष्ठ १७०।

नायक होने में कोई सन्देह नहीं है। अजातशत्रु में अजातशत्रु और विरुद्धक विद्रोही राजकुमार हैं। अजातशत्रु की अपेक्षा विरुद्धक में वेग और स्वावलम्बन अधिक है। क्योंकि वह प्रकृत्या दुर्वृत्त है जबकि अजात ससर्ग और परिस्थितियों के कारण उद्दण्ड और अमर्यादित हुआ है। अजातशत्रु गौतम और मल्लिका दोनों से प्रभावित है। यद्यपि आरम्भ में वह उनका विरोधी था, परन्तु क्रमश उनके महत्व को स्वीकार कर उनका अनुवर्ती बन जाता है। ऐसी स्थिति में गौतम और मल्लिका प्रमुख पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं।'[1] गौतम और मल्लिका को प्रमुखता प्राप्त होना चरित्र शिल्प की दृष्टि से त्रुटि मानी जायेगी। प्रत्येक पात्र का विरोधी चरित्र उपस्थित होने के कारण पात्रों की स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाई है तथा विभिन्न पात्रों में सन्तुलन स्थापित करना भी कठिन हो गया है। नाटक के पात्र बहुल होने तथा विरोधी आचार विचारों के पात्रों तथा संघर्ष मूलक परिस्थितियों के बाहुल्य के कारण न तो एक एक पात्र की स्थिति स्पष्ट हो पायी है और न विभिन्न पात्रों में सामजस्य स्थापित हो सका है।

'अजातशत्रु' में नायिका की स्थिति तो और भी सदिग्ध है। नाट्य शास्त्र के नियमों को ध्यान में रखकर नाटक की रचना नहीं हुई—फिर भी मल्लिका को प्रमुख स्थान देना अनुचित जान पड़ता है। शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी पूर्णत स्वच्छदतावादी है—वस्तु में तो भारतीय नाट्य-शास्त्र को उन्होंने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। वाजिरा नाटक के अन्त में आती है। उसके पहले नाटक में कहीं उसकी चर्चा भी नहीं आयी है। अजातशत्रु के समान फल की अधिकारिणी वह होती है—फिर भी उसको जो प्रमुखता प्राप्त होनी चाहिए वह नहीं हो सकी है। गौतम और मल्लिका के कारण सभी चरित्रों की अन्त में मानो सगति बैठा दी गयी है। चरित्रों के सामजस्य की दृष्टि से प्रसाद जी का 'स्कन्दगुप्त' उनके बड़े नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है।

स्कन्दगुप्त नायक और देवसेना नायिका है। विजया के चरित्र का विश्लेषण बहुत ही मार्मिक ढग से हुआ है, तथा उसमें आये हुए परिवर्तन म नवीय दृष्टि से असगत नहीं कहे जा सकते। विजया के विरोधी चरित्र के द्वारा नाटककार ने देवसेना के चरित्र को और भी उज्ज्वल तथा उदात्त बना दिया है। विजया अन्त म आत्म हत्या कर रगमच से हट जाती है। देवसेना के चरित्र की प्रत्येक रेखा विजया के चरित्र की सापेक्षता में अधिक आभायुक्त तथा गरिमा-मण्डित हो उठती है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' म नायक और नायिका की स्थिति सुनिश्चित है। प्रतिनायक के रूप में तक्षक का नियोजन पुराणेतिहास सम्मत है तथा उसे उचित

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . 'जयशकर प्रसाद', पृष्ठ १२९।

स्यात प्राप्त हुआ है। यहा भी अनावश्यक पात्रो की योजना के कारण चरित्रों का सम्यक् विकास नहीं हो पाया है। वेद, त्रिविक्रम और च्यवन अनावश्यक रूप से पुरुष पात्रों मे आये हैं। दामिनी के कारण उत्तक की सृष्टि हुई है—ऐसे उत्तक के चरित्र मे वेग तथा सक्रियता है। जनमेजय की प्रतिहिंसा को उद्दीप्त करने मे उसका पूरा योग है तथा उसमे स्वाभिमान और दृढता है। अश्वसेन का नाटक मे कोई प्रयोजन नही है, वह केवल एक दृश्य मे कामुक और मद्यप के रूप म चित्रित हुआ है। दो जातियो के सघर्ष को चित्रित करने के कारण पात्रो का बाहुल्य हुआ है यही कारण है कि चरित्रो का पूरा विकास नही हो पाया है।

'ध्रुवस्वामिनी' मे विभिन्न चरित्र इकाइयों का सम्यक रूप से सन्तुलन हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रमुख पात्र है-जिसके चरित्र के आधार पर नाटक की रचना हुई है। 'ध्रुवस्वामिनी' के चरित्र चित्रण द्वारा प्रसाद जी ने नारी की एक ज्वलन्त प्राचीन समस्या का समाधान किया है। कोमा और मन्दाकिनी के द्वारा नारी की विभिन्न स्थितियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। पात्रो के मूल सस्कार परिस्थितियो के सदर्भ म विकसित हुए हैं। पुरुष पात्रो में रामगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा शिखर स्वामी प्रमुख हैं। रामगुप्त और चन्द्रगुप्त इन दो विरोधी पात्रो की अवतारणा से इनकी चारित्रिक विशेषताओं का निखार और प्रभावोत्पादक ढग से हुआ है। रामगुप्त की निर्बलता और क्लैब्य की तुलना मे चन्द्रगुप्त का शौर्य और पराक्रम अत्यधिक उद्भासित हो उठा है। परस्पर पात्रो के सतुलित विकास से नाटक की अभिनेयता भी अक्षुण्ण है। प्रसाद का यह अन्तिम नाटक है-पर प्रसाद की नाट्य-कला का चरम उत्कर्ष स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त मे ही हुआ है। ध्रुवस्वामिनी प्रसाद के लिए एक नवीन प्रयोग है जिसमे उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

प्रसाद के लघु तथा बड़े नाटको मे चरित्रो का सघटित रूप देखने के लिए एक ही निकष अपनाना अनुचित होगा। छोटे नाटकों मे जीवन की विस्तृत भूमिका नही आ पायी है, इसलिए पात्रो के चरित्र के विभिन्न पक्ष उभर कर सामने नहीं आ सके हैं। 'विशाख' मे प्राचीन वातावरण प्रस्तुत कर नाटककार ने कल्पना के आश्रय से एक प्रणय कथा के द्वारा सामयिक समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रेमानन्द के द्वारा सत्य और अहिंसा के माध्यम से वैयक्तिक और राजनैतिक समस्याओ के समाधान का सन्देश दिया गया है। 'राज्यश्री' के समग्र कथानक मे चरित्रो का सघटित रूप इसलिये कलात्मक नहीं हो पाया है कि पात्रो की बाहुलता है और घटनाओं के भार से कथानक बोझिल हो उठा है। पात्र जब नाटक मे आदि से आदि अन्त तक सवाद और कार्यों से सुगुम्फित रूप मे कथावस्तु को गतिशील करते हैं तभी उनके चरित्र का सम्यक विकास होता है तथा प्रभावान्विति और रससिद्धि मे सहायता प्राप्त होती है। इसमे प्रासगिक कथा मे आए चरित्रों का भी योग रहता है। 'राज्यश्री' मे प्रमुख पात्र के चरित्र का भी

सम्यक विकास नहीं हो पाया है। इतना आवश्यक है कि उसे केन्द्र में रखकर नाटककार ने देवगुप्त और विकट घोष के चरित्र का विकृत रूप प्रस्तुत किया है। नारी पात्रों में केवल राज्यश्री और सुरमा ही प्रमुख पात्र हैं, इसलिए इनके चरित्र का समग्र कथानक में सामंजस्य स्थापित हो सका है। सुरमा से वस्तु को गति मिलती है। प्रसाद जी ने कल्पित पात्रों के चरित्र के निर्वाह में अधिक कौशल का परिचय दिया है।

'जनमेजय का नाग यज्ञ' में प्रमुख पात्रों की स्थिति समग्र कथानक में अधिक सुगठित हो सकी है। जनमेजय, तक्षक और वासुकि प्रभृति पात्र अपने-अपने स्थान पर सुनियोजित हैं। स्त्री पात्रों में वेद की पत्नी दामिनी और शीला को छोड़कर अन्य पात्र वस्तु को सक्रिय करते हैं। वपुष्टमा, सरमा, मनसा और मणिमाला के चरित्र में पर्याप्त विभिन्नता है। वेद, त्रिविक्रम और अश्वसेन का चरित्र समग्र कथानक में नगण्य-सा है। माणवक अपनी माता के साथ हुए वार्तालाप में इस बात की सूचना देता है कि आगे चलकर वह घटना-चक्र में महत्वपूर्ण योग देगा। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में वह अपमान का प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करता है किन्तु सरमा की इच्छा के विरुद्ध वह कोई कार्य करने में असमर्थ है। प्रमुख पात्रों को छोड़कर अन्य पात्रों की स्थिति नगण्य-सी है।

'ध्रुवस्वामिनी' के सभी पात्र समग्र कथानक में अपने-अपने स्थान पर सुनियोजित हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि इस नाटक में अन्य नाटकों के समान पात्रों की बहुलता नहीं है। नारी पात्रों में ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त कोमा प्रमुख चरित्र है। कोमा की मानसिक व्यथा अथवा मार्मिक अवस्था का चित्रण स्वाभाविक एवं भावनाओं के अनुकूल हुआ है। चन्द्रगुप्त के साहस और शौर्य के चित्रण से रामगुप्त की दुर्बलतायें और भी मुखर हो उठी हैं। यथार्थवाद की भूमिका पर आधारित समस्या नाटकों में बौद्धिकता की प्रधानता रहती है। इस दृष्टि से बौने, हिजड़े और कुबड़े पात्रों की सृष्टि अनुचित कही जा सकती है, पर नाटकीय वातावरण को प्रभावशाली बनाने में इन पात्रों का निर्माण सहायक हुआ है। शिखरस्वामी जैसे चाटुकार मन्त्री की योजना रामगुप्त सदृश राजा के लिए उचित है। शिखरस्वामी की मन्त्रणा वस्तु को गतिशील बनाने में सहायक होती है। मन्दाकिनी की योजना चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में सम्बन्ध स्थापित करने तथा उसमें स्थापित प्राचीन प्रणय-बीज को अंकुरित और पुष्ट करने में पूर्णतया चरितार्थ हुई है। निर्भीकता पूर्वक मन्दाकिनी ने अपना कार्य सम्पादित किया है।

'अजातशत्रु' का समग्र कथानक विरोध और परिहार की भूमिका पर आधारित है। इस नाटक की रचना शास्त्रीय नाट्य शैली पर न होकर बाह्य द्वन्द्व की भूमिका पर हुई है। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से नायक और प्रतिनायक

ढूंढना अनुचित है। नाटक का प्रमुख पात्र अजातशत्रु है। नायिका की स्थिति संदिग्ध है। छलना घटना चक्र को घुमाने में धुरी का कार्य करती है और शक्तिमती भी अधिक वेग से वस्तु को गतिशील बनाने में योग देती है। विरुद्धक को विद्रोही बनाने के लिए प्रोत्साहित करती है और उसे बलपूर्वक अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रेरणा देती है, पर न तो छलना प्रमुख पद की अधिकारिणी हो सकती है और न शक्तिमती। मल्लिका के कारण प्रसेनजित शक्तिमती और विरुद्धक को क्षमा प्रदान करता है। किन्तु मल्लिका को भी नायिका पद नही प्राप्त हो सका। इस प्रकार समग्र कथानक मे नायिका का स्थान निर्धारण करना कठिन हो जाता है।

घटना और पात्रो के बाहुल्य के कारण चरित्रो का सम्यक विकास नही हो पाया है। कुछ पात्र तो इतना कम सामने आ पाये हैं कि उनके चरित्र के विषय मे विशेष ज्ञान नहीं होता है, तथा कथानक मे उनकी स्थिति के विषय मे भी कुछ कहना कठिन हो जाता है। नारी पात्रों मे वासवदत्ता तथा पुरुष पात्रो मे सुदत्त, बन्धुल, लुब्धक, सारिपुत्र और आनन्द के चरित्र का एक पक्ष, वह भी बहुत ही साधारण रूप से स्पष्ट होता है। इन पात्रो के बिना भी नाटक की रचना संभव है। कौशाम्बी से सम्बद्ध पात्र प्रायः अनावश्यक से दिखाई पड़ते हैं। गौतम और मल्लिका मे शायद मल्लिका को ही केवल स्थान मिला होता तो मल्लिका के चरित्र का अधिक विकास होता। नाटकीय दृष्टि से वस्तु को भी अधिक गतिशीलता प्राप्त होती। नाटक का प्रमुख-पात्र अजात गौतम से भी अधिक मल्लिका से प्रभावित दिखाया गया है। गौतम के पूछने पर कि—'क्यो कुमार तुम राज्य का कार्य मन्त्रि-परिषद् की सहायता से चला सकोगे ?' वह कहता है—'क्यो नही ? पिता जी यदि आज्ञा दें।' पर यही उद्धत अजात प्रसेनजित का रक्त-लोलुप मल्लिका के शान्त वचन सुनकर सहसा अपने विचारो मे परिवर्तन कर लेता है। ऐतिहासिक मर्यादा की दृष्टि से भी गौतम की अपेक्षा मल्लिका से अजात को अधिक प्रभावित करना अनुचित जान पड़ता है।

उदयन के विदूषक वसन्तक के चरित्र को नाटककार ने संस्कृत नाटकों के विदूषक के समान ही चित्रित किया है। वह पेटूपन तथा ब्राह्मण भीरुता के चित्र उपस्थित कर हास्य उत्पन्न करता है। वह मगध के राजवैद्य जीवक को कुछ सूचनायें अवश्य देता है, जिससे घटनायें शृङ्खलाबद्ध होती हैं। ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए प्रमुख पात्रों के चरित्र का संगठन नाटक मे बहुत त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जायेगा। इतिहास जहा स्वच्छन्दतावादी कलाकार को वस्तु देता है, वही नाट्य-साहित्य को इतिहास का बन्धन भी स्वीकार करना पड़ता है। सुसंगति और कुसंगति के प्रभाव से प्रभावित होने वाले पात्रों को यदि दो श्रेणियां कर दी जाय तो प्रमुख पात्रों का संगठन तथा उनके विरोधी चरित्रो का परिणाम कथानक के साचे मे बहुत कुछ

सुसगत हो जाय । नारी पात्रो मे वासवी, छलना, शक्तिमती, मल्लिका और मागन्धी का चरित्र प्रमुख है। पद्मावती, वासवदत्ता और वाजिरा को बहुत गौण स्थान प्राप्त हुआ है। वाजिरा रोमैन्टिक नायिका के रूप मे अन्त मे आती है। अजात से विवाह होने के कारण उसे महत्व प्राप्त हो जाता है तथा दो राजवशो मे मैत्री स्थापित होती है। ऐसे नाटक के कथानक मे उसका योग नगण्य ही है।

पुरुष पात्रो मे बिम्बसार, प्रसेनजित और उदयन तीनो का व्यक्तित्व विभिन्न भूमिका पर चित्रित हुआ है। यदि भावुक और कला प्रेमी उदयन को नाटक से अलग कर दिया जाय तो भी प्रमुख कथानक के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नहीं आता।

'स्कन्दगुप्त मे चरित्रो का सगठन अन्य नाटको की अपेक्षा अधिक सुसगठित हुआ है। नाटक का नायक स्कन्दगुप्त आरम्भ से अन्त तक शत्रुओं और अन्तर्विद्रोह से देश की रक्षा करने मे सलग्न है। बाह्य और अतर्द्वन्द्व के आधार पर परस्पर विरोधी चरित्रो का नियोजन नाटककार ने सफलतापूर्वक किया है। अजातशत्रु मे बाह्य द्वन्द्व की प्रमुखता है, किन्तु स्कन्दगुप्त मे बाह्य और अन्तर्द्वन्द्व के संतुलित विकास के आधार पर चरित्रो का विश्लेषण हुआ है। वैयक्तिक चरित्र की विशेषताओ को राष्ट्र हित से सम्बद्ध करके नाटककार ने वैयक्तिक और राष्ट्रीय भूमिका पर चरित्रो को विकसित किया है। स्कन्दगुप्त का प्रतिद्वन्दी पुरगुप्त है। अन्तर्विद्रोह मे सलग्न तथा सकीर्ण मनोवृत्ति से युक्त भटार्क और शर्वनाग जैसे पात्र इसके सहायक हैं। राष्ट्र और गुप्त साम्राज्य की मर्यादा की रक्षा के प्रति समर्पित पर्णदत्त, चक्रपालित, पृथ्वीसेन तथा गोविन्दगुप्त स्कन्दगुप्त के सहायक हैं। एक ओर राष्ट्र रक्षा तथा गुप्त साम्राज्य के गौरव की रक्षा का प्रश्न है तो दूसरी ओर पुरगुप्त को उत्तराधिकारी नियुक्त करने का षड्यन्त्र चल रहा है।

दोनो वर्ग के पात्रो मे अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए पूर्ण सक्रियता है। गृह कलह, बाह्य आक्रमण तथा प्रेम इन प्रश्नो के समाधान के लिए सभी पात्र प्रयत्नशील है। कुछ अनावश्यक दृश्य अवश्य आ गए हैं इसलिए अनावश्यक रूप से कथा-वस्तु का विस्तार हुआ है। मुद्गल और धातुसेन मे धातुसेन प्राचीन नाटको के विदूषक के समान नही है। उसके सवाद मे मनोरजन के तत्व है तथा उसमे विचार शीलता है। वह अपना मनतव्य इस प्रकार व्यक्त करता है कि मनोरजन के साथ तथ्य की भी अभिव्यक्ति होती है। मुद्गल सस्कृत नाटक के विदूषक के अधिक समीप है। उसके स्वभाव मे मनोरजन की प्रमुखता है तथा उसमे सहानुभूति की भी भावना है। राजपरिवार के समाचारों के आदान-प्रदान मे उसका उपयोग हुआ है। बन्धुवर्मा और भीमवर्मा का नियोजन राष्ट्र-प्रेम और त्याग का आदर्श प्रस्तुत करता है। भीमवर्मा का कार्य यद्यपि नाटक मे नगण्य के समान है। प्रपच बुद्धि और प्रख्यातकीर्ति का चरित्र भी बहुत ही साधारण रह गया है।

नारी पात्रो मे देवकी का स्थान नाटक मे नगण्य के समान है। स्कन्दगुप्त की माता होने के कारण उसे अधिक महत्व प्राप्त होना उचित था। अन्य नारी पात्रो मे

अनन्तदेवी के चरित्र को विकसित होने के लिये पूर्ण अवकाश प्राप्त हुआ है। जयमाला, मोमा और कमला के कार्यों से वस्तु के विकास मे सहायता मिलती है। देवसेना और विजया के विरोधी चरित्र से दोनो की विकास-रेखायें भली भांति उभर सकी हैं।

चन्द्रगुप्त प्रसाद का सबसे बडा नाटक है जो देश और काल की व्यापक पीठिका पर लिखा गया है। राष्ट्रीयता का उदात्त आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से नाटककार को बहुत से पात्रों की योजना करनी पडी है। चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है। चाणक्य का सशक्त चरित्र इतिहास प्रसिद्ध है। ऐसे चरित्रो को नाटक के नायक व्यक्तित्व पर पूरी तरह हावी होने से बचा लेने मे नाटककार की कला कुशलता का परिचय मिलता है। उसका स्थान चन्द्रगुप्त के सहायक और मत्री के रूप मे है। आदि से अन्त तक वह नाटक की समस्त घटनाओ के केन्द्र मे स्थित है। चाणक्य जैसे महाकाव्योचित नायक को सहायक के रूप मे सम्भालना अति दुष्कर कार्य है, किन्तु प्रसाद की कला-कुशलता का ही प्रमाण है कि चाणक्य के अप्रसन्न होकर चले जाने के बाद चन्द्रगुप्त अपने बाहुबल पर विश्वास करता है और नायक की मर्यादा के अनुकूल आत्मबल का परिचय देता है। यहाँ प्रतिनायक की स्थिति संदिग्ध है। अलक्षेन्द्र और नन्द मे अलक्षेन्द्र तो तृतीय अक के तीसरे दृश्य मे ही प्रयाण कर देता है। नन्द भी तृतीय अक के अतिम दृश्य मे आत्महत्या कर लेता है। यदि नाटक तृतीय अक मे ही समाप्त हो जाता है तो प्रतिनायक का अधिकारी नन्द हो सकता था। राक्षस नाटक के अन्त मे अपनी पराजय स्वीकार करता है, पर उसका चरित्र इस प्रकार चित्रित हुआ है कि प्रतिनायक के गौरव को वह नही प्राप्त कर सकता। उसकी प्रतिस्पर्धा चाणक्य से ही अधिक है। राक्षस चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी हो सकता है, नाटक का प्रतिनायक नही। इस प्रकार प्रतिनायक की नियोजना नाटक मे अच्छी तरह नही हो सकी है।

अलक्षेन्द्र, सिल्यूकस, पर्वतेश्वर और सिंहरण अपने अपने स्थान पर सुनियोजित हैं और समग्र कथानक मे उनका सगठन वस्तु-विकास की दृष्टि से उचित हुआ है। प्रथम दो अलक्षेन्द्र और सिल्यूकस चद्रगुप्त के प्रतिपक्षी हैं। आम्भीक उनका सहायक है। पर्वतेश्वर के चरित्र मे परिवर्तन आया है। अन्त मे वह राष्ट्र-रक्षा की भावना से जो उसके मूल सस्कार मे सन्निहित है, चन्द्रगुप्त की सहायता करता है। आम्भीक प्रथम तो बहुत ही सक्रिय है, उसके चरित्र मे आया हुआ परिवर्तन भी परिस्थिति को देखते हुए स्वाभाविक हो जाता है।

नारी पात्रो मे सुवासिनी, कल्याणी, अलका, मालविका और कार्नेलिया प्रमुख हैं। प्रतिनायक के समान नाटक मे नायिका की स्थिति भी संदिग्ध है। देश के प्रति कर्तव्य और प्रणय की क्षीण रेखा के बीच इनके चरित्र का विकास हुआ है। अपने कर्तव्य का निर्वाह देश-भक्ति और प्रणय की मर्यादा को रक्षा करते हुए सभी

पात्रों ने समग्र कथानक में आद्योपान्त किया है। इसमें राष्ट्र प्रेम और बलिदान का स्वरूप ही अधिक उभर आया है। मालविका के मूक बलिदान का नियोजन बहुत ही कलात्मक हुआ है। इस दुखद घटना के बाद चन्द्रगुप्त के चरित्र को विकसित होने का एक और अवसर उपस्थित होता है। इस नाटकीय स्थिति,को उत्पन्न करने में मालविका की हत्या का योग है। नायिका की स्थिति के विषय में यह मत कि किसी भी अच्छे नाटक के लिए यह दोष ही है कि नायिका की स्थिति सुव्यवस्थित न होने पाये, नाटक के पूरे प्रवाह में प्रमुख पात्रों का सस्थान होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो किसी पात्र की सापेक्षित प्रमुखता में सन्देह हो जाता है[1] ध्यान देने योग्य है।



---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १६६

११ शिल्प-दृष्टि से संवाद, गीत और भाषा-योजना

शिल्प की दृष्टि से संवाद-योजना

नाट्य-शिल्प के अन्तर्गत सवाद योजना को सर्वोपरि उपजीव्य माना गया है । कथावस्तु तथा चरित्र को गतिमान करने का एकमात्र माध्यम है सवाद । किसी भी नाटककार को, नाटक लिखने के लिए मुख्य रूप से तीन तत्व अपेक्षित हैं । वस्तु जिस पर नाटक की नीव खडी होती है, चरित्र, जो वस्तु-विन्यास के आधार अग हैं, माध्यम, जिसके द्वारा दोनो अभिव्यक्ति पाते हैं और यही माध्यम स्पष्ट शब्दो में सवाद कहा जा सकता है [1]। नाट्य अवयवो की सगतिया सवाद की प्रवहमानता, सहजता, तार्किकता तथा स्वाभाविकता पर आधारित होती हैं । नाट्य समग्रता मे आभा बिखेरने का सम्पूर्ण श्रेय सवाद तत्व को है । 'सफल नाटककार का कथोपकथन उस सफल वायुयान के सदृश युगपत विविध कार्य करता है, जो कभी जल पर सतरण, कभी स्थल पर सचरण और कभी आकाश मे विचरण करता हुआ दृष्टिगत होता है । जिस कथोपकथन मे जितनी अधिक चरित्र चित्रण की क्षमता, व्यापार-प्रसार की योग्यता और रस-परिपाक के लिए भावोद्बोधन की तीव्रता होगी वह उतना ही उत्तम माना जायगा ।[2] आंग्ल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर के नाटकीय सवादो मे उनके व्यक्तित्व का 'फोकस' सर्वत्र व्याप्त है । उसके सवादो मे कल्पना और भावना की प्रधानता है जो नाटककार के स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व का द्योतन करती है । उसके पात्र जो सवाद बोलते हैं उसमे मानवीय सवेदना का स्वाभाविक अभिव्यजन है जीवन व्यापारो की सहज परिव्याप्ति है । इससे स्पष्ट है कि महान नाटककार का जीवन-दर्शन उसके सवादो मे निहित रहता है । प्रसाद के

---

१ हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० १०९

२ हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ३६०

लिए भी यही कहना होगा कि उनकी सम्वाद योजना मे उनके उस व्यक्तित्व की प्रतिछाया विद्यमान है, जो व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के प्रति गहन आस्था रखने वाला था, राष्ट्र प्रेम की भावना से अनुरंजित था, स्वच्छन्दतावादी प्रेम का हिमायती था, मानवीय अन्तर्द्वन्द्वो, भावनाओ आदि का पूर्ण ज्ञाता था, और रूढ़ियो तथा साथ ही साथ सामाजिक बन्धनों एवं कुरूपताओं का विरोधी था।[1] प्रसाद के संवाद कथानक को गतिशील बनाने म सक्षम हैं और चारित्रिक वैविध्य को उपस्थित करने म भी सफल हैं। हा, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके सम्वादों की भाषा कल्पना तथा भावना प्रधान है, इससे उनके स्वच्छन्दतावादी व्यक्तित्व की ही सूचना मिलती है। वे 'भाषा की एकतन्मता'[2] नष्ट करने के पक्ष मे कदापि नहीं है। प्रगीतात्मकता तो स्वच्छन्दतावादी नाट्य भाषा के अंग रूप में स्वीकार्य है।[3] इस प्रसंग म आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत यहाँ उद्धृत करना अपेक्षित है। शैली और वस्तु दोनो म प्रसाद जी के नाटकों मे काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली काव्यात्मक है और पात्रो द्वारा कथित सम्वादो मे भी काव्य की प्रमुखता है। उनम काव्य भावना की विशेषता है। प्रसाद ने अपने नाटको को यथार्थ-वादी भूमि पर नही रखा, उनकी शैली म चमत्कार तथा काव्यात्मकता है शैली की विशदता के साथ ही प्रसाद के सम्वाद भी भावात्मक हैं, बौद्धिक नहीं, उनमे कोरी बौद्धिकता, सम्भाषण पटुता उक्ति वैचित्र्य नही है। इस दृष्टि से उन्होंने नाटको का माध्यम गद्य ही रखा है, परन्तु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है।[4] अब हम उनके नाटकों से कुछ उदाहरण लेकर सम्वाद शिल्प की परीक्षा करेंगे —

'राज्यश्री' 'प्रसाद' की मौलिक नाट्य परम्परा की प्रथम रचना है। उसके सम्वाद शिल्प के नियोजन मे नाटककार की कला का प्रयोगकालीन-रूप दृष्टिगोचर होता है। फिर भी, इसके सम्वाद छोटे छोटे हैं और उनकी भाषा भी सरल है, जहा कही दार्शनिक उद्भावनाएं हैं, वही पर भाषा मे कुछ विशेष काव्यात्मकता और गम्भीरता का समावेश दिखाई पड़ता है, पर ऐसे स्थान कम हैं। कथावस्तु को गति देने म तथा चरित्र की विशिष्टता को उद्घाटित करने म सम्वाद सहायक हुए हैं। एक उदाहरण से बात विशेष स्पष्ट हो सकेगी —

---

१ हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० १०९
२ काव्यात्मा तथा अन्य निबन्ध, 'प्रसाद' (प्रथम सं०) पृ० ११९
3 In the romantic drama, above all in that of Spain and England, the lirical element is part and parcel of the dramatic structure, bone of its and flesh of its flesh

—Types of Tragic Drama, page 162.

४ जयशंकरप्रसाद, पृ० १५४

प्रति०—महादेवी की जय हो। मन्त्री महोदय आ रहे हैं।

राज्य०—आने दो।

मन्त्री—(प्रवेश करके) महादेवी की जय हो। कुछ निवेदन

राज्य०—कहिए—कहिए—

मन्त्री०—सीमा प्रान्त से युद्ध का सन्देश आया है।

राज्य०—(स्वस्थ होकर) मन्त्री इसी बात को कहने मे आप सकुचित होते थे। क्षत्राणी के लिए इससे बढकर शुभ समाचार कौन होगा। आप प्रबन्ध कीजिए मैं निर्भय हू।[1]

उपर्युक्त स्थल से सम्वाद का छोटा और सरल होना सिद्ध होता है, उससे कथावस्तु की गतिशीलता का भी पता लगता है और साथ ही साथ राज्यश्री के उस चारित्रिक गौरव का अभिज्ञान होता है, जिसमे क्षत्राणी का शुद्ध रक्त प्रवहमान है, जो रण का सम्वाद सुनकर निर्भयतापूर्वक झूम उठता है।

'राज्यश्री' की अपेक्षा सम्वाद—शिल्प का कुछ विकसित रूप हम 'विशाख' मे दिखाई पडता है। इसके सम्वादो मे सरसता की एकतन्त्रता की बहुत दूर तक रक्षा हो सकी है। कारण भी स्पष्ट है कि इस नाटक की ऐतिहासिकता को केवल भूमिका रूप म ही स्वीकार किया जा सकता है, इसके इतिहास की रक्षा करने मे 'प्रसाद' तत्पर नहीं दिखाई पडते। क्योंकि 'राजतरंगिणी' के कथा क्रम को उन्होंने केवल प्राचीन वातावरण के रूप मे ही स्वीकार किया है क्योंकि चन्द्रलेखा को केन्द्र मे रखकर पूरा कथानक गतिशील होता है। परिणामत उसकी भावना और कल्पना को रमने के लिए पर्याप्त अवसर मिला है जिससे सम्वाद काव्यत्व की ओर उन्मुख हैं। अधिकतर सम्वाद छोटे हैं और कथा प्रसार तथा चरित्रविश्लेषण मे सहायक भी। सम्वाद नियोजन मे पात्रो की योग्यता के साथ ही साथ अवस्था और परिस्थिति का भी ध्यान रखा गया है। चन्द्रलेखा जिस समय चोरी से फलिया तोडते हुये विशाख के सामने आती है उस समय उसमे सकोच, दीनता तथा अपरिचिता के भाव हैं परन्तु जब उससे पूर्ण परिचित हो जाती है और अपनी तरफ उसकी आसक्ति का भान कर लेती है तब नि सकोच हो जाती है और प्रेमालाप के साथ एक रूप-गर्विता प्रेमिका की भाति दिखाई पडती है।

प्रेम प्रसग सम्बन्धी सम्वादो के नियोजन मे 'प्रसाद' निश्चित रूप से विशेष रमे हैं। फलस्वरूप उनके ऐसे सम्वादो मे काव्यत्व की सृष्टि हो जाती है। 'विशाख' के प्रणय व्यापार से सम्बद्ध कथोपकथनो मे 'प्रसाद' का युवक व्यक्तित्व झलक मार रहा है जिसमे प्रेम की वह, मानसिक परिपक्वता नही आ सकी है जैसा हम उनके

१ 'राज्यश्री' प्रसाद (सातवां स०) पृ०—२२-२३

'चन्द्रगुप्त' और स्कन्द-गुप्त' आदि नाटकों में देखते हैं। 'विशाख' के प्रेम सम्वादों में हलकापन है और उनमें उन्माद की प्रधानता भी। 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' के प्रणय-मिश्रित सम्वादों में प्रेम का शाश्वत सन्देश निहित है और उनमें भावनाओं का उदात्तीकरण हुआ है। उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकेगी।

'विशाख'—फिर भी, फिर भी क्या, वही उतना ही कह दो।

चन्द्रलेखा—यही कि जब तुमसे बातचीत होने लगती है तब मेरा मन न जाने कैसा कैसा करने लगता है। तुम्हारी सब बात स्वीकार कर लेने की इच्छा होती है। तो भी   विशाख—तो भी। फिर वही तो भी, और तो भी क्या ?[1]

स्कन्द०—देवसेना! बन्धुवर्मा की भी तो यही आज्ञा थी।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट! उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्द०—देवसेना! एकान्त में किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।

देवसेना—तब तो और भी नहीं। मालव का महत्व तो रहेगा ही परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिये। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी! सम्राट क्षमा हो। इस हृदय में आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न कोई दूसरा आया और न वह आएगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।[2]

मालविका—(प्रवेश करके) सम्राट की जय हो।

चन्द्रगुप्त—मैं सबसे विभिन्न एक भय प्रदर्शन सा बन गया हूँ। कोई मेरा अन्तरंग नहीं, तुम भी मुझे सम्राट कहकर पुकारती हो।

माल०—देव, फिर मैं क्या कहूँ ?

चन्द्र०—स्मरण आता है—मालव का उपवन और उसमें अतिथि के रूप में मेरा रहना।

---

१ 'विशाख'—(पंचम सं०) पृ० ४३

२ स्कन्दगुप्त—पृ०-१४०।

माल०—सम्राट, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं।

चन्द्र०—संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व ! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त-चिन्ह लगा देता है। मालविका तुम मेरी ताम्बूल-वाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो मैं दरिद्र हूं कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता ?

माल०—आप महापुरुष हैं, साधारण जन-दुर्लभ दुर्बलता न होनी चाहिये आप में। देव : बहुत दिनों पर मैंने एक माला बनाई है (माला पहनाती है)

चन्द्र०—मालविका इन फूलों के रस तो भौंरे ले चुके हैं।

माल०—निरीह कुसुमों पर दोषारोपण क्यों ? उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है। उसे चाहे भ्रमर ले या पवन।[1]

उपर्युक्त उद्धरणों से बात स्पष्ट हो जाती है कि 'विशाख' के प्रेम-प्रलाप सम्बन्धी सम्वाद में शृंगारिक स्थूलता है, वासनात्मक उच्छ्वास है, उभड़ा हुआ प्रमाद है। 'विशाख' से बात करते समय 'चन्द्रलेखा' के मन को कैसा कैसा होने लगना यह सिद्ध करता है कि उसमें चारित्रिक गाम्भीर्य नहीं है, उसकी भावनाएं असंयमित हैं। ऐसे छिछले सम्वाद पारसी थियेटरों की सम्वाद योजना की याद दिलाते हैं। वहीं पर दूसरी ओर हम 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के सम्वादों में देखते हैं कि उनकी प्रेमिकाएं प्रिय के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए भी कितनी संयमित हैं, विचारों में उदात्त हैं। उनके सम्वादों में वाक्-पटुता है, सहजता है, गम्भीरता है, साथ ही साथ उसमें नारी का वह रूप विद्यमान है जो पुरुष के वासनात्मक प्रवेग में संतुलन लाता है।

सम्वाद-सृष्टि में प्रौढ़तर प्रयोग 'अजातशत्रु' से शुरू होता है। यहाँ से प्रसाद की सम्वाद-कला में निखार आने लगता है और उसकी पूर्ण परिणति 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में दिखाई पड़ती है। 'अजातशत्रु' से ही सम्वाद की भाषा में लीरिकल एलिमेन्ट, प्रगीतात्मक तत्व समाविष्ट होने लगता है। वैसे, इसके सम्वाद चुस्त हैं और कथा तथा चरित्र को गति देने में साधक भी सिद्ध होते हैं। परन्तु बीच-बीच में कुछ ऐसे भी सम्वाद आ गए हैं जो आवश्यकता से अधिक लम्बे हैं और गत्यावरोधक भी। उदाहरण-स्वरूप दीर्घकारायण का स्त्री पुरुष के कर्त्तव्य का विवेचन तथा उनकी सीमाओं का निर्धारण करना बहुत ही लम्बा हो गया है। कुछ स्वगत भी बहुत ही दीर्घकाय हैं-पर स्वगत तो सम्वाद नहीं है। फिर भी, हम

१ चन्द्रगुप्त-पृ०-१८४।

देखते है कि पहले नाटको की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यजना, तार्किक पुष्टता आदि गुणों का समावेश इसमे स्पष्ट रूप से हुआ है। प्रारम्भ मे ही अजातशत्रु की स्वभावगत निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरता आदि का पता लग जाता है जब वह कहता है–हा तो फिर मै तुम्हारी चमड़ी उधेडता हू। समुद्र : ला तो कोडा, नाटकीय क्रिया व्यापार को मधर करने वाले सम्वाद भी पृष्ठ ५६, १२६, १३१ (चौदहवा स०) पर देखे जा सकते है परन्तु ऐसे सम्वादो का आधिक्य नही है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की सवाद योजना दीर्घकायी है। यह नाटक 'प्रसाद' की विकासमान नाट्यपरम्परा का एक आवश्यक अग है। इसके आगे बढने पर 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा ध्रुवस्वामिनी, मे सवाद शिल्प का ऐसा वैभव दिखाई पडता है जैसा कि 'प्रसाद' के पूर्व हिन्दी नाटक के इतिहास मे न तो देखने को मिला था और न उनके बाद ही अभी तक देखने को मिला है। अब इसके उपरान्त क्या स्थिति होगी, कहा नही जा सकता, फिर भी, सन्देह तो किया ही जा सकता है। आचार्य वाजपेयी के इस कथन से हमारी यह बात अधिक पुष्ट हो सकेगी।

'स्वतन्त्र नाटककार की हैसियत से प्रसाद की अपनी विशेषता है। उनका काव्यत्व, उनका कवि-व्यक्तित्व उनकी सारी कृतियो मे उपस्थित है। 'वाक्यावलियो मे प्रसाद शैली' कुछ ऐसी गहरी छाप से चिन्हित है कि भ्रम की सम्भावना ही नही रहती। उनके सवादों का अपना व्यक्तित्व है जो किसी अन्य नाटककार की कृति मे नही मिलता है।'[१]

'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा ध्रुवस्वामिनी के सवाद कथानक के विकास मे पूर्ण रूपेण तत्पर हैं और उनके माध्यम से चारित्रिक वैविध्य को भी हम देख सकते हैं। कथोपकथन म जीवन की वास्तविकता का भी ध्यान रखना होता है। और साथ ही कलात्मक समन्वय का भी।[२]

'प्रसाद' के प्रस्तुत तीनो नाटको मे जीवन का अन्तर और बाह्य अपनी स्वाभाविक भूमिका पर प्रतिबिम्बित हैं। उनके कथोपकथनो मे पात्रो की चारित्रिक विविधता अनुस्यूत है। अन्तर्द्वन्द्वो का प्रकाशन तथा उनके साथ ही साथ आकस्मिक घटनाओ का सगुफन—जिसके कारण चारित्रिक विकास की स्वाभाविक रेखायें बनती हैं—उक्त नाटको मे द्रष्टव्य हैं। शास्त्रीय नाटको के सवादो मे 'सूच्य' रहता है जिनसे पाठक या प्रेक्षक को आगे आने वाली दृश्यावली या घटनावली का आभास मिल जाता है और उसी के आधार पर पात्र की चरित्र-रेखा का अभिज्ञान भी हो जाता है, उन पात्रों के 'औदात्य की रक्षा करनी

१ अजातशत्रु–पृ०–२३

२ जयशकर प्रसाद—पृ० १७१

३. नाट्यकला, डा० रघुवश (प्रथम स०) पृ० ४५

ही होगी यह भी स्पष्ट ही रहता है। परिणामत शास्त्रीय नाटको के सवादो की योजना एक निश्चित ढाचे के आधार पर बनती है जिनकी गति मे वह स्वाभाविकता या प्रवहमानता नही होती जैसी स्वच्छन्दतावादी नाटको मे। 'प्रसाद' के नाटकीय सवादो मे मानव जीवन की चरित्रगत वे अनुभूतिया आवेष्टित हैं जो मनुष्य के सामान्य और सहज जीवन से जुडी हैं—सुख दुख, आशा-निराशा प्रेम-घृणा, युद्ध सधि आदि। और भी, राष्ट्र-प्रेम, सस्कृति-प्रेम, मानव प्रेम वैयक्तिक-प्रेम के भाव भी उनके सवादो के अग हैं। उनके सवादो के प्रवाह से ही घटनायें घटती हैं, आकस्मिक परिस्थितिया उत्पन्न होती हैं, पात्र उनसे जूझते हैं, और उनके द्वारा उनके चरित्रो का स्वाभाविक और मानवीय रूप सामने आता है। इन सवादो मे सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के विभिन्न पक्ष तथा उनमे परस्पर सन्तुलन अनेक स्थलो पर देखा जा सकता है। प्रणय और जागतिक जीवन के कठोर और कोमल पक्षो का उद्घाटन और उनके आदर्श की सीमा रेखाए पूर्णतया उभरी हुई हैं। प्रसाद के दार्शनिक व्यक्तित्व तथा काव्यात्मक भावुकता के कारण कथोपकथन कही कहीं नाटकीय दृष्टि से दीर्घ और दुर्बोध हो गए हैं। पर उनकी सवेदनशीलता तथा उदात्त जीवन दृष्टि के कारण इस दोष का बहुत दूर तक परिहार हो जाता है। चाणक्य का व्यासपीठ से दिया गया वक्तव्य समयानुकूल और राजनैतिक महत्व से युक्त है, पर बडा है। फिर भी ऐसे स्थल कुछ ही हैं—जहाँ ऐसा अवसर उपस्थित हुआ है। समग्र दृष्टि से विचार करने पर प्रसाद के नाटको मे आए हुए सवाद हिन्दी-साहित्य की अमर-निधि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके सवादो मे जीवन की वास्तविकता के साथ साथ कलात्मक समन्वय का भी पूर्ण योग है। उनके सवादो के विपक्ष मे केवल एक तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि रगमचीय दृष्टि से वे अव्यावहारिक है। परन्तु इस अव्यावहारिकता का परिमार्जन उन सवादो मे आये काव्यात्मक सौष्ठव, जीवन दर्शन की सूक्ष्मता मानव के अन्तर का सूक्ष्म तथा सवेग पूर्ण विवेचन और उनकी व्यापक उदात्तता से हो जाता है। प्रसाद के नाटको मे आये हुए सवाद साहित्य और कला की अमर-निधि हैं। रगमचीय नाटको मे इस प्रकार का सवाद-नियोजन असम्भव नही तो दुरूह अवश्य है।

शिल्प की दृष्टि से गीत-योजना

—यूनानी त्रासदी मे गीत को आभरण के रूप मे ग्रहण किया गया है।

—अरस्तु ने गीत की आवश्यकता पर बल दिया है, और उसे नाटक के अभिन्न अग के रूप मे स्वीकार किया है।[1] गीत योजना ऐसी नहीं चाहिए जो कथा-प्रवाह से भिन्न हो, निश्चित स्थानो पर गीतो का होना आवश्यक है। उसने इसे

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ११९

नाटक की सर्वांगता का एक महत्वपूर्ण तत्व माना है।[1] निश्चित रूप से अरस्तू का यह मत तत्कालीन ग्रीक नाटकों के आधार पर निर्धारित हुआ है। उसके उपरान्त नाट्य परम्परा ने युग के अनुसार कई रूपों को देखा है, तात्विक विचारों म परिवर्तन की स्थितियां वर्तमान हैं, फलत नाट्य गीतों की उपयोगिता, आवश्यकता तथा उसकी स्थिति के सम्बन्ध म समय समय पर धारणाए बदलती रही हैं। भारतीय नाट्य परम्परा मे भी नाटकों मे गीतो का प्रयोग स्तुत्य रहा है। प्राचीन नाटक प्राय भावपूर्ण और काव्यात्मक होते थे। उनमे प्रगीत मुक्तक बड़ी स्वाभाविकता के साथ और प्रभाववृद्धि के उद्देश्य से जुड़े रहते थे। नाटक की कथावस्तु का उनसे कोई विरोध नही था। भारतीय-नाटक नाट्य-व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष मे उतने न थे। वे नाटक मे रमना जानते थे, घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।[2] आचार्य वाजपेयी के इस मत से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'प्रभाववृद्धि के उद्देश्य' से प्रयुक्त गीत तथा कथा की गति म बाधक नही सिद्ध हो सकते। परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त गीत ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जो कथा प्रवाह के अनुकूल हो। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने भी गीतों का नाटक का आवश्यक तत्व माना है। उनका वक्तव्य है—इस युग के कलाकार चाहते हैं कि नाटकों म गीत न दिए जाय। यदि रगमच या चित्रपट का ध्यान न हो तो नाटको स गीतो को निर्वासित किया जा सकता है। रस-सृष्टि मे सगीत बहुत सहायक सिद्ध होता है। आलोचक कहते हैं कि वास्तविक जीवन म गाने वाले पात्र नही मिलते। पात्रों से गीत गवाना अस्वाभाविक बात है यह ठीक है कि नाटक का प्रत्येक पात्र गायक नही हो सकता, न प्रत्येक स्थान गीतो के लिए उपयुक्त हो सकता है फिर भी नाटक म दो एक पात्र एसे रख जा सकते हैं जिनका गाना नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट न करता हो। गीत कथानक के अनुकूल हो और जो रस, जो वातावरण, जो प्रभाव लेखक उत्पन्न करना चाहता है, उसको गहरा करने वाले हो। मेरे कथानकों के गीत कथानक के अग है।[3] प्रस्तुत कथन इस बात का प्रमाण है कि 'प्रेमी' जी नाटकों म गीत-योजना के प्रबल समर्थक हैं। रस निष्पत्ति म गीत सहायक होते हैं और वातावरण को गहरा भी करते हैं, उनम प्रभावोत्पादन की क्षमता होनी है, बशर्ते कि गीत कथानक के प्रवाह के अनुकूल हों। 'प्रेमी' जी ने गीतों को कथानक का अग स्वीकार किया है।

उन्होंने गीतों को कथानक के अनुकूल होने पर विशेष बल दिया है। जहा तक हम समझते हैं गीतो का सबसे महत्वपूर्ण उपादेय वातावरण की सृष्टि म है, यदि उनका

---

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशकर प्रसाद', पृष्ठ १३६
२ वही, पृष्ठ १४८
३. हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'पुकार' - विष-पान, पृष्ठ १२

विनियोग परिस्थिति और स्थान के अनुरूप हुआ है। 'केवल रंगमंच पर दृश्यों को सुसज्जित करने भर से ही घटनाओं का सजीव वातावरण तैयार नहीं हो जाता, संगीत उसकी जीवनी शक्ति है।'[1] सम्भव है, वातावरण की सृष्टि में प्रयुक्त गीत कतिपय हृदयशून्य समीक्षकों को कथानक की गति अवरुद्ध करते हुए दीख पड़ें, परन्तु ऐसे स्थलों पर आत्मविभोर होते हैं, रस की स्थिति में पहुंचते हैं। संगीत से पात्रों के अन्तर्मन के उत्थान पतन, आशा निराशा की रेखाओं का अभिज्ञान होता है। इसमें भावी क्रिया-व्यापार की प्रतिछाया भी विद्यमान रहती है।

उपर्युक्त मतों से निष्कर्ष की यही रूपरेखा बनती है कि नाटकों में गीत-प्रयोग वांछित है और उसकी उपयोगिता अपने आप में सार्थक है। हिन्दी के युग-प्रवर्तक नाटककार जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भी गीतों की सम्यक् योजना है। हमें उनके नाट्य गीतों का शिल्पगत अनुशीलन यहां प्रस्तुत करना है। उनके नाटकों में गीतों के प्रयोग का क्या स्थान है, इस विषय में हमें शास्त्रीय नियमों के विवेचन से विशेष सहायता नहीं मिल सकेगी, वरन् उनकी नाट्य कला की प्रकृति के अनुसार नियम ढूंढने पड़ेंगे। और, यही उनके लिए न्यायसंगत भी है।

'प्रसाद' मूलरूप से कवि हैं। उनकी कवयित्री-प्रतिभा का जोड़ मिलाने वाला, कम से कम, हिन्दी में तो कोई विरला ही मिलेगा। विचारों के संगुम्फन के भाव और कल्पना की तीव्रता उनकी सभी साहित्य सरणियों में देखी जा सकती है। नाटकों में उनके कतिपय पात्र तीव्र भावोच्छ्वास को वार्तालाप के माध्यम से अभिव्यक्ति देने में जब अपने को असमर्थ पाते हैं तो वे गीतों का आश्रय ले लेते हैं।[2] इसका यह अर्थ नहीं कि उनके ऐसे भावुक पात्र असमय में, अवसर का बिना ध्यान रखे ही, गाते फिरते हैं, बल्कि उनकी भावधारा स्थान और परिस्थिति के अनुकूल गीतमय हो उठती है। 'प्रसाद' के नाटकों के गीतों में 'विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त प्रलाप, असफल व्यक्ति का हृदयोद्गार, श्रद्धालु का दृढ़ विश्वास, सन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्म-समर्पण, मातृभूमि का ममत्व, देशप्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोह-अवरोह, अध्यात्म का चिन्तन आदि लौकिक पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पड़ता है।'[3] इतना अवश्य है कि उनके नाट्यगीतों का प्रयोग विकासमान कड़ी का परिचायक है। राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक नाट्य-गीतों की कलात्मक रेखाएं वर्तमान हैं जो सतत विकासोन्मुख हैं।

---

१ 'नाट्य-कला' डा० रघुवंश (प्रथम सं०), पृष्ठ ७०
२ देखिये, हिन्दी नाटक - उद्भव और विकास (द्वितीय सं०), पृ० २८०
३ वही, पृ० २७९-८०

'प्रसाद' ने 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण के नाट्य-शिल्प को द्वितीय संस्करण मे परिवर्धित रूप मे प्रस्तुत किया, उसके साथ ही गीतो मे भी आमूल परिवर्तन किया। इससे स्पष्ट है कि प्रथम सस्करण उनके मनोनुकूल नही बन पाया था। इसस यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि नाट्य योजना मे रत नाटक-कार अभ्यास प्रक्रिया से होकर गुजर रहा था। राज्यश्री के द्वितीय सस्करण में सात गीत हैं और सभी अपने स्थान की सार्थकता सिद्ध करते हैं। उनसे वातावरण की सृष्टि होती है। साथ ही वे चरित्रगत विशेषता के भी सूचक हैं। इसके अधिकाश गीत सुरमा द्वारा गाए गए हैं। उसके गीतो मे उसकी जवानी झूम रही है और ऐसी जवानी जो मस्ती भावुकता लिये हुए हैं, उसमे बिछलन है, मचलन है—

सम्हाले कोई कैसे प्यार !
मचल चल उठता है चचल
भर आता है आखो मे जल
बिछलन कर चलता है उस पर
लिए व्यथा का भार
सिसक सिसक उठता है मन मे,
किस सुहाग के अपनेपन मे
'छुईमुई' सा होता, हसता,
कितना है सुकुमार।[1]

'विशाख' मे गीतों की सख्या पन्द्रह है, और यदि कविताओ को भी जोड लिया जाय तो सम्पूर्ण सख्या पच्चीस तक पहुच जाती है। इसके अधिकाश गीत तो काफी सस्ते ढग के हैं। उनमे 'प्रसाद शैली' की 'गहरी छाप' को कौन कहे 'हलकी छाप' भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। 'राज्यश्री' और विशाख' के गीतो मे नाटककार की तरुणाई की उन्मादिनी उत्सुकता का प्राबल्य है। सफाई देने के लिए उदाहरण की आवश्यकता है —

हिए मे चुभ गई,
हा, ऐसी मधुर मुसकान।
लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान ॥
भूल गई चौकडी, प्राण मे हुआ प्रेम का गान,
मिले दो हृदय अमल अछूते, दो शरीर इक प्रान ॥
हिए मे चुभ गई।—[2]

---

१ 'राज्यश्री' (सातवा स०) पृ० ४२-४३

२ 'विशाख' (पचम स०), पृ० ४५

'विशाख' मे दो ऐसे गीत हैं जो 'प्रसाद' की कलात्मक प्रतिभा के सांकेतिक सूत्र हैं :—

(क) आज मधु पी ले, यौवन बसन्त खिला ।[1]

(ख) नदी नीर से भरी ।[2]

'अजातशत्रु' से कतिपय विशेषताएं गीत-योजना मे समाविष्ट होने लगती हैं। इसके गीतो मे लाक्षणिकता, काव्यत्व तथा भाव-शिष्टता की रश्मियों का समावेश प्रारम्भ होता है जिससे 'प्रसाद' के 'स्वायत्तशैली की सूचना मिलने लगती है। यही स्वायत्व शैली 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त', ध्रुवस्वामिनी' तक आकर 'प्रसाद शैली' का रूप ले लेती है। 'अजातशत्रु' मे मुख्य रूप से बारह गीत हैं, जिनमे से सात मागधी के गाये हुए हैं। 'उसके गीत उसके जीवन के पतनोत्थान के परिचायक हैं। केवल गीतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह जीवन की किस स्थिति मे गायन कर रही है।' उद्दाम यौवन म झूमती हुई प्रेमोन्मत्त वार—विलासिनी श्यामा (मागन्धी) गौतम से की गई अवहेलना को स्मरण करती है। परन्तु कल्पना जगत मे वह महाराज उदयन को अपने भोग का साधन बनाती है। इन्ही भावनाओ का निविड आवेग प्रथम गीत मे प्रतिमुखरित हुआ है, जिसे हम यहां देखेंगे —

कली ने क्यो अवहेला की ।
चम्पक कली खिली सौरभ से उषा मनोहर बेला की ।
विरस दिवस, मन बहलाने को मलयज से फिर खेला की ।[3]

क्रीडा प्रिया मागन्धी की भावनायें समय समय पर चोट खाती रही हैं उसमे उसे जीवन का कटु अनुभव होता रहा है, यौवन की उन्मत्तता की क्षण भगुरता का भी भान होता रहा है। परिणामत वह भगवान बुद्ध की शरण के लिए अपने विगत जीवन पर पश्चात्ताप करती है। निराशा और ठोकरो से उसका अभिमान चूर हो जाता है। उसका अन्तिम गीत उसके विगत जीवन की करुण कहानी का इतिवृत्त है —

स्वजन दीखता न विश्व मे अब, न बात मन मे समाय कोई ।
पडी अकेली विकल हो रही, न दुख मे है सहाय कोई ।।
पलट गये दिन सनेह वाले, नही नशा, अब रही न गर्मी ।
न नींद सुख की, न रगरेलिया, न सेज उजला बिछाय सोई ।।
बनी न कुछ इस चपल चित्त की, बिखर गया झूठ गर्व जो था ।
असीम चिन्ता चिता रही है, विटप कटीले लगाय रोई ।।

---

१ 'विशाख' (पचम स०),–पृ० २६
२ वही–पृ० ६९
३ अजातशत्रु (सोलहवा स०), पृष्ठ ४२

क्षणिक वेदना अनन्त सुख बन, समझ लिया शून्य मे बसेरा।
पवन पकडकर पता बताने न लौट आया न जाय कोई ॥[1]

प्रस्तुत नाटक के दो-तीन गीत ऐसे हैं जो आकार की दृष्टि से कुछ बड़े कहे जा सकते हैं, परन्तु वे वातावरण के अनुकूल हैं, जैसे, पृष्ठ ७३ पर श्यामा का गीत और पृष्ठ ११९ पर विरुद्धक द्वारा गाया हुआ गीत। सब मिलाकर यही प्रमाणित होता है कि 'अजातशत्रु' की गीत-योजना गायक के चरित्र-विकास के सूचक है और उनसे विशिष्ट प्रकार के वातावरण की सृष्टि होती है।

नाट्य-गीत योजना की कलात्मक परिणति प्रसाद के अन्तिम तीनों नाटकों (स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी) मे हुई है। उनके गीत अत्यन्त उपयुक्त, समय और परिस्थिति के अनुरोध के अनुरूप बन पड़े हैं। उनमे काव्यात्मक गरिमा, भाव-सुषमा तथा लाक्षणिकता के साथ ही स्थान की उपयुक्तता का आग्रह भी है। उनके कतिपय गीत अपनी विशिष्टता में हिन्दी-साहित्य की अमर-निधि बन गए हैं। वे प्रगीत मुक्तक बड़ी स्वाभाविकता के साथ नाटकों में प्रभाववृद्धि के उद्देश्य से जुड़े हुए हैं।

'स्कन्दगुप्त' के तेरह गीतों मे से छ: देवसेना द्वारा गाए गए हैं। उसके प्रत्येक गीत मे प्रेम की गहरी टीस है, मन की व्यथा है। देवसेना के गीतों की कड़ियों मे स्कन्दगुप्त के प्रति उसके समर्पण की गाथा निबद्ध है; परन्तु उस गाथा की गायिका के स्वर मे कही स्खलन के भाव नही हैं, सस्ती प्रेम-पीड़ा नहीं है, वरन् उसमे हैं उदात्त भावोद्बोधन की लड़िया जिसकी सभी शब्द-मणिया देवसेना के उस स्वर्गीय प्रेम की सूचिका हैं जिसने स्कन्दगुप्त के लिए अपने आप को समर्पित करके भी वासनात्मक प्रेम की भूमिका पर अपने आप को नही उतरने दिया। देवसेना स्वय कहती है "मैंने कभी उनसे (स्कन्दगुप्त से) प्रेम की चर्चा करके उनका अपमान नही होने दिया है। नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है, तभी सगीत की वीणा मिला लेती हू। उसी मे सब छिप जाता है।'[2] देवसेना द्वारा गाए गए गीत उसके हृदय के रुदन के स्वर ही तो हैं :—

आह! वेदना मिली विदाई!
मैंने भ्रम-वश जीवन सचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे सन्ध्या के श्रमकण,
आसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।

१. अजातशत्रु (सोलहवां स०), पृष्ठ ४२
२. स्कन्दगुप्त (नवा स०), पृष्ठ ९७

मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अगड़ाई।

*　　*

चढ़कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी होड़ लगाई।

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती।
विश्व ! न सम्हलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गवाई।

वातावरण की सृष्टि मे उक्त सगीत का क्या स्थान है, इसे कहने की आवश्यकता नही। स्थान और परिस्थिति की अनुकूलता का जहा तक प्रश्न है, वह भी स्वत सिद्ध है कि जब दो निष्कलक प्रेमी हृदय एक दूसरे के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित होते हुए भी आजीवन कौमार्य व्रत के लिए सकल्परत होते हैं, ऐसे समय मे देवसेना, जिसके हृदय म 'स्कन्दगुप्त को छोडकर न तो कोई दूसरा आया और न वह आयगा', और उसने अपने को उसे दे दिया है पर उसके बदले कुछ लिया नही चाहती', का यह गीत किस प्रेक्षक या पाठक को रसनिष्पत्ति की भूमि पर न पहुचा देगा। यहाँ केवल देवसेना की ही 'वेदना मिली विदाई नहीं' है, वरन् प्रेक्षक अथवा पाठक भी वेदना के साथ ही अलग होते हैं और वह वेदनापूर्ण अन्तिम विदाई जो नाट्य प्रभाव की भी सूचना देती है, न मालूम कब तक उनके हृदय मे एक मीठा दर्द पैदा करती रहेगी।

इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' के अन्य गीत भी अपनी विशेषताओ के साथ स्थान और परिस्थति के अनुसार प्रयुक्त हैं जिनका कार्य वातावरण के निर्माण के साथ ही चारित्रिक विशेषताओ की सूचना देना भी है। केवल श्री जयनाथ नलिन' जैसे समीक्षको के लिए ही ऐसे गीत 'नाटकीय आवश्यकता' नही प्रतीत हो सकेंगे।[1]

'स्कन्दगुप्त' का एक गीत (पृ० १३०) जिसका आकार कुछ बडा है, कतिपय नाट्य-समीक्षकों को विशेष खटकता है। उसे लोगों ने कथानक के बोध की भी सज्ञा प्रदान की है। उसके आकार की तुदिलता हमे भी कुछ देर के लिए अप्रिय लगी है, परन्तु विशेष ध्यान देने के बाद विचार करने पर उसके सम्बन्ध मे धारणा बिल्कुल बदल गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल गीत के आकार प्रकार को

१. श्री जयनाथ 'नलिन': हिन्दी नाटककार, पृष्ठ ६९

देखकर ही पूर्वाग्रही आलोचकों ने उसे अनुपयुक्त समझ लिया है। परिणामत परिस्थिति और उपयोगिता के साथ उसकी प्रभावोत्पादक क्षमता का मूल्यांकन करने मे वे असमर्थ सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत गीत रण क्षेत्र मे गाया गया है और एक ऐसे व्यक्ति द्वारा जो महाकवि भी है, मातृगुप्त (कालिदास)। गीत मे वीररस की प्रधानता है। उसमे ऐसा स्वर फूका गया है जिससे वीरो मे ऐसे रक्त का संचार हो जिसमे कि वे देश की आन-बान पर अपने को कुर्बान करने के लिए दृढ़व्रत हो जाय। उसमे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गौरव का भावात्मक इतिवृत्त है जिसकी रक्षा के लिए दधीचि ने अपनी अस्थि तक दे दी। और क्या—

चरित के पूत, भुजा मे शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव मे था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय मे था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन मे सत्य, हृदय मे तेज, प्रतिज्ञा मे रहती थी टेव।

अब भी—

वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम आर्य दिव्य संतान।

इसलिए—

जिए तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर करदें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

ऐसा गीत—जिसमे समय और परिस्थिति का आग्रह है और जिससे उपयुक्त तथा विशिष्ट प्रकार के वातावरण की सृष्टि होती है, जिसको सुनकर वीरो के समक्ष राष्ट्र का गौरव इतिहास झूम उठता है और उसका कर्तव्य उनके सामने नाचने लगता है—यदि किसी को कथानक का बोझ मालूम पड़े तो निश्चित रूप से यही कहा जा सकता है कि उसकी बुद्धि कुछ विशेष प्रकार के 'बोझ' से बोझिल है। ऐसे लोग गीत की लम्बाई-चौड़ाई नापने मे ही अपनी दक्षता समझते हैं, उसकी आत्मा को नापना उनके दिमाग के परे है।

'चन्द्रगुप्त' के तेरह गीतो मे तीन सुवासिनी, तीन मालविका, तीन अलका, एक कार्नेलिया, एक कल्याणी गाती है। शेष दो मे एक का गायक है राक्षस और दूसरा नेपथ्य से गाया जाता है। प्रस्तुत नाट्यगीतो के काव्यात्मक सौष्ठव की उत्कृष्टता के सम्बन्ध मे तो दो मत होने ही नही चाहिए। उसके अधिकांश गीत मुक्तक प्रगीत हैं। परन्तु नाट्य व्यापार की योजना की पूर्ति मे भी वे अधिकाधिक समर्थ हैं, समय और परिस्थिति के अनुरोध को मान कर चलने वाले हैं। परिणामत. उनसे ऐसे वातावरण की सृष्टि होती है जिससे कथा-प्रवाह मे जीवन्त गत्यात्मकता आती है। कथा-प्रवाह के साथ प्रेक्षक या पाठक के भाव-तादात्म्य को अक्षुण्ण बनाए रखना तथा उत्कृष्टता की कसौटी है। प्रेषणीयता के सिद्धान्त की सार्थकता भी यही

है, इसी को रस की सफलता भी कह सकते हैं। 'चन्द्रगुप्त' के गीत (स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी तथा कतिपय अन्य नाटकों के गीत भी) दर्शक या रसिक को कथा-प्रवाह की 'अक्षुण्णता' के साथ 'गहरी तल्लीनता में डुबाने के साधन मात्र हैं। अतः उनकी उपादेयता और सार्थकता असंदिग्ध है।

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाट्यगीतों की अपनी विशेषता है और उनकी उपयोगिता वातावरण की सृष्टि के साथ चरित्र-विश्लेषण में भी है। उनसे कथा प्रवाह में भी कहीं बाधा नहीं उत्पन्न होती। 'प्रसाद' के गीतों का शिल्प-विधान प्राचीन नाट्य-गीतों से सर्वथा भिन्न है। 'कला का अन्तिम स्वरूप है जहा सौन्दर्य अंगों में नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। 'प्रसाद' की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है कि वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा संगीत के सम पर ही खड़ा है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है जहा कलाएं मूक होकर एक दूसरे का आलिंगन करती हैं। प्रसाद' की यह जीत है। इसी जीत में उनकी महानता है।[1]

प्रसाद की नाट्य-भाषा

प्रसाद जी कवि हैं—दार्शनिक हैं। उनकी भाषा, भाव और विचार को व्यक्त करने में समर्थ है। प्रसाद की भाषा को युग के परिवेश में देखने में और परखने से ही उस पर निष्पक्षता पूर्वक विचार किया जा सकता है। तत्कालीन कवियों और लेखकों में जो स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति विकसित हो रही थी उसकी छाप भाषा पर भी परिलक्षित होती है। आनन्दवादी जीवन दर्शन के पोषक प्रसाद की भाषा मधु और माधुर्य से आप्लावित है। स्वच्छन्द कल्पना अपने समस्त वैभव और व्यापक जीवन-दर्शन को व्यक्त करने के लिए सबल माध्यम की अपेक्षा रखती है। भाषा ही वह माध्यम है जिससे कवि और लेखक अपने विचारों, भावों और कल्पना को अभिव्यक्त करते हैं। भाव-गाम्भीर्य के साथ भाषा में वह सरलता अथवा चलत पन का प्राप्त होना कठिन हो जायेगा जो किसी सरल और साधारण भाव के व्यक्त करने से प्राप्त हो सकता है। प्रसाद प्रथमतः कवि हैं, इससे साथ ही जीवन और दर्शन के गहन अध्येता हैं। इसलिए उनके नाटकों की भाषा में आरम्भिक कृतियों की अपेक्षा प्रौढ रचनाओं में अन्तर है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' में प्रसाद की नाट्य-भाषा का वह साहित्यिक और प्रौढ स्वरूप नहीं प्राप्त होता है जो अजातशत्रु और उसके बाद के नाटकों में उपलब्ध होता है। प्रसाद के नाटकों के वस्तु और शिल्प दोनों का ही क्रमिक विकास हुआ है, अतः उनकी नाट्य-भाषा का वास्तविक स्वरूप—अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त तथा प्रतीकात्मक नाटक 'कामना' और 'एक घूंट' में ही उपलब्ध होता है—जिनमें काव्य और दर्शन का मंजुल

१. गुलाबराय : 'प्रसाद की कला', पृष्ठ १९०।

मिश्रण है, और वह उदात्त भावनाओं और महत् विचारों को व्यक्त करने में सक्षम है।

प्रसाद के नाटकों की भाषा पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह एक रस तथा टकसाली है। सभी पात्र एक समान भाषा का प्रयोग करते हैं। वह काव्य-और दार्शनिक भावों की गहनता से बोझिल है। भाषा सरल होनी चाहिए तथा भाव और पात्र के अनुसार उसमें परिवर्तन होना चाहिए। पात्रों की मानसिक स्थिति उसके संस्कार और अनुभव भिन्न भिन्न होते हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी भिन्न प्रकार का होना चाहिए। रंगमंच पर यदि पात्रों के गुण धर्म के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया जायेगा तो रंगमंच विविध भाषाओं का मंच बन जाएगा। और सम्भवतः प्रेक्षकों के लिए वही एक प्रकार का दृश्य बन जायेगा। प्रसाद जी इस विचार के विरोधी हैं कि शिष्ट और शिक्षित पात्र सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग करें और असभ्य जंगली पात्र अपनी आदि कालीन भाषा का तथा अन्य पात्र अपनी आदि कालीन भाषा का प्रयोग करें। इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर प्रसाद के ही शब्दों में देना उचित जान पड़ता है–भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी ही है। ऐसे दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं, किन्तु प्रचुरता है, जो पौरसी स्टेज पर गायी गई गजलों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालियां पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कथकलि भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही है ? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों को अपनी होनी चाहिये और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था वह बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थी। वर्तमान युग की भाषा-सम्बन्धी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है, किन्तु आज यदि कोई मुगल कालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्या वह नाटक हिन्दी का ही रह जायेगा ? यह विपत्ति कदाचित् हिन्दी नाटकों के लिए ही है।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी ने उपर्युक्त आक्षेपों को निराधार और नाट्य-भाषा के विकास में बाधक स्वीकार किया है। इसी उद्धरण में आगे नाटक में किस प्रकार की भाषा का प्रयोग होना चाहिये, उस पर भी अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं– मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के

हो आधार पर भाषा का प्रयोग नाटक मे होना चाहिये, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओ का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नही। पात्रों की सस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारो मे तारतम्य होना भाषाओ के परिवतन मे अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए [1]।' प्रसाद जी नाटक की भाषा के विषय म पात्रो के भावों और विचारो के अनुकूल भाषा के पक्षपाती हैं इसके साथ ही वे भाषा की एकतत्रता के समर्थक हैं। इस मान्यता के अनुसार यदि उनकी नाट्य भाषा पर विचार किया जाय तो उनके नाटकों की भाषा की क्लिष्टता तथा टकसालीन आदि आक्षेप निराधार सिद्ध होंगे।

अलार्डाइस निकल ने नाटक की भाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि आरम्भ म ही यह मान लेना चाहिए कि सामान्य जीवन की भाषा जो दैनिक व्यवहार म प्रयुक्त होती है नाटक के लिए उपयुक्त नही है इसके साथ ही नाटक म प्रयुक्त भाषा यदि कृत्रिम है तो भी अभिप्राय सिद्ध नही होगा। किसी भी महत्व पूर्ण नाटकीय कृति म इस प्रकार की भाषा का व्यवहार नही होता है। वह नाटकीय सवाद जो सक्षिप्त, सुगठित तथा जीवन का सार-तत्व कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करता है—श्रेष्ठ समझा जाता है। सुखान्त और दुखान्त नाटको की भाषा पर भी उसने विस्तार के साथ विचार किया है।

'From early time it has been recognized that comedy tends to find fitting medium of expression, if not actually in prose, at any rate in a kind of verse which is akin to prose in its eschewing of rich imagery and in its common place use of words, where as tragedy, no doubt because of the appeal therein made to the emotions, tends toward higher poetic expression and richer flights of rhythmic language,[2]'

यह प्रारम्भ काल से ही स्वीकृत है कि सुखान्त नाटको की अभिव्यक्ति का माध्यम वह छन्द है जो पूर्णत छन्द न होते हुये गद्य के समीप हो—जिसम जीवन मे प्रयुक्त सामान्य छन्द भी न हों और न उसम उच्चकोटि का बिम्ब विधान ही हो। जब कि दुखान्त नाटक अधिक सवेदनात्मक होते हैं—इसलिए उनमें उच्च कोटि की काव्यात्मक अभिव्यक्ति तथा प्रवाह पूर्ण लयात्मक भाषा की अपेक्षा रहती है। प्रसाद जी की नाट्य भाषा पर विचार करते हुए यह अभिमत ध्यान देने योग्य है— 'प्रसाद ने अपने नाटको को यथार्थवादी भूमि पर नही रक्खा, उनकी शैली म चमत्कार तथा काव्यात्मकता है। शैली की विशेषता के साथ ही प्रसाद के सवाद भी

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ० ११०
२ The Theory of Drama—By Nioell, Page 82

भावात्मक हैं, बौद्धिक नहीं, उनमें कोरी बौद्धिकता, सम्भाषण पटुता या उक्ति-वैचित्र्य नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों का माध्यम गद्य ही रखा है, परन्तु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है। पाश्चात्य नाटकों में पद्य दुखान्त सृष्टियों के लिए उपयोगी माना गया है, परन्तु प्रसाद जी ने अपने सुखान्त नाटकों में भी इसी पद्धति को अपनाया है। यह प्रसाद की अपनी विशेषता है।'[1]

प्रसाद के नाटकों की भाषा में काव्यत्व और जीवन की सूक्ष्मता के दर्शन आरम्भ से होते हैं। प्रारम्भिक नाटकों की भाषा-शैली में वे प्रौढ़ और परिमार्जित रूप हमारे सामने उपस्थित नहीं कर सके। 'विशाख' की भाषा पर थियेटरी प्रभाव कहीं कहीं दिखाई पड़ता है। पद्य का प्रयोग भी बीच-बीच में हुआ है। महापिंगल और तरला के संवाद में प्रयुक्त भाषा इसका दृष्टान्त है:—

महापिंगल—देखो कैसी पिघल गई। गर्म कड़ाई में घी हो गई। गहने का
जब नाम सुना, बस पानी पानी।

तरला—बातें न बनाओ, लाओ मेरा हार।

महापिंगल—अभी तार लगे तब न हार मिले।

विशाख अपनी व्याकुलता का निवेदन चन्द्रलेखा से पद्य में ही करता है—

'हृदय की सब व्यथायें मैं कहूँगा,
तुम्हारी झिड़कियाँ सौ सौ सहूँगा।

अनुप्रास का मोह और पद्य का प्रयोग क्रमशः कम होता गया है। प्रसाद की भाषा का वास्तविक स्वरूप 'अजातशत्रु' से उपलब्ध होता है। इसमें काव्य की गरिमा है, विचारों का बाहुल्य है तथा जीवन दर्शन की विविध स्थलों पर सरस अभिव्यक्ति हुई है। 'विशाख' की अपेक्षा 'राज्यश्री' की भाषा अधिक सुगठित तथा सरस है। सुएनच्वांग से कहे गये विकटघोष के इस वक्तव्य में 'भूखी शान्ति को मैंने देखा है, कितने दाबों में वह दिखाई पड़ी। शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख मांगने पर मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूं। धर्म को मैंने खोजा जीर्ण पात्रों में, पंडितों के कूट तर्क में उसे बिलखते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं,' प्रवाह और बल है।

'अजातशत्रु' की भाषा में काव्य, दर्शन और मनोविज्ञान का अद्भुत सम्मिश्रण है। श्यामा और गौतम जैसे विपरीत स्वभाव वाले चरित्र हैं, देवकी और मल्लिका जैसे शान्त और प्रकृति से गम्भीर पात्र तथा छलना, श्यामा और शक्तिमती जैसे उद्धत और स्वाभिमानी सभी अपने भावों और विचारों को मार्मिकता के साथ व्यक्त करने में समर्थ हैं। भावना और कल्पना से ओत-प्रोत विरुद्धक अपने अतीत को इस प्रकार स्मरण करता है:— 'विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद', पृ० १५४

बनकर तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हे सम्हाल कर उतारने के लिये नक्षत्र लोक को गयी थी। शिशिर कणो से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढी बना था, ऊषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा।' छलना अपनी घृणा, अहम्मन्यता और ईर्ष्या के भाव बिम्बसार से व्यक्त करती है। प्रसाद की भाषा ऐसे स्थलो पर स्वभावत प्रवाहयुक्त हो उठती है, और तत्सम शब्दो के प्रयोग भाव की व्यजना म तनिक भी बाधक सिद्ध नही होते। निम्नलिखित उद्धरण इसके समर्थन मे प्रस्तुत है—

'इन भुलावो मे मैं नही आ सकती। महाराज! मेरी धमनियो मे लिच्छिवी-रक्त बडी शीघ्रता से दौडता है। यह नीरव अपमान, यह साकेतिक घृणा, मुझे सह्य नहीं, और जब कि खुल कर कुणीक का अपकार किया जा रहा है, तब तो—'

अजात काशी युद्ध मे बन्दी हो गया है। छलना की महत्त्वाकाक्षा निराशा म विलीन हो चुकी है। वह क्षुब्ध है, दुखी है। वह अपने इकलौते पुत्र के बन्दी होने के लिए वासवी को अपराधिनी समझती है। छलना प्रतिशोध की ज्वाला म जल रही है। वासवी को बुलाकर वह अपने क्षोभ, पीडा और प्रतिशोध के भावो को जिन शब्दो मे व्यक्त करती है उसके प्रत्येक शब्द से छलना की मानसिक स्थिति का बड़ा ही स्पष्ट ज्ञान होता है। 'मीठे मुह की डाइन अब तेरी बातो से मैं ठडी नही होने की। ओह! इतना साहस, इतनी कूट चातुरी। आज मैं उसी हृदय को निकाल लूगी, जिसम यह सब भरा था। वासवी, सावधान! मैं भूखी सिहनी हो रही हू।'

प्रसाद की भाषा की यह विशेषता है कि जहा वह सरस, मादक और यौवन का भावना और कल्पनामय चित्र खींचने मे समर्थ है, वहा दार्शनिक भावो की अभिव्यक्ति के लिए भी उसमे अद्भुत क्षमता है। जितनी सफलता के साथ वे ब्राह्मण-दर्शन को उसके अनुकूल भाषा मे व्यक्त करते है, उसी प्रकार बौद्ध दर्शन को भी सजीव भाषा मे उपस्थित करते हैं। बिम्बसार ससार की क्षण भगुरता तथा मनुष्यो के अहकार और स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर चारो ओर व्याप्त अशान्ति और सघर्ष को देखकर विचार करता है। प्राकृतिक पीठिका पर दार्शनिक भावो को वह इस प्रकार व्यक्त करता है—

'आह, जीवन की क्षण भगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नीव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन सग्राम मे प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड-ताडव करता है —।'

अजातशत्रु में दार्शनिकता तथा भावुकता-पूर्ण स्थलो के कारण भाषा पहले नाटको

की अपेक्षा कुछ बोझिल हो चली है। यह सर्वथा स्वाभाविक है। गहन भावों की अभिव्यक्ति साधारण बोल-चाल की भाषा में नहीं हो सकती। इसके लिए तत्सम शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि अद्यावधि संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटक काव्यात्मक और दार्शनिक तत्वों के आधार पर ही जीवित हैं। सामान्य भाषा और अभिनय को ध्यान में रखकर लिखे हुए नाटक साहित्य की अमर-निधि हो सकते हैं—इसमें सन्देह है।

'अजातशत्रु' के बाद 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में ब्राह्मण दर्शन को प्रसाद ने श्रीकृष्ण और व्यास जैसे दार्शनिकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से सृष्टि का रहस्य समझाते हुए कहते हैं—

'सखे सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यों ? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का अदर्शन ही अन्धकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव है। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है ? कदापि नहीं।' श्रीकृष्ण अर्जुन की मानसिक जड़ता और शैथिल्य को दूर कर कठोर-तम कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे अवसरों पर जब जीवन और जगत में साम्य की स्थिति लाने के लिये विचारात्मक सम्वाद होंगे तो निश्चित ही भाषा कुछ क्लिष्ट होगी। यही कारण है कि वसा, श्वापद संकुल, कणिका, कुहुक, अन्ते-वासी, कृत्या, उर्जस्विता, निजत्व, परकीयत्व, विपक्षी द्वन्द्व, पश्चात्पद और आरण्यक आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार के दार्शनिक अंश के साथ कुछ सरल तथा भावपूर्ण गद्यांश भी हैं जो गद्य-गीत हो गए हैं—'बुलालो, बुलालो—उस वसंत को, उस जंगली वसन्त को जो महलों के मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो भूखे हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलालो। जो पतझड़ करके नई कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल के सदृश सस्नेह सकरुण आवाहन करता है उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को लौटा लो।'

प्रसाद की नाट्य-भाषा में क्रमशः साहित्यिक तत्वों का विकास होता गया है। 'स्कन्दगुप्त' ऐतिहासिक तथा भारत के सांस्कृतिक उत्थान काल से सम्बद्ध है। चरित्र चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व का उद्घाटन हुआ है। अतः स्वाभाविक है कि इसकी भाषा में संस्कृत गर्भित पदावली का प्रयोग होगा। स्कन्दगुप्त की भाषा पर क्लिष्टता का आरोप नहीं किया जा सकता है। इतना निश्चित है कि इस नाटक की भाषा साहित्यिक है। 'मातृगुप्त' जैसे कवि चरित्रों के कारण काव्यात्मक गद्यांशों

का प्राचुर्य है। विरागजन्य उदासीनता तथा अनासक्त भाव से कर्म मे प्रवृत्त होने के कारण चिन्तनशील स्कन्द की भाषा मे दार्शनिकता का आ जाना स्वाभाविक है। मन और हृदय का विश्लेषण करने की शक्ति सामान्य जीवन की भाषा मे नही हो सकती।

भटार्क नारी हृदय का विश्लेषण करते हुए कहता है—'एक दुर्भेद्य नारी हृदय मे विश्व प्रहेलिका का रहस्य बीज है। अतृप्ति की चचल प्रवचना कपोलो पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय मे श्वासो की गरमी विलास का सदेशवहन कर रही है।'

जयमाला और देवसेना जैसे स्त्री-पात्रो के लिए जहा कर्त्तव्य और मर्यादा की रक्षा के लिए जीवन की बलि दे देना सरल और सामान्य कार्य है, वही युद्ध की भाव और विचार से समन्वित निम्नलिखित व्याख्या ध्यान देने योग्य है। जयमाला—'युद्ध क्या गान नही है ? रुद्रका श्रृगीनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रो का वाद्य मिलकर भैरव सगीत की सृष्टि होती है। ध्वसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर सगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय मे साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान मे ही मगल का, शिवका, सत्य सुन्दर सगीत का समारम्भ होता है।' युद्ध-कालीन स्थिति मे सामान्य भाषा मे यह न कहकर कि युद्ध मे मरने के लिए हम लोगो को तैयार रहना चाहिये—इस प्रकार रूपक की कल्पना तथा उसे दार्शनिक रूप देना प्रसाद जैसे कवि और दार्शनिक के लिए ही सम्भव है।

कल्पना और भावना की प्रतिमा, तथा उदात्त विचारों की सगीतमयी देवसेना विविध स्थलो पर कभी गम्भीर विचारो को व्यक्त करती है तथा कभी भाव-विभोर होकर राग अलापती है। कोई हृदय-हीन ही ऐसे पात्रो से साधारण मनुष्यो की भाषा मे अपने भावो और विचारों को व्यक्त करने की अपेक्षा करेगा। देवसेना स्वर्ग का निरूपण इस प्रकार करती है—'जहा हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड बनाकर विश्राम करती है, वह स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक मे मिलता है। जिसे नही मिला, वह इस ससार मे अभागा है।'

निराशा और व्यथा से पीडित देवसेना अपने जीवन की दयनीय अवस्था पर विचार-लीन है—'सगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रय हीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-धूमरेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन। मेरे प्रिय गान। अब क्यों गाऊं और क्या सुनाऊं।' इस गद्यांश का प्रत्येक शब्द मानों देवसेना की मार्मिक व्यथा की कहानी कह रहा है।

यह सर्वथा स्वाभाविक और उचित है कि नाटककार मातृगुप्त जैसे कवि-

पात्र से भावात्मक भाषा में अपनी बात कहलाये। कवि होते हुए यदि वह जन-जीवन की सामान्य बोली का प्रयोग करता है तो इसे अनुचित माना जायेगा। प्रसाद के विषय म पहले ही कहा गया है कि वे प्रथम तो कवि हैं बाद मे नाटककार। प्रकृति के सश्लिष्ट वर्णन के चित्र भी नाटक मे उपलब्ध होते हैं। उदाहरण स्वरूप काश्मीर छूटने पर मातृगुप्त द्वारा प्रयुक्त भावपूर्णगद्यांश प्रस्तुत है—

'अमृत के सरोवर म स्वर्ग कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थी, सन्ध्या म शीतल चादनी उसे अपनी चादर से ढक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था—वही स्वप्न टूट गया। प्रकृति का सश्लिष्ट चित्रण जिसमे कवि की आशा का महल धाराशायी हो जाता है—उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित प्रभा पीले पोखराज का सा, एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाक कर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता स सुसगठित थी। सुनहरी किरणो का जलन हुई। तप्त होकर वह महल गला दिया। पुतली ! उसका मगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पख गिर जाते हैं, मौन नीड म निवास करने दो ! छेड़ो मत मित्र।'

नाटककार की भाषा मे विषय को साकार उपस्थित करने का अद्भुत कौशल है—

'एक पाप-पक मे फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा ? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबाकर भग कर दिया जायगा।'

अनन्तदेवी विजया का उत्तर भी उसी प्रकार सशक्त तथा सजीव भाषा मे देती है, जिसे पढकर भाव मूर्त हो उठते हैं—'जा जा, ले अपने भटार्क को, मुझे ऐसे कीट पतगो की आवश्यकता नही। परन्तु स्मरण रखना, मै हू अनन्तदेवी। तेरी कूटनीति के कटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैलशृग का वज्र। मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे।' छायावादी भाषा शैली म अमूर्त भावनाओ को मूर्त रूप मे व्यक्त करना प्रमुखता से प्राप्त होता है। स्कन्दगुप्त मे भी ऐसे दृष्टान्तो का अभाव नही है। स्कन्द, शर्वनाग को क्षमा-प्रदान करते हुए कहता है—परन्तु मैं तुम्हे मुक्त करता हू, क्षमा करता हू। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्म-स्थल पर सैकडों बिच्छुओ के डक को चोट करेंगे।'

प्रसाद जी ने भाषा का प्रयोग पात्र और वातावरण को ध्यान मे रख कर किया है। हास्य का प्रयोग जहा भी उन्होने किया है वहाँ वातावरण की गम्भीरता से पैदा हुए तनाव को कम किया है तथा वहा भाषा उसके अनुकूल हो गई है। ऐसे

स्थलों पर तत्सम शब्दों का प्रयोग भी हुआ है पर वह तनिक भी असगत नही लगता है। धातुसेन और कुमारगुप्त का सवाद इसके उदाहरण में दिया जा सकता है—

कुमारगुप्त (हँसते हुए)—तुम्हारी लका मे अब राक्षस नहीं रहते ? क्यो धातुसेन।

धातुसेन—राक्षस यदि कोई था तो विभीषण और बन्दरों मे भी एक सुग्रीव हो गया था।

दूसरे प्रकरण म धातुसेन कहता है—सुना है सम्राट। स्त्री की मत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हे राज्य की झझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दु हाई। एक स्त्री को मत्री आप भी बना लें, बड़े बड़े दाढ़ी मू छ वाले मन्त्रियो के बदले उसकी एकान्त मन्त्रणा कल्याणकारिणी होगी।'

उपर्युक्त उद्धरण म हास्य और व्यग्य का सुन्दर मिश्रण है। धातुसेन देश-द्रोही शक्तियो की ओर सकेत करता है। तथा सम्राट की विषय वासना की आसक्ति पर अप्रत्यक्ष रूप से व्यग्य करता है। धातुसेन का हास्य परम्परागत विदूषकों का हास्य नहीं है बल्कि उसम स्थिति का यथार्थ चित्रण है। ऐसे जहा केवल हास्य का प्रयोग हुआ है वहा भाषा सरल और विषय के अनुकूल हो गई है—

धातुसेन—(हाथ जोडकर) 'यदि दक्षिणा पथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छदतापूर्वक लेट रहूगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा।'

मुद्गल—'जय हो देव! पाकशाला पर चढाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वनाश कर डालू।' ये उद्धरण इस तथ्य के साक्षी हैं कि प्रसाद ने कवित्व और दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्त करने योग्य भाषा के साथ हास्यानुकूल सरल भाषा का भी प्रयोग किया है। 'राज्यश्री' तथा 'अजातशत्रु' मे भी ऐसे स्थल आये हैं, जहा सूचना देने के साथ सरल और बोधगम्य भाषा मे हास्य की सृष्टि होती है। कौशाम्बी पथ मे जीवक और वसन्तक का सवाद इसका साक्षी है। वसतक के वार्तालाप से यह ज्ञात होता है कि राजशक्ति चाटुकारिता को पसन्द करती है, उसके सामने उचित और अनुचित का प्रश्न गौण है—

जीवक—'तुम लोग जैसे चाटुकारो का भी कैसा अधम जीवन है।'

वसतक—'और आप जैसे लोगो का उत्तम? कोई माने चाहे न माने, टाग अड़ाये जाते हैं। मनुष्यता का ठीका लिये फिरते हैं।'

'स्कन्दगुप्त' मे परम्परागत विदूषकों के अनुसार मुद्गल पेटू और भोजनप्रिय है। इस स्वभाव के अनुकूल नाटककार ने उसके लिए भाषा का भी प्रयोग किया है—

देवसेना—'आज कौन-सी तिथि है।'

मुद्गल-'हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी, क्योंकि ठीक मध्याह्न मे एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ़ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है।'

प्रसाद का अन्तिम वृहदाकार नाटक 'चन्द्रगुप्त' है जिसमे उनकी भाषा की प्रौढ़ता नाटकीय गरिमा के साथ दृष्टिगोचर होती है। इसमे मनोवेगों को व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। क्रोध, क्षोभ, शान्ति और व्यग्य को प्रभावोत्पादक भाषा मे नाटककार ने व्यक्त किया है।

'चन्द्रगुप्त' मे चाणक्य एक ऐसा पात्र है जो केवल अपनी लक्ष्य सिद्धि चाहता है। किसी प्रकार की विघ्न-बाधा से रचमात्र भयभीत नही, वह अपने मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ता है। वह हिमालय के समान अडिग और समुद्र के समान गम्भीर है। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि ऐसे पात्र की भाषा मे एकरूपता होगी, उसके भावो और मनोविकारो के चढ़ाव-उतार के साथ भाषा का भी रूप परिवर्तित होगा। चन्द्रगुप्त चाणक्य से बहुत अधिक प्रभावित है। कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रमुखता के साथ उसकी भावनाओ का कोमल पक्ष भी कही कही उभर आया है—इसलिए ऐसे स्थलों पर भाषा भी भावानुकूल हो गयी है—अन्यथा चन्द्रगुप्त की भाषा मे भी एकरूपता का ही बाहुल्य है। यहाँ हमारा अभिप्राय केवल यही स्पष्ट करना है कि पात्रो की सांस्कृतिक और भावनात्मक विविधता के कारण भाषा के स्वरूप मे भी किंचित चढ़ाव उतार आये हैं। आरम्भ मे ही यह कहा गया है कि प्रसाद जी भाषा की एकरूपता के समर्थक हैं। चाणक्य ने अपने शान्त, राजनैतिक तथा अन्य विचारो को अनेक स्थानो पर बड़े वेग और बल के साथ व्यक्त किया है। उसकी मानसिक स्थिति के अनुकूल भाषा का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट होगा। राजनैतिक स्थिति की व्याख्या करते हुये वह सिंहरण से कहता है—

'तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नही होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। क्या तुम नही देखते हो कि सर्वनाश होगा।

नन्द की राजसभा से अपमानित कर चाणक्य को शिखा पकड़ कर वहाँ से बाहर निकाला गया। उस समय चाणक्य के प्रत्येक शब्द से अग्नि ज्वाला निकल रही है—

'खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते! खींच ले।

परन्तु यह शिखा नन्द कुल की कालसर्पिणी है, वह तब तक बन्धन में न होगी, जब तक नन्दकुल निःशेष न होगा।'

चाणक्य, सुवासिनी के हृदय मे राक्षस के प्रति अनुराग पैदा करने की भावना से अपनी स्थिति स्पष्ट करता है। इस समय चाणक्य की भाषा मे पहले की तरह रुक्षता नहीं है। भाषा भाव के अनुकूल कोमल हो गयी है—

चाणक्य—(हसकर)—सुवासिनी! वह स्वप्न टूट गया—इस विजन बालुका-सिन्धु मे एक सुधा की लहर दौड पडी थी, किन्तु तुम्हारे एक भ्रू-भग ने उसे लौटा दिया। मैं कगाल हू।'

चन्द्रगुप्त को सर्वप्रथम तक्षशिला के गुरुकुल मे आम्भीक के आक्रमण के समय सिंहरण के सहायक रूप मे हम देखते हैं—वहा जैसी भाषा का प्रयोग वह करता है, प्राय उसी प्रकार की भाषा उसके सम्वादो मे प्राप्त होती है। मालविका के साथ वह हृदय की भाषा मे बोलता है।

चन्द्रगुप्त—(सहसा प्रवेश करके)—ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नही बना सकता है, यह क्या! राजकुमार! खड्ग को कोश मे स्थान नही है क्या?'

वह मालविका से अपनी व्यक्तिगत स्थिति का विश्लेषण करते हुए अपने भीतर चलने वाले सघर्ष को इस प्रकार व्यक्त करता है—

चन्द्रगुप्त—'सघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाडकर देखो, मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वन्द्व। कोई कमी नही, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची मे रिक्त चिन्ह लगा देता है। मालविका, तुम मेरी ताम्बूल वाहिनी नही हो, टटोलने से भी नही जान पडता?'

भावना की तीव्रता के साथ भाषा मे तीव्रता आयी है। युद्ध के वातावरण म शौर्य प्रकाशन मे चन्द्रगुप्त की भाषा मे गतिशीलता है। मालविका, कल्याणी अथवा कार्नेलिया से बातें करते समय उसकी भाषा की गति मे शिथिलता आ गई है।

भावो और मनोविकारो की भिन्नता के कारण प्रसाद की भाषा मे अनेकरूपता परिलक्षित होती है। दाण्ड्यायन, चाणक्य, व्यास, बुद्ध और कृष्ण जैसे पात्र अध्यात्म दर्शन तथा जीवन और जगत के शाश्वत और क्षणिक तत्वो पर विचार करते हैं। नियतिवाद, कर्मवाद योगवाद और आनन्दवाद जैसे दार्शनिक विषयों पर विचार करने के लिए स्वाभाविक है कि विषय के अनुकूल भाषा मे गम्भीर्य आ जायेगा। देवसेना, मालविका, और कोमा जैसे भाव-प्रवण पात्रों के सम्वादो मे भाषा काव्यात्मक हो गई है। मातृगुप्त जैसे कवि चरित्र के प्रयुक्त गद्यांश गद्य गीत के सुन्दर दृष्टान्त हैं। भाषा की यह सुषमा, मधुमयता और प्रवाह प्रसाद की प्रौढ

भाषा शैली की अपनी विशेषतायें हैं। स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त मे प्रसाद की उत्कृष्ट भाषा शैली के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। 'राज्यश्री' से लेकर चन्द्रगुप्त तक प्रसाद की भाषा का क्रमिक विकास हुआ है। इस विषय म यह मत—'उनके नाटको की भाषा शैली मे विकास की परम्परा अन्तर्निहित है, जो भाषा के सारल्य और भावो के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढती गई है'[1] बहुत ही उपयुक्त है।



१ आचार्य वाजपेयी 'हिन्दी साहित्य—बीसवी शताब्दी' सन् १९५४ का प्रकाशन

१२ तुलना और उपसंहार

प्रसाद तथा द्विजेन्द्रलाल राय तुलनात्मक मूल्यांकन

बंगला साहित्य के महानतम नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय तथा हिन्दी के युग प्रवर्तक नाट्य प्रणेता जयशंकर प्रसाद की तुलना यहां इसलिए अपेक्षित समझी गयी है कि दोनों प्रवृत्तियां स्वच्छन्दतावादी हैं तथा दोनों ने नाट्य-योजना को नव-जीवन दिया है। प्रसाद तथा राय के अधिकांश नाटक इतिहास सम्बलित हैं तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन व्यापार पर आवृत नाट्य-रचना दोनों ने की है। यहां हमारी तुलना का प्रमुख आधार दोनों के चन्द्रगुप्त नाटक होंगे, फिर भी इन्हीं के माध्यम से हम दोनों के कलात्मक वैशिष्ट्य की समग्रता तथा उनकी शाश्वत जीवन दृष्टियों की परिव्याप्ति को भी देखने की चेष्टा करेंगे।

जहां तक 'चन्द्रगुप्त' की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, दोनों नाटककारों में मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। राय चन्द्रगुप्त को मुरा दासी का पुत्र मानते हैं जबकि प्रसाद उसे क्षत्रिय सिद्ध करते हैं। राय महोदय ने नन्द की हत्या में मुरा को घसीट लिया है, मुरा का हत्या के लिए आदेश देना अस्वाभाविक हो जाता है क्योंकि मुरा ने जो कुछ पहले कहा है वह इस क्रूर कार्य के सर्वथा विपरीत है। चाणक्य के सम्बन्ध में भी दोनों एक ही ऐतिहासिक बिन्दु पर नहीं खड़े हो पाये हैं। यहां हम दोनों नाटककारों की इतिहास भिज्ञता तथा पाण्डित्य की छान-बीन नहीं कर सकेंगे, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि इतिहास के अन्तरंग ज्ञान की सूक्ष्मता तथा बहुलता जितनी 'प्रसाद' में है, उतनी 'राय' में नहीं। 'प्रसाद' इतिहास के विस्तृत ज्ञान की भावभूमि पर अपने अगाध सांस्कृतिक प्रेम को दर्शाते हुए मानव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों को उद्घाटित करने में वे बेजोड़ हैं।'[1] उनमें इतिहास की

१. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृष्ठ १२६

मौलिक सूझ तथा उद्भावनायें विद्यमान हैं, जिन्हे इतिहास के पण्डित भी स्वीकार करते है। उनके चन्द्रगुप्त नाटक के 'मौर्य वश' शीर्षक ५१ पृष्ठो के शोधात्मक लेख से हमारे इस कथन की प्रामाणिकता स्वत. सिद्ध हो जाती है। दोनो नाटको मे देश-प्रेम के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। राष्ट्रीय वीरत्व को विदेशी शक्तियो के सम्मुख श्रेष्ठ घोषित करने का प्रयास राय और प्रसाद—दोनो कलाकारो ने किया है, परन्तु उक्त भावना को नाटक मे सघर्षात्मक भूमिका देने मे प्रसाद को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। राय की सघर्षात्मक प्रक्रिया भावुकता से ओत-प्रोत है। राष्ट्रीय भावनाओ को उभाडने मे उन्होंने अति यथार्थवादी कार्य व्यापारों की सघटना की है, परिणामतः उनकी दृष्टि एकागी हो गई है और इसी कारण चारित्रिक विशेषतायें नही उभरने पायी हैं। ऐलेक्जेण्डर ऐसे व्यक्ति को भी राय ने उसका चारित्रिक गौरव नही प्रदान किया है जबकि प्रसाद ने सघर्ष एव कार्य-व्यापार की भूमिका पर उसके वीरत्व एव विश्व विजयिनी भावना को जीवन्त रखने की चेष्टा की है। चरित्र प्रधान नाटको की यही विशेषता भी होती है कि उसमे सभी पात्रो की चारित्रिक विशेषतायें सुरक्षित रहें। किसी विशेष पात्र के चरित्र को काली स्याही से रग कर दूसरे पात्र को गौरवशील बनाना उत्कृष्ट नाट्य कला का उदाहरण नहीं है। कुछ समीक्षक राय को बगला का शेक्सपियर मानते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि मानव चरित्र के प्रति जितनी गहरी आस्था शेक्सपियर म है, उतनी राय मे कहा? शेक्सपियर के नाटको मे मानव-जीवन का वैविध्य है, उसने प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशिष्टताओ को तटस्थ होकर विश्लेषित किया है। उसके नाटको मे नृशस से नृशस चरित्रो की चारित्रिक रेखाओ को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया पर उभडते हुए हम देखते हैं, उदात्त से उदात्त चरित्र की कतिपय मानवीय कमजोरियाँ अन्तर्द्वन्द्व और नाट्य-सघर्ष के आधार पर नाट्य पटल पर दिखाई पडती हैं। राय के नाटक पहले से निर्धारित चरित्र को साथ लेकर चलते हैं, परिणामत. कुछ पात्र अति उदात्त भूमिका पर उपस्थापित होते हैं, और अन्य चरित्र तिरोहित या नगण्य हो जाते हैं। इसके मूल मे राष्ट्रीय तथा नैतिक उत्कर्ष के प्रति उनका भावुक दृष्टिकोण है। बल्कि शेक्सपियर की विशेषताओं से मिलती जुलती कतिपय विशेषतायें हम प्रसाद म विशेष रूप से पाते हैं। प्रसाद के नाटकों मे भी चारित्रिक वैविध्य है, मानवीय सवेदनाओं को स्पर्श करने की अद्भुत क्षमता उनमे रही है। उनके नाटकों के प्रतिनायक—चाहे वह देशी हो या विदेशी—अपनी समस्त वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ नाट्य-भूमि पर उपस्थित है, इसी से प्रसाद को शेक्सपियर के अधिक समीप हम पाते हैं। उनका प्रत्येक पात्र अपना एक विशेष व्यक्तित्व रखता है। मानव मन की जितनी गहरी जानकारी प्रसाद के पास थी, उतनी राय के पास नही।

प्रसाद और राय दोनो के चाणक्य के चरित्र मे पर्याप्त भेद है। प्रसाद का

चाणक्य उस ब्राह्मणत्व का प्रतीक है जो ब्राह्मण न तो किसी के राज्य मे रहता है, न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य म रहता है और अमृत होकर जीता है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से माया स्तूपो को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।[1] दक्षिणा पथ के विजय के बाद उत्सव मनाने का चाणक्य द्वारा विरोध करने पर चन्द्रगुप्त के माता पिता रुष्ट होकर चले गये हैं, जिससे चन्द्रगुप्त क्षुब्ध होकर चाणक्य से पूछता है—'यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं ? केवल साम्राज्य का नही, देखता हू, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथो मे रखना चाहते हैं।' उससे चाणक्य के स्वाभिमान को धक्का लगता है, स्वाभाविक भी है क्योकि उसने निष्काम भावना से राष्ट्र हित के लिए ही सब कुछ किया है, कहता है—

'चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण हू ! मेरा साम्राज्य करुणा का था। आनन्द-समुद्र में शान्ति द्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मैं, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र मेरे द्वीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य श्यामला कोमला विश्वम्भरा मेरी शय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की, जन्मभूमि को छोडकर कहाँ आ गया। सौहार्द के स्थान कुचक्र, फूलो के प्रतिनिधि काटें। प्रेम के स्थान मे भय। ज्ञानामृत के परिवर्तन मे कुमन्त्रणा। पतन और कहा तक हो सकता है। ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त। अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा। मेरा जीवन राजनीतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलकित हो उठा है। किसी छाया चित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसन्धान करता दौड रहा हू। शान्ति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया। जान गया मैं कहा और कितने नीचे हू। (प्रस्थान)।'[2]

चाणक्य के उपर्युक्त कथन में उसकी वैयक्तिक चारित्रिक विशेषताए अनुरेखित हैं, इसमे उसका वह ब्राह्मणत्व भी सुरक्षित है जिसने अनासक्त बुद्धि से राष्ट्र-हित के लिए सब कुछ किया है। वह चन्द्रगुप्त से अलग होकर भी 'प्रात काल उठ कर ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर रहा है।'[3] चन्द्रगुप्त से कतिपय कारणवश अलग होता है, परन्तु राष्ट्र कल्याण मे वह निरन्तर रत है। वहीं पर राय का चाणक्य चन्द्रगुप्त से अलग होकर व्याकुल है, विक्षिप्त है—'यह सुन्दर हसी से भरा जगत है, और मैं इसका कोई नहीं हू, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अकेले मैं ही इस असीम सौन्दर्य के राज्य से निर्वासित हू। जगत मे अमृत के सागर की लहरें बही जा रही हैं, और बगल में मतप्त तृषित हृदय के किनारे पर छटपटा रहा हू—नन्दन-वन के छोर पर शूकर की तरह गढैया के कीचड म लोट रहा हू।'[4] इस कथन से

१ प्रसाद चन्द्रगुप्त, पृ० ५६
२ वही पृ० १८८
३. हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, पृष्ठ २४९।
४ चन्द्रगुप्त, द्विजेन्द्रलाल राय (अनु० रूपनारायण पांडेय), पृष्ठ १२९।

स्पष्ट है कि राय का चाणक्य राजसुख के लिए कितना लिप्सित है, उससे वंचित होने पर वह अपने को गढैया के कीचड में लोटने वाला शूकर समझता है। राय में चाणक्य की वह चारित्रिक गरिमा सुरक्षित नही है, जो प्रसाद मे सुरक्षित है। वह चाणक्य, जिसके बौद्धिक विन्यास पर राष्ट्र का भाग्य निर्मित हुआ है, अपने को शूकर समझता है, कुछ हास्यास्पद प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रसाद और राय दोनो के चाणक्य का एक स्वरूप तब देखा जा सकता है, जब नन्द से बदला लेने की बात उठती है। प्रसाद का चाणक्य व्यक्तिगत के द्वेष को भूलकर नन्द की हत्या करनेवाले नागरिको को रोककर उनसे कहता है—'हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिए भिक्षा मागकर तुम्हें जीवन-दान दे सकते है। नागरिक वृन्द आप लोग आज्ञा दें, नन्द को जाने की आज्ञा दें।'[1] वही पर राय के चाणक्य में व्यक्तिगत द्वेष की इतनी प्रधानता है कि वह अति निष्ठुर एव अमानवीय हो गया है। चन्द्रकेतु के रोकने पर भी वह कात्यायन को नन्द का वध करने के लिए प्रोत्साहित करता है, और उसकी मृत्यु के बाद उसके रक्त से अपने हाथ रगकर अपनी चोटी बाधता है। 'शत्रु के मृतक होने पर साधारण व्यक्ति भी प्रतिहिंसा की भावना त्याग कर देता है, चाणक्य जैसे ब्राह्मण का यह कृत्य क्या प्रशसनीय हो सकता है?'[2]

राय के चन्द्रगुप्त की अपेक्षा प्रसाद का चन्द्रगुप्त भी अधिक स्वावलम्बी तथा आत्म विश्वासी है। चाणक्य के रुष्ट होकर चले जाने के बाद वह निराश तथा हतप्रभ नही होता है। सिंहरण भी दुखी होकर गुरुदेव की खोज में निकल जाता है, ऐसे ही समय मे हम प्रसाद के चन्द्रगुप्त का आत्मबल उसी के शब्दों मे देखें—'पिता गए, माता गईं, गुरुदेव गये, कधे से कधे भिडाकर प्राण देनेवाला चिर सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पडेगा और रहेगा।'[3] वही पर राय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के अभाव मे मानों अपना अस्तित्व ही खो बैठा है। उसके इस कथन से बात स्पष्ट हो जाती है—'मैं युद्ध नही करूगा। मैं अपने से बदला लूगा। मैं आत्म हत्या करूगा। शत्रु कौन है, प्रिय कौन है, मैं नही पहचानता। बाहर शत्रु हैं, घर मे शत्रु हैं। विशाल विस्तृत नदी के बीच म तूफान उठा है। इस नाव को पार लगाने वाला कर्णधार नही है। नाव इन लहरो मे इधर उधर उछलती गिरती डोल रही है। दे झोका दे झोका। डूबने ही वाली है—अब देर नही। कैसा मजा है! चाणक्य नहीं हैं, जो सलाह दें चन्द्रकेतु नही हैं, जो प्राण दें। दे झोका—दे झोका।'[4]

---

१. चन्द्रगुप्त प्रसाद, पृष्ठ १७१-७२।
२. हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, पृ० २४९।
३. प्रसाद : चन्द्रगुप्त, पृ० १८९।
४ द्विजेन्द्रलाल राय . चन्द्रगुप्त, पृ० ११३।

इससे स्पष्ट है कि प्रसाद के चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक दूसरे के पूरक होते हुए भी अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखते हैं, और वहीं उनकी चरित्रगत वैयक्तिकता भी सुरक्षित है, परन्तु राय महोदय के चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त का अस्तित्व एक दूसरे पर आधारित है। इस प्रकार के चरित्र विन्यास से राय के सम्बन्ध में जो तथ्य सामने आता है, वह यह है कि उनके पात्र 'टाइप्स' अथवा वर्ग के प्रतीक हैं। स्वयं एक स्वच्छन्दतावादी कलाकार होते हुए भी उन्होंने 'टाइप्स' पात्रों की चरित्र सृष्टि की है, जबकि स्वच्छन्दतावादी नाटककार व्यक्तित्व प्रधान अथवा 'इन्डिविजुयल चरित्र-सृष्टि करता है। प्रसाद की चारित्रिक सृष्टि वैविध्यपूर्ण होती है, उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। उनके चरित्र अपनी सम्पूर्णता में अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। यह दृष्टि चरित्र प्रधान नाटक के लिए अनिवार्य है।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर राय के नाटकों की सफलता प्रसाद की अपेक्षा अधिक मान्य हैं। सार्वजनिक संवेदन को ग्रहण करने की शक्ति राय के नाटकों में अपेक्षाकृत अधिक है। इसका कारण भी ज्ञातव्य है। उन्होंने अपने नाटकों में राष्ट्रीय भावना या चेतना को विशेष रूप में उभाड़ा है, उनका सम्पूर्ण नाटकीय विधान इसी मूल भावना पर केन्द्रित है, इसी कारण उनके नाटकों में 'मास अपील' की प्रधानता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनके नाटक मूलतः भावना-प्रधान हैं। प्रसाद के नाटकों में भावना एवं बौद्धिकता के विनियोग में संतुलन है। लगता है प्रसाद ने नाटकीय क्षिप्रता की आवश्यकता पर भी जोर नहीं दिया है, इसीसे उनके नाटकों में मंथरता का दोष व्याप्त है। अभिनय की दृष्टि से उनकी भाषा भी व्यवधान कारक है। उन्होंने कवित्वपूर्ण भाषा का प्रयोग दार्शनिक विन्यास के साथ किया है। इसीसे वह सामान्य दर्शकों के लिए सुगम नहीं हो पाती है, विशिष्ट सांस्कृतिक लोगों के लिए बोधगम्य अवश्य है। सार्वजनिक भाव विनियोग की क्षमता उनके नाटकों में सम्भवतः नहीं है।

वस्तु-संगठन में भी प्रसाद नाटकीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखते हैं। इसी से उनके 'चन्द्रगुप्त' आदि कुछ नाटकों के कथानक लम्बे चौड़े प्रसरित हैं। 'चन्द्रगुप्त' में तो २५-३० वर्षों के इतिहास को समाहित किया गया है। उसमें अन्तर्कथाओं का भी आधिक्य है, परिणामतः कथानक की अन्विति में बिखराव बना हुआ है। दूरवर्ती क्षेत्रों की घटनाओं को केन्द्रवर्ती सूत्र में गूंथना, नाटकीय दृष्टि से सम्भव नहीं है। राय के नाटकों में अन्तर्कथाएँ सीमित हैं और जो हैं भी वे मूल कथा से जुड़ी रहकर नाटकीयता को प्रवहमान करती हैं, वे उद्देश्योन्मुख हैं, फलस्वरूप उनके नाटकों में उद्देश्य की एकता सुरक्षित रहती है। राय के 'चन्द्रगुप्त' में ही हम देखते हैं कि प्रमुख कथा के साथ मगध और मलय की कथायें सम्पृक्त हैं परन्तु उनका सम्बन्ध केन्द्रीय सूत्र से है, दोनों मूल कथा की प्रभाव वृद्धि में सहायक

हैं। 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' में मालव, मगध, पचनद, तक्षशिला—की अन्तर्कथायें सयुक्त हैं और उन सबकी भिन्न-भिन्न विस्तृत समस्यायें हैं—जिन्हें मूल कथा के साथ सम्पुटित करने में नाटककार की वस्तु-सघटना शिथिल हो गई है। कुल मिलाकर राय के नाटक सर्वसामान्य की दृष्टि से 'प्रसाद' से अधिक प्रभावोत्पादक हैं, इसका कारण हमने ऊपर बतलाया है—भावना की प्रधानता। परन्तु प्रभावशालिता ही नाटक की कसौटी नहीं हो सकती। वास्तविकता को उपेक्षित करके भी प्रभावशालिता पैदा की जा सकती है। प्रसाद के नाटकों में मानव-जीवन का जैसा वैविध्य है, चारित्रिक गौरव है, दार्शनिक विन्यास है, भावना और बुद्धि का सन्तुलन है, वैसा राय में कहाँ है ?

'प्रसाद' तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी' . एक तुलनात्मक दृष्टि

'प्रसाद' और 'प्रेमी' की तुलना इसलिये आवश्यक समझी जा रही है कि प्रसाद हिन्दी के युगनिर्माता स्वच्छन्दतावादी नाटककार हैं तो उनके उपरान्त 'प्रेमी' सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी नाट्य प्रणेता सिद्ध होते हैं। तुलना से एक दूसरे की विशेषतायें स्पष्ट हो सकेंगी और उनकी कलात्मक सफलता के आधार पर उनके स्थानों का भी निर्धारण हो सकेगा। तुलना की भूमिका होगी, दोनों की प्रमुख ऐतिहासिक नाट्य-कृतियां, उन्हीं के आधार पर हमें उनकी वस्तु-ग्रहण की क्षमता तथा नाट्य-सयोजन की शिल्पगत परिणति का ज्ञान हो सकेगा।

प्रसाद ने अपने नाटकों के विषय के लिए उस युग को चुना है जिसे भारतीय सस्कृति की उन्नति और विस्तार का स्वर्णयुग कहा गया है, अर्थात् जनमेजय परीक्षित से लेकर हर्षवर्धन तक। इसके बीच में बौद्धकाल, मौर्यकाल और गुप्तकाल ऐसे हैं, जहां भारतीय सस्कृति का चरम प्रकर्ष दिखाई पड़ता है और प्रमुखत उनके ऐतिहासिक नाटकों के विषय इन्हीं कालों पर आधारित हैं। 'प्रसाद' भारतीय सस्कृति के महान् उपासक थे, उपासक अन्ध भक्त के अर्थ में नहीं, वरन् उनकी उच्चतम विशिष्टताओं के साथ क्रियात्मक कल्पना एव वैयक्तिक प्रतिभा द्वारा उसे नवीन सस्कृति से समन्वित करने वाले समर्थ कलाकार थे। उन्होंने उस सास्कृतिक उत्थान के ऐतिहासिक काल को पकड़ कर उसमें जीवन की बहुलता को प्रदर्शित किया है तथा उसी के माध्यम से देश-प्रेम, इतिहास प्रेम, सस्कृति प्रेम की भाव-धाराओं को उद्घाटित भी किया है। इनके नाटकों में शौर्य, प्रेम, द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्द्वन्द्व आदि के प्रबल आवेगों का चित्रण हुआ है। अत प्रसाद ने ऐसे विषयों को चुनकर उनके माध्यम से प्रबल भावनाओं और अनियन्त्रित मानसिक आवेगों की अभिव्यक्ति कर अपनी स्वच्छन्दतावादी भावधारा का परिचय दिया है।'[1] उन्होंने

---

१. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक पृ० ९३।

इतिहास से कथा लेने के सम्बन्ध में आपने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे उल्लेखनीय हैं—'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी जातीय सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।'[१] अत अपनी अटूट सांस्कृतिक निष्ठा के कारण ही उन्होंने ऐसे ऐतिहासिक कालो को चुना है जिसमें भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श सुरक्षित हो।

प्रेमी के ऐतिहासिक नाटको के मूल स्वर हैं हिन्दू मुस्लिम ऐक्य और राष्ट्रीयता। इसलिये उन्होंने इतिहास के ऐसे खण्ड को चुना है जहा उनके विचार नियोजन की भूमि मिल सके। इसके लिए मुगल कालीन युग उनको सबसे उपयुक्त जान पड़ा। हम अपनी बात को पुष्टि उन्ही के कथन से करना चाहेंगे 'पजाब मे मान बासुरी और कर्म का शख फूकने वाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में—हिन्दुओ और मुसलमानो को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बड रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया।'[२] बहिन लज्जावती के उक्त आदेश म राष्ट्रीय एकता का भाव निहित था, जिसे प्रेमी ने अपने नाटको के माध्यम से जागृत किया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व जाति-भेद धर्म-भेद की भावना के विरुद्ध गाधी जी के नेतृत्व मे नारा लगना प्रारम्भ हो गया था, हिन्दू मुस्लिम एकता की भावना भी प्रबल हो उठी थी। बगला के कुशल कलाकार द्विजेन्द्रलाल राय ने जनता के मनोभाव को पहचानकर मध्यकालीन इतिहास की पीठिका पर नाट्य-सृष्टि प्रारम्भ कर दी थी, जिसमे मुसलमान काल के चित्रो को सहानुभूति पूर्ण ढग से चित्रित किया गया है। हिन्दी नाटककारो मे प्रेमी के ऊपर द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव सम्भवत सबसे अधिक पड़ा है। अत हम कह सकते हैं कि 'प्रेमी' ने गाधी के सिद्धान्तो कुमारी लज्जावती के आदेश तथा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको से प्रेरणा पाकर, राष्ट्रीय-एकता की भावना से सपृक्त नाटको की सृष्टि की। उनका निम्नलिखित कथन भी इसका प्रमाण है—'मैंने अपने नाटको द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है। मेरे इन लघु यत्नो को राष्ट्रीय मन मे क्या स्थान मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।'[१]

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि दोनो नाटककारो ने इतिहास से अपने नाटकों की कथा-वस्तु ली है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि एक ने

---

१ विषपान की भूमि।

२- शिवा साधना, प्रेमी, 'अपनी बात', पृ० (क)।

१. स्वप्न भग, प्रेमी, भूमिका।

प्राचीन काल अर्थात् हर्षवर्धन के काल तक को ही अपने नाटकों का विषय बनाया है तो दूसरे ने मध्यकाल अर्थात् मुगलकाल से नाट्य-वस्तु चुनी है। इसका कारण यही हो सकता है कि 'प्रसाद' की भारतीय संस्कृति में गहन आस्था थी इसलिए संस्कृति का जहां चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ा वहीं इतिहास-खण्ड उनके नाटकों का विषय बना। 'प्रेमी' हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक हैं, इसलिए उनकी भावना एवं कल्पना को रमने के लिए मुगलकाल सबसे उपयुक्त सिद्ध हुआ। अब प्रश्न उठ खड़ा होता है वस्तु-विन्यास का। देखना यह कि वस्तु विनियोग में प्रसाद अधिक सफल है कि प्रेमी।

यह तो निर्विवाद है कि 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ज्ञान 'प्रेमी' से विस्तृत एवं सूक्ष्म है। 'प्रसाद' ऐतिहासिक ज्ञान की भावभूमि पर अपने अगाध सांस्कृतिक प्रेम को दर्शाते हुये मानव की सूक्ष्माति सूक्ष्म वृत्तियों को उद्घाटित करने में बे जोड़ हैं। प्रेमी का ऐतिहासिक ज्ञान इतिहास के पृष्ठों तक ही सीमित है। उनमें उतनी मौलिकता सूझ तथा उद्भावनायें नहीं हैं, जितनी प्रसाद में। 'प्रेमी' के ऐतिहासिक नाटक घटना-प्रधान हैं, प्रसाद के चरित्र-प्रधान।'[1] वस्तु को 'क्रियात्मक कल्पना' एवं 'वैयक्तिक प्रतिभा' द्वारा नियोजित करने का उद्योग स्वच्छन्दतावादी नाटकों में शास्त्रीय नाटकों की अपेक्षा अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। प्रसाद ने ऐतिहासिक नाट्य-वस्तु को क्रियात्मक कल्पना एवं वैयक्तिक प्रतिभा द्वारा ऐसा सवारा है कि ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा होते हुये भी उनमें मौलिक उद्भावनाओं का समाहार है, इसी से मानव जीवन की सूक्ष्माति सूक्ष्म वृत्तियों का उद्घाटन भी वे अत्यंत सफलता पूर्वक कर सके हैं। 'प्रेमी' जी में क्रियात्मक कल्पना और वैयक्तिक प्रतिभा का सम्मेलन प्रसाद की तुलना में बहुत कम हो पाया है, परिणामतः मानव-मन की अन्तर्वृत्तियों का व्यापक चित्रण उनके नाटकों में नहीं हो सका है।

प्रसाद के नाटकों में मूल कथा के साथ कई अन्तर्कथायें जुड़ी हुई हैं जिनसे जीवन के बहुरंगी चित्रों का अंकन करने में उन्हें विशेष सफलता मिली है। प्रेमी जी प्रमुख कथा पर ही बल देते हैं, उनके नाटकों में अन्तर्कथायें बहुत ही कम हैं, फलस्वरूप उनमें जीवन का वैविध्य नहीं मिलेगा। इसी से प्रसाद के नाटकों को चरित्र-प्रधान कहा गया है और प्रेमी के नाटकों को घटना-प्रधान। प्रेमी जी ऐसे कथानक को लेते हैं जिसमें रस की परिणति ठीक से हो सके। सीमित भूमि में तीव्र प्रभाव की योजना सम्भव है और वह प्रेमी जी के नाटकों में दिखाई पड़ती है। यहां पर टेकनीक की दृष्टि से 'प्रेमी' जी की सफलता प्रदर्शित की जा सकती है, परन्तु स्वच्छन्दतावादी नाटककार 'टेकनीक' पर उतना ध्यान नहीं देता जितना आन्तरिक सौंदर्य पर। प्रसाद के नाटकों में अन्तर-सौन्दर्य का आधिक्य है, उन्होंने वाह्य शिल्प-निरूपण पर कम ध्यान दिया है।

१. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० २२६।

'प्रेमी' के नाटकों की भाषा पात्रों के अनुकूल है, 'प्रसाद' जी की भाषा पात्रों के विचारों और भावों के अनुरूप। हमें यहां दोनों नाटककारों के नाट्य-भाषा सम्बन्धी मन्तव्य उद्धृत करना चाहिए। प्रेमी ने 'शिवा साधना' के प्राक्कथन में लिखा है, 'साधारणतः इसकी भाषा शुद्ध हिन्दी है। सारे हिन्दू पात्रों से हिन्दी ही बुलवाई गयी है, किन्तु मुसलमान पात्र के मुख से उसकी स्वाभाविक भाषा बुलवाई गई है। अभी तक हिन्दी लेखकों की यही परिपाटी रही है। हिन्दू नाटककारों में 'प्रसाद' जी ऐसे हैं जिनके नाटकों में उर्दू भाषा का अभाव है, किन्तु उनके नाटकों में मुसलमान पात्र आये ही नहीं हैं [1]।' अब हम प्रसाद का भी विचार देखें—'आज यदि कोई मुगल कालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र हैं तो उनकी जंगली भाषा ही रखनी चाहिए। और इतने पर क्या वह नाटक हिन्दी का रह जाएगा ? यह विपत्ति कदाचित हिन्दी नाटकों के लिए ही है। मैं तो कहता हूं कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिये। किन्तु इसके लिए 'भाषा की स्वतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिये ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार ही सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए [2]।

उपर्युक्त कथनों से इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि 'प्रेमी' जी की नाट्य-भाषा सम्बन्धी धारणा बहुत दूर तक शास्त्रानुमोदित है। पात्रानुकूल भाषा के लिए उन्होंने अपने समकालीन तथा पूर्व के नाटककारों का समर्थन किया है, केवल प्रसाद की भाषा को अपवाद माना है। परन्तु 'प्रसाद' परम्परा को छोड़ कर भाषा की एकतन्त्रता के पक्षपाती हैं। हां, यह अवश्य ध्यान रहे कि उसकी 'सरलता और क्लिष्टता' पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार हो। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' जी शुद्ध हिन्दी के समर्थक हैं, वे खिचड़ी भाषा के विरोधी हैं। इसी से उनकी भाषा में 'भावों और विचारों' के अनुरूप सरलता, प्रवाहमानता एवं प्रगीतात्मकता के तत्व विद्यमान हैं। वैसे 'प्रेमी' ने भी १९४० ई० में 'स्वप्न भंग' के प्रकाशन के साथ अपनी नाट्य-भाषा सम्बन्धी पूर्व निर्धारित धारणा को बदल दिया—'मैंने अपने नाटकों में यह नियम रखा है कि हिन्दू पात्रों की भाषा हिन्दी तथा मुस्लिम पात्रों की उर्दू रखी जाय। यह नाटक इसका अपवाद है। इसके लगभग सभी पात्र मुसलमान हैं, उनकी भाषा उर्दू रखने से नाटक हिन्दी भाषियों के

१ शिवा साधना, 'अपनी बात', पृ० (घ)

२ काव्य कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद (प्र० सं०) पृ०११९

काम का न रहना [1]।' उनका यह कथन केवल स्वप्नभग तक नही सीमित रहा है, उसके बाद के सभी नाटको मे उनकी बदली हुई भाषा सम्बन्धी विचार धारा मिलेगी। 'शतरज के खिलाडी' की भूमिका मे तो उन्होने घोषणा ही कर दी है 'अब मैं हिंदी भाषा के नाटको मे हिन्दी भाषा का ही प्रयोग प्रत्येक पात्र के कथोपकथन मे करने लगा हू।अत इससे यही स्पष्ट होता है कि प्रेमी की परिवर्तित नाट्य-भाषा सम्बन्धी धारणा पर 'प्रसाद' का प्रभाव है। तुलना की दृष्टि से प्रसाद और प्रेमी की स्थिति का निर्धारण इस प्रकार हो सकता है—प्रेमी की अपेक्षा प्रसाद की भाषा मे सौदर्य और एकान्विति अधिक है। वह माधुर्य गुण के काव्यात्मक सौष्ठव मे प्रेमी की भाषा की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। उसमे सास्कृतिक गरिमा के साथ जीवन के विविध पक्ष मूर्त हो उठे हैं। प्रेमी की भाषा म प्रवाह है पर उसमे वह उदात्तता नही जो प्रसाद की भाषा मे है।प्रेमी की भाषा मे सामाजिक जीवन को चिन्तन प्रदान करने की क्षमता है। प्रसाद की भाषा म सुरुचि पूर्ण कलात्मक आकर्षण है और प्रेमी की भाषा रुचिकर है। उसमे रवानी है जो पाठकों को छू लेती है।

अब प्रश्न अभिनेयता का खडा होता है। 'प्रेमी' के नाटक प्रसाद की तुलना मे अधिक अभिनेयता के गुणो से सयुक्त हैं। इसका कारण भी स्पष्ट ही है। 'प्रेमी' ने रगमच को ध्यान में रख कर नाट्य सृष्टि की है। वैसे हिन्दी मे रगमच का अभाव तो है ही। जो हैं उनकी अपनी सीमायें भी हैं। प्रेमी के नाटक इन सीमाओं मे समा जाते है, परिणामत.उनका अभिनय सरलता पूर्वक हो सकता है। परन्तु प्रसाद के नाटक हिन्दी रगमचीय सीमाओ से परे हैं, उनके लिए ऐसे रगमच की आवश्यकता है जिसका निर्माण उन नाटको को ध्यान मे रखकर किया जाय। शेक्सपियर के नाटको के अभिनय के लिए उनके अनुरूप रगमच की व्यवस्था हुई थी। महान कलाकार सीमाओ से परे होता है।



१ स्वप्न भग, 'प्रेमी', पृ० कुछ बातें

१३ उपसंहार

प्रसाद ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को वस्तु और शिल्प, दोनो दृष्टियो से ही समृद्ध और सम्पन्न किया है। भारतेन्दु के आविर्भाव से नाट्य-साहित्य मे विषय वस्तु का विकास तथा उसम विविधता का समावेश तो हो गया था, पर उसमे कलात्मक सौष्ठव और गाम्भीर्य का सर्वथा अभाव था। भारतेन्दु-युग सक्रान्ति का समय था। उन्होंने आधुनिक काल की आशा आकाक्षाओ को भली-भाति पहचाना, पर उनके सामने नाट्य-साहित्य का आरम्भ-काल होने के कारण एक सीमा थी। देश भक्ति और युग की नवीन चेतना से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने नाटको की रचना की। जीवन के विविध क्षेत्रो से नाटको की विषय वस्तु सगृहीत की। पौराणिक, ऐतिहासिक, और सामाजिक तीन प्रकार के नाटकों की रचना भारतेन्दु ने की। उनके नाटको मे परम्परागत शास्त्रीयता की छाप के साथ चरित्रो का विकास भी एकागी रह गया। यद्यपि भारतेन्दु ने एक द्रष्टा की भाति सामाजिक जीवन की कुरीतियो तथा जीर्ण-शीर्ण रूढियो पर अनेक प्रहसन और हास्य-व्यग द्वारा कठोर आघात किया। उन्होने हिन्दी नाट्य साहित्य को मौलिक दृष्टिकोण दिया। मौलिक दृष्टिकोण से हमारा अभिप्राय सामायिक जीवन की नीवन अनुभूतियो से है, जिनका हरिश्चन्द्र ने चित्रण किया। विशेषतया उन प्रवृत्तियो पर ही ध्यान केन्द्रित किया जो विकासोन्मुख थीं। भारतेन्दु के समय नवीन प्राचीन का जो सघर्ष चल रहा था, उसमे भारतेन्दु ने उत्थानमूलक नवीन मान्यताओ को अपनाया, साथ ही भारतीय सस्कृति की मूल-विचार धारा का कभी तिरस्कार नही किया और न वे अविचारित ढग से नवीन विचारणाओ को प्रश्रय दिया [1]।

भारतेन्दु का यह प्रदेय हिन्दी-नाट्य साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उस समय के ऐतिहासिक नाटको मे राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' 'महारानी पद्मावती' तथा 'मीराबाई' और राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर'

१ डा० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक, पृ० ३४

प्रसिद्ध रचनायें हैं। इन सब मे राजस्थान के राजपूतो की गौरव-गाथाओं का चित्रण है। संवाद, जो कथा-वस्तु के विकास के मुख्य साधन हैं, साधारण हैं। इनमे वस्तु-योजना और नाटकीय परिस्थितिया साधारण स्तर की रह गई हैं। ऐतिहासिक नाटको मे 'महाराणा प्रताप' बहुत प्रसिद्ध हुआ। इसकी वस्तु-योजना शिथिल है। चरित्र-चित्रण मे सभी पात्र उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। चरित्र-चित्रण वह श्रेष्ठ समझा जाता है जिसमे आत्म सघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक विश्लेषण के साथ हृदय मे उठने वाले भिन्न-भिन्न भावो के घात-प्रतिघात का चित्रण हो। भारतेन्दु काल के ऐतिहासिक नाटको म पात्र एक विशेष-वर्ग से चुने गए हैं, और नाट्य-रचना के आरम्भ काल मे आधुनिक चरित्र-चित्रण की विशिष्ट कला की आशा उचित नही है।

भाषा की दृष्टि से भी ये नाटक सामान्य-स्तर के ही कहे जायेंगे। विभिन्न वर्ग के पात्र भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है। मुसलमान पात्र प्रवाह युक्त उर्दू बोलते है जो सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य नही है। हिन्दू पात्रो के सम्वाद की भाषा कही साहित्यिक हिन्दी है तो कही बोल-चाल की सामान्य भाषा का प्रयोग किया गया है। इन त्रुटियो के बावजूद भी ऐतिहासिक नाटकों मे 'महाराणा प्रताप' का विशेष महत्व है।

ऐतिहासिक नाटको को वस्तु सम्बन्धी गरिमा प्रसाद की देन है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो के कारण प्रसाद के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे भारत के अतीत इतिहास को अपने नाटको का विषय बनायें। उन्होने इतिहास का वह काल लिया, जो सास्कृतिक और भौतिक दृष्टि से भारत का समृद्धि काल माना जाता है। प्रसाद ने गहन अध्ययन तथा पुरातत्व के आधार पर नवीन ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। महाभारत काल से आरम्भ कर हर्षवर्धन के राज्य-काल तक उनके ऐतिहासिक नाटको का क्षेत्र है। प्राचीन इतिहास को युग के परिप्रेक्ष्य मे नवीन सामग्री के साथ प्रस्तुत कर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटको को गम्भीरता प्रदान की है। विषय-वस्तु की जो गहराई और व्यापकता प्रसाद के नाटको मे प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इतिहास की सामग्री की कल्पना के योग से नाटको मे प्रस्तुत कर उन्हे अपूर्व आध्यात्मिक गरिमा प्रदान की है। इतिहास के भिन्न भिन्न कालो से उन्होने अपने नाटकों की विषय-वस्तु सगृहीत की है। मौर्य-काल से आरम्भ कर हर्षवर्धन तक की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियो का चित्रण किया है। तत्कालीन परिस्थितियो का वर्तमान के परिवेश मे सफलतापूर्वक चित्रण प्रसाद जैसे नाटककार के लिए ही सम्भव है। प्रसाद ने केवल एक पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ' लिखा है। 'महाभारत' मे यत्र तत्र बिखरे हुए कथा-भागो को लेकर इस नाटक की रचना उन्होने की है। नाटक के घटना और पात्रबहुल होते हुए भी जातीय स्वाभिमान और जातीय प्रेम का बडा ही व्यापक चित्रण इस नाटक मे प्रस्तुत हुआ है। दो जातियो का सघर्ष नाटक के सीमित-क्षेत्र में प्रस्तुत करना

कठिन है, पर प्रसाद ने इसे बडी सजीवता के साथ चित्रित किया है। विषय वस्तु की दृष्टि से पूर्व नाटककारो की अपेक्षा 'जनमेजय का नागयज्ञ' म दो जातियो के संघर्ष तथा उसके समाधान का ओजस्वी चित्रण हुआ है।

ऐतिहासिक नाटको म प्रसाद के दोनो वर्गों की कथा-वस्तु अनुसन्धान पूर्ण तथ्यो से युक्त है। राज्यश्री, विशाख तथा ध्रुवस्वामिनी मे यद्यपि जीवन के विविध पक्षो का उद्घाटन उनके बडे नाटको के समान नही हो पाया है, फिर भी प्राचीन भारत का सास्कृतिक गौरव, शौर्य और अपरिग्रह का सजीव रूप 'राज्यश्री' मे उपलब्ध होता है। 'विशाख' की कथा-वस्तु अत्यन्त सरल है। प्राचीन वातावरण मे प्रणय-कथा को आधार मानकर युग की समस्याओ का चित्रण बड़ी विशदता से हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' की कथा-वस्तु पूर्णत ऐतिहासिक है, साथ ही नारी की समस्या का ज्वलन्त प्रश्न और उसका समाधान नाटककार ने पूरे कौशल के साथ किया है।

बडे नाटको म 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' की कथा वस्तु देश और काल की विस्तृत भूमिका पर आधारित है। 'अजात शत्रु' का कथानक जटिल तथा तीन-तीन राज्यो से सम्बद्ध होते हुए भी अन्त मे सब घटनाओ का समाहार है। सब नाटककारो के लिए यह सम्भव नहीं है। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' की वस्तु ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से तथा व्यापकता को ध्यान मे रखकर विचार करने से नाट्य साहित्य के लिए महत्वपूर्ण है। वस्तु विषय की जो गम्भीरता तथा घटनाओ की प्रामाणिकता प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको म उपलब्ध होती है, वह हिन्दी नाट्य साहित्य मे आज तक किसी अन्य नाटक म प्राप्त नही होती है।

प्रसाद ने विषय-वस्तु को गम्भीरता प्रदान की है। पुराण-इतिहास और पुरातत्व के अध्ययन से उसे नवीन वस्तु से सुशोभित किया है। प्रसाद के नाटको का वस्तु-संगठन नाट्य शास्त्र के अनुसार सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी नाटकों के अन्य पक्ष प्रसाद की विशिष्टता के परिचायक हैं। दर्शन, संस्कृति, मानव तथा मानवतावाद का जितना विस्तृत और हृदयग्राही रूप प्रसाद के नाटको मे उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रसाद ने इतिहास और दर्शन को मिश्रित कर अपने नाटको का कथानक निर्मित किया है। उन्होंने इतिहास को मानव के आचार विचार, संस्कृति और अन्तर्वृत्तियो से समन्वित कर देखा है। इस विषय म ये पंक्तियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"वे इतिहास को मानव निर्मित संस्थाओ, उनके सामूहिक उद्योगो, मनोवृत्तियो और रहन-सहन की पद्धतियो के साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यों की इन सारी प्रवृत्तियो का केन्द्र सम सामयिक दर्शन को मानते हैं। इस प्रकार मानव जीवन की अन्त प्रेरणा दर्शन को और बहिर्विकास इतिहास को मानकर वे इन दोनो का

घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर देते है। कोरी भौतिक-घटनाओ का इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिए कोई महत्व नही रखते।'[1]

प्रसाद के प्रत्येक नाटक की भौतिक और बाह्य घटनाएँ दार्शनिक चिन्तन से समन्वित हैं। बौद्ध दर्शन और शैवागम को उन्होने विभिन्न घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। 'राज्यश्री' का अन्तिम दृश्य, जिसमे सुएनच्वाग, हर्ष और राज्यश्री के त्याग और लोकमगल की भावना से अभिभूत होकर भारत को अमिताभ की जन्मभूमि स्वीकार करता है, इसका साक्षी है। राज्यश्री, हर्ष से लोक कल्याण के लिए राज्य शासन स्वीकार करने के लिए निवेदन करती है। 'विशाख' का प्रेमानन्द भी ससार की नश्वरता को सामने रखकर सत्य और अहिंसा को अपनाने के लिए उपदेश देता है। प्रसाद ने प्रत्येक नाटक मे दार्शनिक पात्रो की उपस्थिति से ऐतिहासिक घटनाओ को केवल भौतिकता तक ही सीमित नही रखा है। बडे अथवा छोटे किसी नाटक को लें—कोई न कोई दार्शनिक-पात्र ससार के सघर्ष और कोलाहल म शान्ति और समता की किरणें बिखेरते अवश्य मिल जाता है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' जिसमे कृष्ण ताडवद ह और अत्याचारियो के विनाश के लिए प्रोत्साहन देते हैं, उसके मूल मे भी सृष्टि के वैषम्य को दूरकर समता स्थापित करने की ही भावना कार्य करती है। व्यास की उपस्थिति से नाटक का अन्त हर्ष और प्रसन्नता मे होता है। ('चन्द्रगुप्त' जिसमे पात्रो के चरित्र म एक रमता है, वहा भी 'दाड्यायन' जैसे चरित्र भूमा के सुख के सामुख ससार के सभी सुख और शासन को तुच्छ समझते हैं) किसी बलवान का क्रीडा कन्दुक होना उनके लिए असम्भव है। चाणक्य जैसा पात्र, जिसकी दृष्टि सदा लक्ष्य पर ही केन्द्रित रहती है, किसी प्रकार का साधन अपनाने मे जिसे तनिक सकोच नहीं होता तथा राजनीति के साथ जो खेलवाड करता है, वह भी अन्त मे निष्काम होकर अपने अन्त निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि करता है। स्कन्दगुप्त के चरित्र मे वैराग्य और सासारिक नश्वरता का योग प्रसाद की निजी कल्पना है। वह दार्शनिक है साथ ही शूर और पराक्रमी है। 'ध्रुवस्वामिनी' के द्वारा जहा नारी के पुर्नविवाह की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है, वहा भी मिहिरदेव जैसा दार्शनिक शकराज को सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। दार्शनिक पात्रो और विचारो द्वारा प्रसाद ने ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओ की महत्ता को और अधिक बढा दिया है। इस दृष्टि से प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक नाट्य साहित्य की अनुपम निधि हैं।

चरित्र चित्रण के क्षेत्र मे प्रसाद का अद्वितीय स्थान है। विभिन्न प्रकार के पात्रो द्वारा जीवन और जगत के विविध पक्षो को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करने मे वे बेजोड हैं। चरित्र-चित्रण मे मनोवैज्ञानिक पक्ष का जितना पुष्ट और

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशकर प्रसाद, पृष्ठ १७८

विकसित रूप प्रसाद के नाटकों में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं। अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक स्थितियों के संघर्ष का बहुत ही प्रभावोत्पादक चित्रण प्रसाद के नाटकों में मिलता है। 'अजात शत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' में ऐसे पात्रों की बहुलता है, जो हृदय में उठने वाली विरोधी भावनाओं के घात-प्रतिघात से व्यथित और पीडित हैं। प्रसाद ने मानवीय और मानवतावादी पात्रों की सृष्टि की है। उनके मानवीय-चरित्र परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं तथा परिस्थितियों को भी प्रभावित करते हैं। उनके नाटकों के प्रमुख पात्र मानवीय-वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हर्ष, अजात शत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त सभी इतिहास प्रसिद्ध चरित्र हैं तथा मानवीय अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं। इन मानवीय पात्रों के साथ प्रसाद ने ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो परिस्थितियों से ऊपर तथा अपने विशिष्ट व्यक्तित्व से परिस्थितियों पर अपनी छाप छोड़ते हैं। इन चरित्रों के निर्माण में प्रसाद के चरित्र चित्रण की कला की विशेषतायें उस प्रकार स्पष्ट नहीं हुई हैं, जैसे उन्ह मानवीय चरित्रों की मानसिक स्थितियों के चढ़ाव उतार के चित्रण में सफलता मिली है। पुरुष-पात्रों में कठोर और कोमल, संकीर्ण तथा उदार, शूर तथा कायर, विलासी और संयमी तथा उदात्त महामानव और नीच तथा कलुषित वृत्तियों से युक्त पात्र प्राप्त होते हैं।

स्त्री पात्रों के चरित्र चित्रण में प्रसाद की कला का और भी निखरा हुआ रूप प्राप्त होता है। वासवी जैसे पति-परायणा स्नेह और वात्सल्य की प्रतिमा तथा छलना जैसे चरित्र हैं जो महत्वाकांक्षी तथा अविश्वास में अपना समय व्यतीत करते हैं। मल्लिका का चरित्र राग विराग तथा ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर मानवतावादी भूमिका पर चित्रित हुआ है। ध्रुवस्वामिनी, अलका और कल्याणी के चरित्र में स्वाभिमान की भावना का उत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। देवसेना, मालविका और कोमा के चरित्र-चित्रण में प्रसाद के कवि-व्यक्तित्व और कोमल-कल्पना की झांकी प्राप्त होती है। उनके विपरीत श्यामा और विजया के चरित्र के विकास में पूर्ण मानवी वृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। प्रसाद जी ने चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष को संवेदना की उस भूमि तक पहुंचा दिया है, जिससे पात्रों के प्रति सहानुभूति अनायास ही जाग उठती है। उनको किसी एक स्थिर धीरोदात्त आदि शास्त्रीय अथवा मानव-दानव मापदण्ड को लेकर नहीं परखा जा सकता है। जब तक उनकी बाह्य परिस्थितियों और मानसिक स्थितियों का सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण नहीं होता, तब तक उनके साथ न्याय नहीं हो सकेगा।

प्रसाद की चरित्र सृष्टि में स्त्री-पुरुष के विभिन्न-धर्म और स्वरूप प्राप्त होते हैं। सबका अपना व्यक्तित्व है। सभी अपने में पूर्ण और सप्राण हैं। चरित्र-चित्रण में प्रसाद की यह देन विशिष्ट स्थान रखती है।

प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य कला के समन्वय से प्रसाद के नाटकों की भास्वरता और बढ़ जाती है। भारतीय नाट्य-साहित्य का चरम लक्ष्य रस को

सिद्धि है। पाश्चात्य नाटकों में शील वैचित्र्य को प्रमुखता प्राप्त है। प्रसाद की नाट्य-सृष्टि में ये दोनों तत्व उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक नाटक का पर्यवसान सुख और आनन्द में होता है। भारतीय नाट्य-परम्परा के प्रति अनुराग के कारण ही उन्होंने दुखान्त नाटक नहीं लिखे—'प्रसाद जी के नाटकों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे दुखान्त घटना को अपने नाटकों में स्थान नहीं देते। इसका कारण यह है कि भारतीय नाट्य-परम्परा को वे तोड़ नहीं सके।'[1]

इस प्रकार का सामञ्जस्य प्रसाद की स्वच्छन्द नाट्य कला का परिचायक है। उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे किसी एक विशिष्ट मार्ग का अनुकरण करें। प्रसाद के नाटकों में भारतीय संस्कृति के प्रति गहन आस्था और विश्वास का भाव भिन्न-भिन्न स्थलों पर व्यक्त हुआ है। उन्होंने उपनिषदों और आगम साहित्य के अध्ययन से प्राचीन संस्कृति के जीवन्त तत्वों को अपने नाटकों में स्थान दिया है। सांस्कृतिक चित्रण और रूपक को उन्होंने समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। सांस्कृतिक तत्वों और भावों का सम्बन्ध वर्गविशेष के जीवन के प्रति दृष्टिकोण से रहता है, वह मानव के बाह्य-सम्बन्धों पर आधारित न होकर अन्तर पर आधारित रहता है। 'उन्होंने संस्कृति को विभिन्न मानवीय अर्जन का समन्वय माना, जो कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित मानव श्रम का नवनीत है। उनका कथन था कि भारतीय जीवन का आशावादी रूप समन्वय की भित्ति पर आधारित होकर ही इतना उन्नत हो सका है।'[2] भारतीय संस्कृति का रूप उनके नाटकों में उपलब्ध होता है। चरित्र, कार्य और संवाद के माध्यम से संस्कृति के विविध-पक्षों को प्रसाद ने अपने नाटकों में स्थान दिया है। जहां उन्होंने संस्कृति के उदात्त पक्ष को गौतम, मल्लिका, दाण्ड्यायन और वेद व्यास के द्वारा प्रस्तुत किया है, वहीं उन्होंने हर्ष, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और चाणक्य द्वारा संस्कृति के उस राजनीतिक स्वरूप को प्रस्तुत किया है, जिसमें राष्ट्र और जाति की स्वाधीनता और मर्यादा की रक्षा होती है। राष्ट्रीय-संस्कृति का यह रूप 'चन्द्रगुप्त' में बहुत समुन्नत रूप में प्राप्त होता है।

द्वन्द्वात्मक संघर्षों पर आधारित मानव संस्कृति का वह पक्ष भी जिसमें स्वार्थ है। सुख की कामना तथा भौतिक समृद्धियों के बाहुल्य में पूर्ण जीवन की अभिलाषा है, पूर्ण गरिमा के साथ इनके नाटकों में उपलब्ध होता है। ऐसे पुरुष और नारी दोनों वर्ग के चरित्र संस्कृति के इस रूप को प्रस्तुत करते हैं। 'राज्यश्री' से लेकर 'ध्रुवस्वामिनी' तक प्रत्येक नाटक में विरोधी चरित्रों की सृष्टि कर नाटककार ने यह उद्देश्य सिद्ध किया है। उनके नाटकों में कोरी ऐतिहासिकता नहीं है।

१ आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १५२
२. वही, पृष्ठ १७२

उनका सांस्कृतिक पक्ष बहुत प्रबल और पुष्ट है। उनमें वर्तमान और भविष्य की छाया वर्तमान है। कोरे ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह कार्य सम्भव नहीं था।'[1]

शैली और वस्तु दोनों में ही प्रसाद का कवि-व्यक्तित्व सर्वत्र मुखर हो उठा है। काव्यात्मकता उनके नाटकों को भावना और संवेगों से विभूषित करती है। वह पाठकों को अनुभूतिमय बना देती है। काव्यत्व का प्रवाह कहीं-कहीं कथानक से विच्छिन्न होकर बह उठता है। पात्रों द्वारा प्रयुक्त संवादों का कवित्व भावुक पाठक अथवा श्रोता को रस धारा में इस प्रकार लीन कर देता है कि उसका मूल कथा वस्तु से विच्छिन्न होना वह भूल जाता है। मातृगुप्त, देवसेना और सुवासिनी द्वारा प्रयुक्त गद्य-गीत के सुन्दर उदाहरण हैं। किसी कथन को सीधी सरल भाषा तथा बिना चमत्कार उत्पन्न किए कहना प्रसाद को पसन्द नहीं है। उनकी भाषा काव्यात्मक है।

कवित्व के आग्रह के कारण ही प्रसाद के नाटकों में गीतों की अधिकता हो गई है। संस्कृत साहित्य में नाटक भावपूर्ण तथा कवित्वमय होते थे। प्रगीतों का योग प्रभाव वृद्धि में सहायक होता था। प्रसाद नाटकों में काव्यत्व की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के अधिक समीप जान पड़ते हैं। इनके नाटकों के गीत समय और परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण पाठकों और श्रोता के भावों और संवेगों को जागृत करने में बहुत सहायक होते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में वसन्तोत्सव के अवसर पर सुवासिनी का गीत समयोचित है। अलका का उद्बोधन गीत भी अवसर के अनुकूल है। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना के कुछ गीत मानो काव्य के सुन्दर दृष्टान्त हैं। उसके अन्तिम गीत 'आह वेदना मिली विदाई' में मानो देवसेना की समस्त विरह व्यथा साकार हो उठी है। गीतों की अधिकता के कारण वस्तु संघटन में कहीं शिथिलता भी आ गई है। वस्तु विन्यास के विषय में यह मत कि 'भारतीय नाटक नाट्य-व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष में उतने न थे, वे नाटक में रमना जानते थे, घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।'[2] प्रसाद के विषय में उचित जान पड़ता है।

✓ प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय-संस्कृति तथा एक राष्ट्रीयता का सन्देश अनेक स्थानों पर दिया है। इस एक राष्ट्रीयता की चरम परिणति 'चन्द्रगुप्त' नाटक में हुई है। चाणक्य के द्वारा नाटककार ने देश की विच्छृंखलित शक्तियों को एकता के सूत्र में बांधकर आर्यावर्त्त को यवनों से मुक्त करने का प्रयत्न आद्योपान्त हुआ है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' में भी जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए सब कुछ बलिदान करने का सन्देश दिया गया है। 'स्कन्दगुप्त' में बन्धुवर्मा, और पर्णदत्त जैसे राष्ट्र-भक्त देश भक्ति का संदेश देते हैं। चाणक्य के प्रान्तीय और

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी . जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ, १७२
२. वही, पृष्ठ १४८

संकीर्ण स्वार्थो को त्यागकर समस्त राष्ट्र की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रेरणा देता है। सामाजिक राष्ट्रीय, वैचारिक तथा काव्यात्मक भूमिकाओं पर प्रसाद का नाट्य साहित्य आधारित है। नाट्य साहित्य में जीवन के अन्तर और बाह्य पक्षों के घात-प्रतिघात का इतना व्यापक चित्र पर अन्य नाटककारों में प्राप्त होना दुर्लभ है। नाट्य साहित्य को वस्तु और शिल्प की दृष्टि से यह देन ऐतिहासिक महत्व रखती है। नाट्य साहित्य की सीमाओं की बहुत दूर तक रक्षा करते हुए प्रसाद ने जो उसे वस्तु और शिल्प में समृद्धि दी है, वह प्रकाश स्तम्भ की भाँति भविष्य में नाटककारों के लिए प्रेरणा का स्रोत तथा उनका पथ-प्रदर्शक होगा।

प्रसाद के नाटक और अभिनेयता

प्रसाद के नाटकों पर अनभिनेयता का आक्षेप किया जाता है। पर प्रश्न यह है कि क्या नाटकों के लिए अभिनेयता अनिवार्य है? यदि यह कुछ समय के लिए स्वीकार कर लिया जाय कि अभिनेयता के बिना किसी श्रेष्ठ नाटक की रचना नहीं हो सकती तो इसके साथ ही एक दूसरा-प्रश्न सामने आता है कि रंगमंच और नाटकों में किसको प्रमुखता दी जाए? अर्थात् रंगमंच के यथाविधियों पूर्व स्थिर नियमों के अनुकूल नाटकों की रचना होनी चाहिए अथवा नाटकों को ध्यान में रखकर उनके अनुकूल रंगमंच का निर्माण होना चाहिए। दूसरे प्रश्न का उत्तर तो 'प्रसाद' ने स्वयं इन शब्दों में दे दिया है—रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाए। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है। हां, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिन्दी-रंगमंच का उत्थान सम्भव है।[1]

प्रसाद का यह मत सर्वथा उचित और तर्क संगत जान पड़ता है क्योंकि जीवन के विकास के साथ कला भी विकासशील है। उसे स्थिर तथा बहुत प्राचीन काल में निर्धारित नियमों की शृंखला में जकड़कर देखना अनुचित है। रूढ़िबद्ध [illegible] का विकासशील जीवन की भावनाओं और विचारों से सामंजस्य स्थापित होना कठिन है। हिन्दी का जब अभी तक अपना कोई रंगमंच नहीं है, तो उसे नाटक, जो काव्य का अंग है तथा रस सिद्धि का प्रमुख उपजीव्य है, की आवश्यकता के अनुसार उसका निर्माण होना चाहिये। इस मान्यता का समर्थन प्रसाद के ही शब्दों में इस प्रकार प्राप्त होता है—युग के पीछे हम चलने का स्वांग भरते हैं, हिन्दी में नाटकों का यथार्थवाद अभिनीत देखना चाहते हैं, और यह नहीं देखते कि पश्चिम में

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ११०, चतुर्थ संस्करण।

अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक् चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए टनों मेक-अप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की खोज में इब्सनिज्म का भूत वास्तविक भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम ने नाट्य-कला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसे किया जा सकता है, यदि हम पश्चिम के आज को ही सब जगह खोजते रहेंगे।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने आज के वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से नाटकों के योग्य रंगमंच के निर्माण पर बल दिया है। ऐसी स्थिति में प्रसाद के तीनों बड़े नाटक सुरुचि सम्पन्न प्रेक्षकों के सामने मंच पर प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

यहां एक और प्रश्न इससे जुड़ा हुआ उपस्थित होता है, वह यह कि नाटक विशेष को यदि रंगमंच पर प्रस्तुत न किया जा सके तो नाट्य-साहित्य में उसकी कौन-सी स्थिति रहेगी? नाट्य, रस के उन्मेष का सर्वाधिकप्रमुख साधन है। यही कारण है कि भरत-नाट्य-शास्त्र में उसे नाट्य रस की संज्ञा प्राप्त है। नाट्य-रस के साधन स्वरूप विभाव तथा संचारी भाव का अभिनय प्रस्तुत कर उनका दर्शकों के हृदय में साक्षात् अनुभव कराता है। श्रव्य-काव्य को भी जब यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, तभी काव्य में रस का आस्वादन उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष साक्षात्कार काव्य में कवि की अलौकिक वर्णन-शक्ति द्वारा प्राप्त होता है। इस विषय में भट्टतौत का सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है—'काव्ये पि नाट्यायमान एवरस। का'यार्थविषयेहि प्रत्यक्षकल्प संवेदनोदयेरसोदय इत्युपाध्यायाः'[2] काव्य भी जब प्रयोग की स्थिति पर पहुँचता है, तभी उसमें रस की सिद्धि होती है। भट्टतौत के अनुसार कवि प्रौढोक्ति के द्वारा अर्थात् प्रकृति के मनोरम वर्णन द्वारा श्रव्य काव्य में भी दृश्य की योग्यता उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से नाट्य-साहित्य यदि काव्य-गुण से युक्त है तो उसके लिए अभिनेय होना अनिवार्य नहीं है।

संस्कृत साहित्य में कवि और नट दोनों में कौन प्रमुख है? इसपर विचार करते हुये भोजराज ने अभिनेता की अपेक्षा कवि की तथा अभिनय की अपेक्षा काव्य रूपक को अधिक सम्मान दिया है—

अतोऽभिनेतृभ्य कवीनेव बहू मन्यामहे, अभिनेयभ्यश्च काव्यमिनि।[3] इससे हमारा अभिप्राय केवल यही है कि नाटक यदि काव्य की गरिमा से विभूषित है, तथा

---

१. काव्य और कला तथा निबन्ध, पृष्ठ १०७।
२. अभिनव भारती, पृष्ठ २९१।
३. डा० राघव भोज का श्रृंगार प्रकाश, प्रथम खण्ड, पृ० ८८।

उसके सरस तथा भावपूर्ण स्थलों से पाठक को रस आस्वादन होता है, तो उसके लिए अभिनेयता अनिवार्य नही है। संस्कृत का चम्पू साहित्य श्रव्य नाट्य का उदाहरण है।

अरिस्टाटल के अनुसार भी दुखान्त की प्रभावोत्पादकता अनभिनेय होने पर भी अक्षुण्ण रहती है। उसने यह भी स्वीकार किया है कि अभिनय, वेष-भूषा और साज सज्जा का नाटक के औदात्य से कोई सम्बन्ध नही है। उसके अनुसार महान नाटक को यदि मंच पर अभिनीत न भी किया जाय तो श्रवण मात्र से ही भय और करुणा की सृष्टि होगी। इसमे आंखो की सहायता अर्थात् प्रेरणा के बिना भी दुखान्त की प्रभावोत्पादकता बनी रहेगी। लेसिंग के अनुसार महान नाटकीय कृतियो तथा अभिनेयता मे कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है—

लैंब इस मत का समर्थन और स्पष्टता के साथ करता है। उसकी धारणा है कि महान कृतियां बहुत कम रंगमंच पर प्रस्तुत की जा सकती हैं, इनकी अपेक्षा साधारण कृतियो का अभिनय अधिक सफलता से हो सकता है।

निकोल भी इस मत का समर्थन करता है कि अपवाद स्वरूप ऐसी नाटकीय कृतियां हैं जिनका रंगमंच पर प्रस्तुत करना कष्ट साध्य है, फिर भी उनकी गरिमा मे कमी नही आती है। 'हैमलेट' और 'मैन एण्ड सुपरमैन' के अभिनय मे पांच या छः घंटे लगेंगे। इनको रंगमंच पर अभिनीत करने मे कठिनाई होती है। अभिनेताओ और प्रेक्षको की दृष्टि से व्यावहारिक कठिनाइयों का वर्णन उसने विस्तारपूर्वक किया है, पर इससे इनकी महत्ता पर कोई प्रभाव नही पड़ता।[1]

इन प्रमाणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि विषय-वस्तु की व्यापकता और काव्यात्मक संवेदनशीलता से ही कोई नाट्य कृति श्रेष्ठ समझी जानी चाहिए। इसके साथ ही यदि वह रंगमंच पर प्रस्तुत भी की जा सके तो उसकी गरिमा और बढ़ जायेगी। प्रसाद के नाटक इस दृष्टि से ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। उनके नाटक भारतीय नाट्य-साहित्य की अमर-निधि हैं। इतिहास, संस्कृति और काव्य का सम्मिलित योग उनके नाट्य साहित्य को अभूतपूर्व गौरव प्रदान करता है। यह मत कि—'अतीत के विशाल चित्र पटल पर उनका यह अद्वितीय तूलिका श्रम हिन्दी-नाट्य इतिहास के पचास वर्षों के लम्बे मार्ग पर एक आलोक स्तम्भ की भांति एक छत्र अधिकार किये बैठा है। वह सदैव आज की ही भांति नये पथिकों को लक्ष्य-ज्ञान का पाथेय देता रहेगा, सर्वथा उचित और युक्ति संगत है।

प्रसाद के तीन बड़े नाटको 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' के विषय मे ही यह प्रश्न उठता है कि ये अभिनेय हैं अथवा अनभिनेय। इनमे 'स्कन्द-

---

१. निकोल—थ्योरी आफ ड्रामा पृ० ३२।

गुप्त' का अभिनेय तो काशी में साहित्य सम्मेलन के अवसर पर सफलतापूर्वक हो चुका है। 'अजात शत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में 'चन्द्रगुप्त' बड़ा नाटक अवश्य है। पर यदि ऐतिहासिक भूमिका पर बड़े नाटकों के अभिनय का विचार किया जाए—तो संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य में ऐसे नाटक उपलब्ध होते हैं जिनके अभिनय में पाच अथवा छ घन्टे का समय लग जाता है। संस्कृत साहित्य में तो नाटक में पांच से दस अंक तक का विधान किया गया है। भरत मुनि के अनुसार तो नाटक में सब कुछ उपलब्ध होना चाहिए। वे कहते हैं कि—

'नतज्ज्ञान, नतच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
न तत्कर्म न वा योगो नाटके यन्न दृश्यते।'

इसका अभिप्राय यह है कि नाटक में जीवन के अन्तर और वाह्य के घात-प्रतिघात से जो भी वैचारिक अथवा व्यावहारिक अवस्थायें हैं, जिनसे रस की अनुभूति के साथ ज्ञान, विज्ञान और कला की भी उपलब्धि हो, सभी नाटक में समावेश होना चाहिए। 'प्रसाद' के बड़े नाटकों में उपर्युक्त लक्षण पूर्णतया सघटित होता है। इसके अतिरिक्त काव्यत्व के समावेश से उनमें ऐसे स्थलों का आधिक्य है, जिनके पठन मात्र से ही नाट्य के समान पाठकों के हृदय में अतिशय आनन्द की उपलब्धि के कारण उनमे तल्लीनता की स्थिति आ जाती है। रंगमंच पर प्रदर्शन का अभाव पूरा हो जाता है। साहित्यिक नाटक कल्पना के द्वारा अधिक अभिनेय है। उनमें मंच सम्बन्धी नाटकों के समान सामाजिकों के सम्मुख प्रत्यक्ष गोचरता का अभाव रहता है। पर ऐसे पाठ्य नाटकों में भी अभिनेयता किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है, जिसकी अनुभूति सजग और साहित्यिक पाठकों को होती है। यदि नाटक में गाम्भीर्य और जीवन के उदात्त तत्वों का समावेश है, तो उसकी अनुभूतिजन्य गोचरता केवल विशिष्ट वर्ग के पाठकों को होगी। इस प्रकार यदि नाटक केवल पाठ्य हैं तो भी उनकी महिमा साहित्य में स्वीकृत होगी।

नाटक में अभिनेयता और गाम्भीर्य दोनों हो यदि वर्तमान है, तो नाटक की महत्ता और भी बढ़ जायेगी। गंभीर और अभिनेय नाटक कला की दृष्टि से श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इस विषय में आचार्य वाजपेयी जी का मत बहुत उपयोगी और महत्वपूर्ण है—'मानव चरित्र को शक्ति और गति देने में, सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में—जीवन का निर्माण करने में—जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकता है, उतना दूसरी कोई कलाकृति नहीं। नाट्य-कला समृद्धिशाली देशों की प्रतिनिधि और सर्वोच्च कला रही है।'[1]

अभिनेय नाटक सामाजिकता की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होती हैं। किन्तु सामाजिक भूमि की विभिन्नता के कारण एक प्रकार विशेष सबके लिए

१. आलोचना, नाटक विशेषांक, सम्पादकीय पृ० ४।

उपादेय सिद्ध होगा—इसमें सन्देह है। यथार्थ जीवन में दिन प्रतिदिन घटनेवाली सामान्य घटनाएं यदि अभिनेय नाटकों द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं तो उनसे सामाजिकों की रुचि और भावनाओं का परिष्कार असम्भव है। यथार्थ जीवन के प्रति आग्रह नाट्य-कला के लिए ऐसा प्रतिबन्ध है जिससे इसके विकास में बाधा पड़ेगी और कुछ ही समय में यथार्थ के आग्रह के कारण नाट्य-कला में नीरसता के कारण इसके प्रति सामाजिकों में अरुचि स्वरूप प्रतिक्रिया आरम्भ हो जायेगी। किसी वाद विशेष के प्रति आग्रह का यह परिणाम सर्वथा स्वाभाविक है। इसके प्रमाण अन्य देशों में भी उपलब्ध होते हैं। 'यूरोप में इस यथार्थवादी नाट्य परम्परा के अनेक रूप-रूपान्तर हुये। किसी ने बौद्धिक और वैचारिक तत्वों को प्रधानता दी, किसी ने प्रतीकों की योजना द्वारा उनके आशय का विस्तार किया तथा कुछ अन्यों ने मनोविज्ञान और अन्तर्चेतना की भूमिका में ले जाकर उसे सक्रिय किया। 'बर्नार्डशा' जैसे श्रेष्ठ बुद्धिवादी की नाट्य कृतियां भी यथार्थ प्रतिबन्धों के कारण उतनी लोकप्रिय नहीं हुई जितनी वे अन्यथा हो सकती थीं। यूरोप में इस यथार्थवादी नाट्य-पद्धति की प्रतिक्रिया होने लगी है और पद्य नाटकों, गीत नाट्यों अथवा गीति रूपकों की ओर झुकाव बढ़ रहा है।'[१]

भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-साहित्य की श्रेष्ठ प्राचीन कृतियां भावात्मक और आलंकारिक हैं। कालिदास और शेक्सपियर की रचनायें भावना और कल्पना की प्रमुखता के कारण नाट्य साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। इनके नाटकों को प्रतिनिधि रचनायें स्वीकार कर 'प्रसाद' के नाटकों पर विचार करना युक्तिसंगत होगा। प्रसाद के नाटक यथार्थ की भूमिका पर आधारित नहीं हैं। उनमें अतीत जीवन को वर्तमान की पीठिका पर चित्रित कर उन्होंने उसे संस्कृति के योग से विभूषित किया है। दर्शन और संस्कृति को काव्यात्मक संवादों द्वारा विभिन्न चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत कर उन्होंने नाट्य-वस्तु में गाम्भीर्य और सरस कविता का सम्मिश्रण किया है।

प्रसाद के नाटक राष्ट्रीय रंगमंच पर, जिसकी ऐतिहासिक आवश्यकता है, शेक्सपियर के 'हैमलेट' तथा बर्नार्डशा के 'बैक टु मेथुसेला' के समान वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण यदि इसका अभिनय सम्भव न हो सका तो भी उनकी महत्ता अक्षुण्ण बनी रहेगी। प्रसाद के नाटकों के विषय में निम्नलिखित मत बहुत उपयुक्त है—

वर्तमान अधिकांश हिन्दी में साहित्यिक नाटक अनभिनेय हैं, इस प्रश्न का समाधान आचार्य बाजपेयी के शब्दों में इस प्रकार है—'ऐसी स्थिति भी आ सकती

१: आलोचना, नाटक विशेषांक, सम्पादकीय पृ० ६।

है कि जब यह सोचा जाय कि उक्त नाटको मे कितने और कैसे परिवर्तन किए जाए, जिससे वे अभिनय के योग्य बन सकें। किसी भी नाट्य लेखक की कृतियो का अभिनय योग्य सस्करण प्रस्तुत करना कोई अपराध नही है, यदि वह अधिकारी व्यक्तियों द्वारा किया जाय। फिर सभी नाटको के लिए एक ही प्रकार के अभिनेता या एक ही प्रकार का रग कौशल समीचीन नहीं होता। प्रत्येक नाटककार, यदि वह अपने कार्य को बुद्धिपूर्वक कर रहा है, अपनी स्वतन्त्र विधि या पद्धति की सृष्टि भी करता है। वैसी स्थिति में उस विधि या पद्धति के अनुरूप अभिनेताओ का चयन और रगोपचार होना ही चाहिए। बिना यह किये केवल नाटककारो को दोष देना समस्या को टालने या उससे मुह मोडने से अधिक और कुछ नही है।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण म प्रस्तुत समाधान से प्रसाद के नाटको की अभिनेयता का प्रश्न और सरल हो जाता है।

, भारतीय नाट्य-इतिहास में प्रसाद की स्थिति Imp

जयशंकर प्रसाद जैसे मौलिक और प्रतिभाशाली नाटककार को किसी पूर्व प्रचलित नाट्य शैली का अनुवर्तनकर्ता मात्र नही कहा जा सकता, यद्यपि उन्होंने भारतीय नाट्य-शैली को प्रमुखता दी है परन्तु कई तत्व पश्चिम से लिए हैं और उनका एक सुन्दर सम्मजस्य उपस्थित किया है। भारतीय नाटक रस प्रधान रहे हैं। ऐसे कथानक का सम्प्रसारण जिसमे रसात्मक स्थितियो का बार-बार आगमन हो सके, भारतीय नाटको की सामान्य विशेषता रही है। रस-दृष्टि की प्रधानता के कारण नाटको के नायक प्राय उदात्त और आदर्श-वादी रहे है। उनके चरित्रो मे वैयक्तिक विशेषताए और भावात्मक द्वन्द्व प्रदर्शित करने की विशेष अभिरुचि नहीं रही है क्योकि रसात्मकता के लिये इनकी आवश्यकता प्रतीत नही हुई। आधुनिक नाटक चरित्र प्रधान होते हैं। प्रसाद के नाटक चरित्र प्रधान हैं। इन चरित्र प्रधान नाटको मे परिस्थितियो की योजना मे अधिकतर अन्तर्द्वन्द्व के अवसर प्रसाद के नाटकों म अनेकश आये हैं। द्वन्द्वात्मक चरित्र सृष्टि प्रसाद की विशेषता है, जबकि प्राचीन भारतीय नाटक मे द्वन्द्वात्मकता का यह स्वरूप विकसित नही हुआ है।

प्रसाद ने दुखान्त नाटको की सृष्टि नही की। इसके कारण पर भिन्न भिन्न समीक्षको ने दृष्टिपात किया है। अधिकाश समीक्षक इसे प्रसाद की भारतीय नाट्य शैली का अनुसरण बताते हैं। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रसाद के नाटको में सुखान्त और दुखान्त भूमिकाओ का एक-साथ योग भी हुआ है। उनके अनेक चरित्र दुखान्त नाटक की भूमिका पर ही प्रस्तुत किए गये हैं। इसीलिए प्रसाद के नाटको को कुछ समीक्षक प्रसादान्त भी कहते हैं। प्रसादान्त शब्द का एक अर्थ तो यह है कि प्रसाद की अपनी स्वतन्त्र शैली का नाट्यान्त जो न विशुद्ध सुखात्मक

1. आलोचना : नाटक विशेषांक, सम्पादकीय

थे और न दुखात्मक, वरन् पश्चिम मे विकसित होने वाली मिश्रित शैली के (सुखान्त-दुखान्त मिश्रित) नाटकों की परम्परा उपलब्ध होती है। प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य मे ऐसी शैली का प्रवर्तन करते हैं। प्रसादान्त का दूसरा अर्थ उस प्रसन्नता से है जो भावात्मक दृष्टि से न तो सुखमूलक है न तो दुखमूलक। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह इन दोनों के बीच की वस्तु है और दार्शनिक दृष्टि से उसे सुख-दुख की सीमा से ऊपर उठकर एक उदात्त भाव भूमिका का वातयन कहा जा सकता है। प्रसाद एक दार्शनिक कवि भी रहे हैं और उन्होंने सासारिक सुख दुख को चित्रित करते हुए भी एक उच्चतर भाव स्तर की योजना की है। वही योजना उनके नाटकों में भी परिलक्षित होती है—उसी को प्रसादान्त भी कहते हैं।

भारतीय नाट्य-साहित्य मे ऐतिहासिक नाटको का वह स्वरूप नही दिखाई देता जिसका गम्भीर आलेख प्रसाद के नाटको मे प्रस्तुत किया गया है। देश और काल की जितनी तथ्यपूर्ण और बहुमुखी झांकिया प्रसाद के नाटक मे दिखाई देती हैं उतनी अन्यत्र कही नही। प्रसाद इतिहास के शोधक और उसके विशेषज्ञ पडित थे। उन्होने अपनी सामर्थ्य का नाटकों मे सफल प्रयोग किया है। प्राचीन युग की दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियो का जैसा भास्वर उल्लेख प्रसाद के नाटकों मे उपलब्ध है, वैसा भारतीय नाटको मे अन्यत्र नहीं दिखाई देता। यह प्रसाद की एक ऐसी उपलब्धि है जो भारतीय नाटको को एक नई दिशा देने में समर्थ है। यद्यपि प्रसाद के समतुल्य ऐतिहासिक नाटककार आज भी हिन्दी मे नहीं आया, परन्तु ऐसी सम्भावनाए प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक दे गये हैं कि नाटक के इस स्वरूप का उत्तरोत्तर विकास और प्रसार हो सकता है।

प्रसाद के नाटक चरित्र प्रधान होते हुए भी काव्यात्मक गुणों से अनुरंजित हैं। नाटको के बीच-बीच मे भावात्मक चरित्र रेखायें तो उभरी ही हैं, प्रसाद की कल्पनाशीलता और काव्यात्मक भाषा-योजना उनके नाटको को एक नया ही चमत्कार देती है। अनेक नाटककार या तो प्रसाद की भावुकता को हो अपना सके हैं या उनकी काव्यात्मक भाषा का अनुकरण करने के लिए प्रयत्न करते रहे है, परन्तु सग्रथित रूप से प्रसाद के नाटकों की काव्यात्मक पद्धति कोई भी नाटककार समग्रतः मे नही अपना सका है। प्रसाद की यह विशेषता हिन्दी नाटककारों के लिए आकर्षण का एक अजस्त्र स्रोत है और उन नाट्यकारो की नाट्य-प्रतिभा के लिए एक स्थायी चुनौती भी। चरित्र-प्रधान नाटको मे काव्यात्मक शैली का इतना गहरा पुट हिन्दी नाटककारो मे उपलब्ध नही है, इसके लिए हमे शेक्सपियर जैसे पश्चिमी नाटककार का ही स्मरण करना पड़ता है।

शेक्सपियर से प्रसाद की नाट्य तुलना दो स्तरो पर की जा सकती है—एक तो प्रसाद की काव्यात्मक नाट्य-शैली के स्तर पर और दूसरे उनके चरित्रगत वैविध्य

की भूमि पर। जहा तक काव्यात्मक नाट्य शैली का सम्बन्ध है, प्रसाद गद्य के माध्यम से उस विशेषता को ला सके हैं जिसे शेक्सपियर अभिन्न छदों के आधार पर लाये हैं। यह प्रसाद की एक महान उपलब्धि है। चरित्र निर्माण की भूमि पर दोनो नाटककारो मे पर्याप्त अन्तर है। शेक्सपियर ने मानव-भूमिका का अधिक विस्तृत समाहार किया है, परिस्थितियो और मनोभूमियो के प्रदर्शन मे शेक्सपियर अप्रतिम हैं और प्रसाद उनकी तुलना मे सीमित कहे जा सकते हैं, परन्तु प्रसाद की चरित्र-सृष्टि मे इतिहास का और सास्कृतिक पक्ष का प्रशस्त योग। है जो कार्य शेक्सपियर ने सामान्य मानव भूमिका पर किया है, वही लक्ष्य ऐतिहासिक नाटको की भूमिका पर प्रसाद का है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि इतिहास का क्षेत्र अपनी सीमायें बना लेता है और उस सीमा के अन्तर्गत ही मानवीय चरित्र उपस्थित किए जा सकते हैं। शेक्सपियर के सम्मुख इस प्रकार की कोई सीमा नहीं थी, परन्तु प्रसाद ऐतिहासिक नाटक की सीमा मे बंधे हुए थे। आधुनिक बुद्धिवादी और समस्यामूलक तथा काव्य नाटक प्रसाद के नाटको से भिन्न शैलियों पर लिखे गये हैं, जबकि बुद्धिवादी नाटक वैचारिक पक्ष को मुख्य आधार बनाते हैं। आधुनिक काव्य-नाटक जीवन के अतरग और गहन अनुभवो को प्रतीकात्मक भूमिका देकर उपस्थित करते हैं। कहा जा सकता है कि प्रथम शैली मे बहिरग तथ्यो का अधिक योग है और द्वितीय शैली मे अन्तर्मुखता और अन्तर्मन प्रमुख है। प्रसाद के नाटक इन दोनो की मध्यवर्ती भूमिका पर रचे गये हैं, उनमे बाह्य और अन्तर तत्वो की समरस योजना है। प्रसाद जो न तो समस्यामूलक नाटककार हैं न तो प्रतीकमूलक नाट्य-स्रष्टा परन्तु उनके नाटको मे दोनो प्रकार के नाटको की आंशिक विशेषतायें दृष्टिगत होती है। इस दृष्टि से प्रसाद को आधुनिक विश्व-नाटक की भूमिका पर भी देखा जा सकता है। यह सही है कि प्रसाद के नाटकों में विशेषता का वह स्वरूप प्रतिफल नहीं हुआ है, जो किसी समस्या विशेष को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत किया जाता है। न उनमे आत्मिक द्वन्द्वो का वह निरूपण है जो आधुनिक काव्य-नाटको द्वारा अपनाया जा रहा है। परन्तु इन दोनो विशेषताओ के न रहते हुए भी प्रसाद के नाटको में बौद्धिकता और आत्मिक द्वन्द्वो की योजनायें हुई हैं और इस आधार पर आधुनिक विश्व नाटक के समावेश मे उनको रखा जा सकता है।

कतिपय समीक्षको ने प्रसाद को अभारतीय घोषित किया है और कतिपय अन्य समीक्षको ने उन्हें भारतीय नाट्य-परम्परा से इतना आक्रान्त बताया है कि जिसके कारण प्रसाद दु:खान्त नाटक की सृष्टि कर ही न सके। इन दोनों आरोपों मे जो अर्ध सत्य है, वह वास्तविक सत्य का परिचय करा देता है। अभारतीयता का आरोप करने वाले प्रसाद की चरित्र सृष्टि पर रोमेन्टिक होने का आरोप करते हैं और इस रोमेटिक चरित्र सृष्टि को पश्चिमी प्रभाव बतलाते हैं, यद्यपि वे इसे छिछला प्रभाव भी कहते हैं। इसी प्रकार प्रसाद के नाटकों मे भारतीय पद्धति का

अनुगमन मात्र देखनेवाले समीक्षक प्रसाद की चरित्र योजनाओ की नयी विशेषताओं को देखने और पहचानने मे असमर्थ हो गये हैं। वस्तुत, प्रसाद नवयुग के नाटककार है और नवीन युगीन सवेदनाओ से परिचित हैं। उनके नाटकों मे पश्चिमी प्रभाव देखने वाले समीक्षकों को नवयुग की भारतीय चेतना का सम्यक् बोध कम ही है। प्रसाद को भारतीय नाट्य-पद्धति का अनुकर्त्ता माननेवाले भी आधुनिक युग-चेतना से दूर का ही परिचय रखते हैं। वास्तव में प्रसाद के नाटक आधुनिक हैं। वे न तो भारतीय नाट्य परम्परा के अनुकर्त्ता मात्र हैं और न पश्चिमी नाट्य शैलियो के अनुसरणकर्त्ता हैं, वे एक सजग और सचेत आधुनिक कलाकार है। उनमे जो नाट्यलेखन की मौलिकतायें देखी जाती हैं, वे अनुसरण जन्य नही हैं। उनमे प्रसाद का अपना चिन्तन, अपने देश की परम्परा तथा आधुनिक युगबोध समाहित रूप से पाये जाते हैं। उनका आकलन और विवेचन इस त्रिवेणी पर ही हो सकता है।

◉